धर्मदर्शन में स्वामी करपात्री जी के योगदानों का आलोचनात्मक अध्ययन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिये प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

कु० सुचेता

निर्देशक

डा० राम लाल सिंह

प्रोफेसर दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

दर्शनशास्त्र विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

१९९२

पुरोवाक्

प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी विद्वान इस विषय से सहमत हैं कि ज्ञान, इच्छा, यत्न एवं प्रवृत्ति ये चारों पूर्व-पूर्व, उत्तर-उत्तर के प्रति कारण होते हैं। जैसे - सर्वप्रथम किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है। फिर वह वस्तु इष्ट है अथवा अनिष्ट है। इस विचार के बाद इष्ट होने पर उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है। इच्छा होने पर उसके अनुकूल यत्न तथा वस्तु की प्राप्ति में व्यक्ति प्रवृत्त होता है। जैसे वृक्ष से कुछ गिरा, आवाज सुनने पर इष्ट या अनिष्ट का ज्ञान किया। इष्ट आम्रफल इत्यादि होने पर उसको प्राप्त करने की इच्छा हुई फिर उसको प्राप्त करने के लिए कृति तथा धानमरूप व्यापार हुआ। इस तरह पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर कारण सिद्ध हुए। प्रस्तुत विषय को निबन्ध लेखन में मेरी जो प्रवृत्ति हुई, उस प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाली मुझमें जो कृति तथा कृति के प्रति जो इच्छा कारण है। जिस विषय की इच्छा होती है, उस विषय का इष्ट साधनत्व प्रकारक ज्ञान कारण है। किसी भी वस्तु की इच्छा हमें तब होती है जब हम यह समझते हैं कि यह वस्तु मेरे काम की है तथा इसे प्राप्त करने में कोई प्रबल विघ्न नहीं है अतः मैं यहां इष्ट साधनतः ज्ञान के कारणों को स्पष्ट करूंगी। उसी से प्रस्तुत निबन्ध के लेखन के कारण स्पष्ट हो जायेंगे।

शैशवावस्था को पार कर जब मैंने किशोरावस्था में प्रवेश किया तो अपने घर में अनेक कृत्य होते देखे। मैंने उसके विषय में जानना चाहा तो कुलवृद्धों तथा माता-मातामही प्रभृति ने बताया कि यह धार्मिक कृत्य हैं। मैंने उन कारणों की जिज्ञासा की, परन्तु संतोषजनक कोई उत्तर न पाकर जानने की इच्छा बलवती ही बनी रही।

फिर जैसे-जैसे मैं ज्ञान के क्षेत्र में अग्रसर होती गई, कक्षाओं में निर्धारित ग्रन्थों में चार वर्णों तथा चार आश्रमों की चर्चा मेरे सामने आती गई। अवस्था बढ़ने के साथ-साथ अनेक धर्मों के आचार्यों का दर्शन हुआ, उनके व्याख्यान सुनने को मिले। वे परस्पर एक-दूसरे का खण्डन तथा स्वसिद्धान्त को सर्वोपरि बताते हुए देखे गये। इन धार्मिक विवादों को लेकर समाज में बहुत सारे सम्प्रदाय एवं विवाद पैदा हुए। आज भी इसके प्रमाण देखे जा सकते हैं। मैं जिस परिवेश में पली, बढ़ी उससे सम्बन्धित रीति-रिवाज एवं धार्मिक क्रियाओं को जानने की बलवती इच्छा ने समयानुसार उद्भूत जिज्ञासाओं का समुचित उत्तर न पाकर अध्ययन समाप्ति के बाद इस विषय पर विस्तार से जानने तथा गवेषणापूर्ण निबन्ध प्रस्तुत करने के लिए

मुझे बाध्य किया। यह इष्ट साधनता का प्रथम कारण है।

कला स्नातकोत्तर में निर्धारित कुछ दर्शन ग्रन्थों तथा धर्म से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करने के बाद मेरी कुछ जिज्ञासाएं तो स्वतः समाहित हो गई परन्तु कुछ असमाधेय स्थिति में ही रहीं। उनको जानने के लिए मैंने कुछ आचार्यों के दर्शन किए, उनसे प्रश्न किए तथा उत्तर भी पाये। परन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थों की विपुलता तथा पदार्थों के बाहुल्य को देखकर एवं उनमें प्रतिपादित वैमत्यों खण्डनपरक सिद्धान्तों के कारणों को जानने की इच्छा इष्टसाधनता का द्वितीय कारण है।

इस धराधाम पर सभी मनुष्य किसी न किसी धर्म से जुड़े हैं। विशेषकर उन धर्मों के आचार्यों के द्वारा स्वमत का प्रतिपादन तथा परमत का खण्डन के कारणों को जानने की इच्छा तृतीय कारण है।

बहुधा ऐसा प्रसंग सुनने में आया करता है कि कोई विधर्मी वैदिक सिद्धान्तों पर कुठाराघात कर जब किसी धर्म गुरू को अपने प्रबल तर्कों से चुप कर देता है तो उस धर्म गुरू के शिष्य जो उसके समीप होते हैं अपने गुरू को अयोग्य मानकर उनमें अश्रद्धा कर बैठते हैं वह धार्मिक गुरू इस विपक्ष एवं विधर्म के तर्कों से इसलिए चुप हो जाता है कि अपने वेद मंत्रों के मूलतत्व को नहीं जान पाता है अतः धर्मप्रतिष्ठापक वेद धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों का मूल ध्येय क्या है? इसे प्रस्तुत कर सभा एवं धार्मिक मंचों एवं गोष्ठियों में धर्म व्यापार करने वाले गुरूओं की प्रतिष्ठा रक्षा के निमित्त धर्म के मूल तत्वों का अन्वेषण चतुर्थ कारण है।

प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाण आवश्यक हैं। धर्म के प्रमाण पृथक ग्रन्थों में प्रकीर्ण रूप से पड़े हुए हैं। उन सभी दुरूह विषयों का एकत्र व्याख्यान करने का साहस पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय स्वर्गीय श्री करपात्री जी महाराज ने किया है। उसे धर्माचार्य एवं धर्म में निष्ठा रखने वाला हिन्दू समाज आदर की दृष्टि से देखता है। श्री स्वामी जी का प्रयास मेरी जिज्ञासा से जुड़ा हुआ है। अतः उसका उचित या अनुचित विवेचन करना पांचवा कारण है। अतएव मैं सर्वप्रथम अपनी मातृसंस्था इलाहाबाद विश्वविद्यालय की ऋणी हूं जिसके द्वारा मुझे दर्शन की अनुसंधानकर्त्री के रूप में सम्मान दिया गया। मेरे अज्ञान तिमिर को पग-पग पर अपने ज्ञान से आलोकित करने वाले शोध-प्रबन्ध निर्देशक डा० राम लाल सिंह, प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने जिस सहृदयता पूर्वक विषय "धर्मदर्शन में स्वामी करपात्री जी के योगदानों का आलोचनात्मक अध्ययन" का निर्धारण करते हुए अपने स्नेहासिक्त चरणों में बैठकर दर्शन के मर्म

को समझने का अवसर प्रदान किया। वस्तुतः इस दुरूह विषय का ज्ञान प्राप्त करना कम से कम मुझ जैसी अल्पज्ञ के लिए सर्वथा असम्भव कार्य था किन्तु गुरूवर डा० सिंह ने अनेकानेक जटिलतम गुत्थियों को सुलझाकर मेरी शंकाओं का निवारण किया। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना उनकी शिष्य भावना का निरादर करना होगा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के निवर्तमान अध्यक्ष एवं प्रोफेसर डा० संगमलाल पाण्डेय ने जिस आत्मीयता के साथ मेरा मार्ग निर्देशन किया उसके लिए आभार की भाषा औपचारिक और छोटी पड़ जाती है।

इनके अतिरिक्त जिन विद्वानों की स्नेहमयी प्रेरणा ने प्रतिपल मेरा उत्साहवर्धन किया है उनमें इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के निवर्तमान अध्यक्ष एवं प्रोफेसर डा० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, श्री श्याम किशोर सेठ, प्रो० (डा०) देवकी नन्दन द्विवेदी अध्यक्ष दर्शन विभाग, डा० छोटे लाल त्रिपाठी, डा० आर०एस० भटनागर, डा० नरेन्द्र सिंह, डा० गौरी मुकर्जी, डा० जटाशंकर तिवारी तथा डा० हरिशंकर उपाध्याय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मैं इन सभी को हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

इनके साथ ही मैं उन विद्वानों का भी हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिनके सहयोग के बिना शोध कार्य सर्वथा असम्भव था परन्तु इन मनीषियों की महती कृपा तथा-यथा सम्भव प्रयास से असम्भव भी संभव हुआ। वे हैं - पं० पट्टाभिराम शास्त्री - 'पदम भूषण', विद्वद्वर श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारी, डा० राम संजीवन शुक्ल (भूतपूर्व सदस्य विश्व स्वास्थ्य संगठन), डा० सुनीता मिश्रा, लक्ष्मण किला अयोध्या, 'श्रीविद्या भास्कर', सीताराम शास्त्री 'कविराज', पं० दया शंकर पाण्डेय, आई०एफ०एस० तथा डा० श्रीराम जी मिश्र प्रसारण अधिकारी आकाशवाणी इलाहाबाद।

मेरे भविष्य के प्रति सदैव चिन्तित रहने वाले मेरे माता-पिता, तुल्य बुआजी एवं फूफाजी श्रीमती इन्दिरा शर्मा व श्री राजाराम शर्मा जी ने जिस आत्मीयता से मुझे अपना अमिट वात्सल्य प्रदान करे मेरे स्वर्गीय पिता के स्वप्न को साकार किया है, वह मेरे लिए अनुराग व पूजा की वस्तु है। वस्तुतः शोध प्रबन्ध उन्हीं के संकल्प, प्रेरणा, सान्निध्य एवं आशीर्वाद का प्रतिफल है, जिसके बिना न तो मेरे शैक्षणिक जीवन की पूर्णता ही सम्भव थी और न शोधकार्य करने की कल्पना ही। क्योंकि न केवल पारिवारिक जिम्मेदारियों से मुझे पूर्णतया विरत रखते हुए निरन्तर शोधकार्य पूर्ण करने की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देते

रहे अपितु आर्थिक दृष्टि से भी सम्पन्न बनाये रखकर दुनियावी समस्याओं से मुझे सदैव मुक्त रखा। अस्तु मैं उनके प्रति आभार प्रदर्शित कर धृष्टता करने का दु:साहस नहीं कर सकती।

पूज्यनीय अग्रज श्री राजीव कुमार पाण्डेय, भाभी श्रीमती शोभा पाण्डेय, भगिनी कु0 अलका पाण्डेय, श्रीमती अन्जू त्रिपाठी, जीजा जी डा0 वेद प्रकाश त्रिपाठी तथा अनुज राघवेन्द्र एवं संजीव एवं शचीन्द्र का भी शोध प्रबन्ध की पूर्णता हेतु प्राप्त स्नेह एवं सहयोग के बिना मेरे लिए यह कार्य असम्भव था। इन सभी के योगदान ने मेरे शोध-प्रबन्ध की पूर्णता में निश्चित सी महती भूमिका अदा की है जिसके लिए कृतज्ञता ज्ञापित करना उनके द्वारा प्रदत्त स्नेह एवं सोविध्य सहयोग की अवहेलना करना ही होगा।

मेरे कार्य को पूर्ण कराने में मेरी जिन सहयोगियों ने पूरा योगदान दिया है वे हैं - डा0 रीता सिंह, तबस्सुम नाज, हिमानी, विजय बिष्ट, डा0 अशोक पाण्डेय, मैं इन्हें हृदय से धन्यवाद देती हूँ।

इसके अतिरिक्त मैं उन लेखकों के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझती हूँ जिनकी कृतियों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मैंने सहयोग लिया।

इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता हेतु प्राप्त सुख-सोविध्य के पीछे मैं सदा ही अपनी देवी स्वरूप पूज्य मां का आशीर्वाद ही मानती हूँ जिसके लिए भाषा में न ही कोई आभार है और न ही किसी तरह का ज्ञापन अथवा प्रदर्शन।

बीसवीं शताब्दी में जिन महापुरूषों ने विशुद्ध भारतीय संस्कृति के आधार पर राष्ट्र के नवजागरण का प्रयास किया उसमें स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती उपाख्य करपात्री जी महाराज प्रमुख हैं। उनके समस्त पहलुओं पर विचार करने पर हम उन्हें मात्र एक वर्ग विशेष में नहीं रख सकते। सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक अथवा धार्मिक कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता नहीं था यद्यपि वे सन्यासी थे। उनकी अद्भुत शास्त्र विज्ञता को तो उनके विरोधियों ने भी एक मत से स्वीकार किया है। इतने व्यापक सन्दर्भ में कार्य करने से उनके विषय में मतभेद आवश्यक है। जीवन्त संस्कृति का यही लक्षण है। स्वामी जी के मतों पर विरूद्ध धारणायें भी मिलती हैं। भ्रान्तियों का जाल दूर तक फैला है। जिस पर्यावरण से स्वामी जी जुड़े थे उसमें ऐसा भ्रम सतही किस्म से होना आश्चर्य नहीं। स्वामी जी के धर्मदर्शन पर मेरा यह प्रथम प्रयास है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को मैंने आठ अध्यायों में विभाजित किया है - जिसके अंतर्गत स्वामी करपात्री जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के परिचय के साथ उनके धर्म के स्वरूप, राजनैतिक-दर्शन, आत्मा, ईश्वर एवं भक्ति विषयक अवधारणाओं तथा श्री विद्या की उपासना का वर्णन करते हुए धर्मदर्शन के व्यापक क्षेत्र में उनके विशिष्ट अवदानों की यथासम्भव निष्कर्षमयी विवेचना प्रस्तुत की है।

अन्त में शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करते हुए यह कहने की हिम्मत नहीं कर सकती कि प्रस्तुत शोध कार्य पूर्ण है, पूर्ण हो भी नहीं सकता फिर भी अपेक्षा करती हूँ कि भविष्य में इस दिशा में होने वाले शोध के लिए पर्याप्त सहायक सिद्ध होगा। यदि ऐसा हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगी।

४ अगस्त १९९२ सुचेता

विषय - सूची

प्रथम अध्याय -

चतुर्थ अध्याय -

पन्चम अध्याय -

प्रथम - अध्याय

स्वामी करपात्री जी का व्यक्तित्व कृतित्व सम्बन्धी संक्षिप्त परिचय

धर्म मरक्षण एवं अधर्म परिवर्जन कैसे हो ?
विचार रत
पूज्यपाद श्री स्वामी करपात्री जी महाराज,

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि समस्त महापुरूष हमारे अंशभू: तेज होते हैं। राम, कृष्ण जगद्गुरू शंकराचार्य, जगद्गुरू रामानुजाचार्य, स्वामी करपात्री के मननीय इतिहास के पृष्ठ इस बात के द्योतक एवं पोषक हैं। इस धराधाम पर जब नास्तिकवाद अपनी चरम् सीमा पर था, सनातन वैदिक धर्म एवं यज्ञ-यगादि कर्म उपेक्षित हो गये थे लोग वेदशास्त्रों के प्रतिकूल अपनी व्यवस्थायें देने लगे थे, वर्णाश्रम व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी, ऐसे में श्रद्धालु सनातनी जन चिन्तानिमग्न हो कहने लगे थे, 'कोवेदानुध्यरिष्यति'। ऐसे दुर्दान्त समय में सनातन वैदिक धर्म के उद्धार हेतु भगवान शंकराचार्य इस धराधाम पर अवतरित हुए थे। उसके लगभग, हजार वर्ष बाद जब सनातन वैदिक धर्म पर पुनः झंझावात आया। राजनीति में स्वेच्छाचार में अनाचार, दुराचार का बोलबाला हो गया, धर्माचरण में कमी आने लगी, विदेशियों के आक्रमण से• देश जर्जर हो गया, पाश्चात्य दार्शनिकों से शंकर की तुलना करायी जाने लगी, देश काल परिस्थिति में वेदों को ढालने का प्रयास किया जाने लगा, गौड़पाद, शंकराचार्य, सायणाचार्य, उव्वट, महीधर आदि द्वारा सुपुष्ट वैदिक अर्थों को नकारते हुए आधुनिक अर्थों का प्रतिपादन किया जाने लगा तो पुनः एक बार आस्तिक जन चिन्तानिमग्न हो कहने लेग 'कोवेदानुध्यरिष्यति' ऐसे समय में गंगा-जमुना की धरती पर एक शक्ति अवतरित होकर पदातिभ्रमण कर रही थी जिसे लोग स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती उपाख्य स्वामी करपात्री जी के नाम से जानते हैं।

जन्म -

स्वामी करपात्री जी का जन्म उत्तर प्रदेश में प्रतापगढ़ जिले के भटनी नामक गांव में सन् 1907 ई में हुआ था। इनके पूर्वज गोरखपुर जिले के ओझौली गांव के निवासी थे। परन्तु कालान्तर में कालाकांकर के राजा स्वामी जी के पितामह को भटनी (प्रतापगढ़) ले गये जहां जाकर वे•बस गये। स्वामी जी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पं0 रामनिधि ओझा था जो बडे ही सात्विक तथा धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे।(1)

पं0 रामनिधि ओझा के तीन पुत्र थे जिसमें कनिष्ठ पुत्र का नाम हरनारायण था। यही हरनारायण कालान्तर में स्वामी करपात्री जी के नाम से प्रसिद्ध हुए। ओझा जी का परिवार पुरातन सभ्यता तथा

संस्कृति का बड़ा प्रेमी था। अतः गांव की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ओझा जी ने अपने इस पुत्र को संस्कृत पढ़ाने का निश्चय किया। अतः उन्होंने घर पर ही प्रथमा परीक्षा के पाठ्यग्रन्थों को पढ़ाना आरम्भ कर दिया। तीक्ष्ण बुद्धि होने के कारण हरनारायण ने शीघ्र ही संस्कृत का असाधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया। परन्तु इन्होंने किसी विद्यालय में विधिवत् अध्ययन नहीं किया।

बालक हरनारायण का स्वभाव जन्म से ही बैरागी था। इन्हें सांसारिक कार्यों में कोई आनन्द नहीं आता था। केवल नौ वर्ष की वय में ही इन्हें जीवन नीरस लगने लगा। एक दो बार इनके पिता और भाई इन्हें खोजकर घर ले आये परन्तु फिर भी इनका मन घर से उदासीन हो गया था। पिता ने यह समझकर कि सम्भवतः विवाह कर देने से इनका मन संसार में लगने लगेगा, उन्होंने पास के ही खण्डवा नामक गांव में इनका विवाह कर दिया, परन्तु हरनारायण के विरागी मन में विवाहोपरान्त भी राग उत्पन्न नहीं हो सका। अन्त में पिता ने देखा कि जब इनका मन घर में नहीं लगता तब इन्हें रोकना व्यर्थ है। अतः इनसे निवेदन किया कि सन्तानोत्पत्ति के बाद तुम घर छोड़कर जा सकते हो। सत्रह वर्ष की वय में सन् 1924 में इन्हें एक कन्या उत्पन्न हुई। इस प्रकार पिता के आदेश का पालन कर इन्होंने अन्तिम रूप से घर छोड़ने का निश्चय कर लिया। फलतः हरनारायण ने अपने बूढ़े पिता और माता, युवती-स्त्री और अबोध पुत्री को रोते और कलपते हुए छोड़कर संसार से सदा के लिए अपना नाता तोड़ लिया।

केवल सत्रह वर्ष की अवस्था में युवक हरनारायण घर छोड़कर बिरागी बन गये। वे घर से निकल तो पड़े परन्तु कहां जाना है, क्या करना है ये ज्ञान उन्हें स्वयं ही नहीं था। अनेक दिनों पैदल यात्रा करने के पश्चात् ये प्रयाग के समीप कुटेश्वर गांव में पहुंचे। वहां एकाएक देखा कि एक महात्मा वटवृक्ष की छाया में बैठे हुए तपस्या कर रहे हैं। वे महात्मा टाट का कौपीन धारण किये हुए ध्यानमग्न थे। ध्यान भंग होने पर उन्होंने अपने सामने एक नवयुवक को खड़ा पाया उससे उसका आशय जान लेने के पश्चात् उन्होंने हरनारायण से नरवर में जाकर अध्ययन करने के लिए कहा। इसे महात्मा की आज्ञा मानकर हरनारायण नरवर के लिए चल पड़े। वे महात्मा स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी थे जो आगे चलकर ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य हुए।

प्राचीन काल से ही नरवर शिक्षा का केन्द्र रहा है। वहां सांगवेद विद्यालय स्थापित है। इसी विद्यालय में उन दिनों नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री जीवनदत्त जी महाराज अध्यापन कार्य करते थे। उन्हीं के चरणों में बैठकर हरनारायण ने देववाणी संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। यहीं पर उन दिनों

विश्वेश्वराश्रम महाराज भी विद्यमान थे जो षड्दर्शनाचार्य होने के अतिरिक्त प्रकाण्ड विद्वान थे। हरनारायण ने इन्हीं विद्वान से व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन अनेक वर्षों तक किया। कुछ दिनों के पश्चात् स्वामी अच्युतमुनि के अनुरोध पर जब स्वामी विश्वेश्वराश्रम जी नरवर को त्याग कर वहां से लगभग 8 मील की दूरी पर स्थित भृगुक्षेत्र चले गये, तब हरनारायण को भी उनका अनुगमन करना पड़ा। वहां भी इन्होंने अपने अध्ययन का क्रम चालू रखा और कुछ ही वर्षों में अपने स्वाध्याय तथा गुरू की कृपा से प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लिया।

तप, सन्यास तथा यज्ञ :-

अध्ययन के पश्चात् हरनारायण ने तपस्या करने का निश्चय किया। अब इन्होंने अपना नाम 'हरिहरचैतन्य' धारण कर लिया और ये उत्तराखण्ड में स्थित हिमालय की तलहटियों में चले गये। वहां भूख और प्यास की यातना सहते हुए अपने शरीर की ममता का परित्याग कर ये साधना में निरत हो गये। इस घनघोर तपस्या के बाद उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई तथा अपनी साधना की समाप्ति पर परमहंस के रूप में जब ये आश्रम में लौटे तो इनके मुखमण्डल पर अलौकिक आभा दिखाई पड़ने लगी थी। साथियों ने इनका स्वागत करते हुए बड़ी प्रसन्नता प्रगट की। हरिहर चैतन्य ने सर्वप्रथम अपने गुरू के चरणों की वन्दना की और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। उस समय हरिहर चैतन्य केवल एक कौपीन धारण करते थे तथा सदाचारी ब्राह्मणों के घर पर भिक्षा के लिए जाते थे। हाथ पर भोजन करने के कारण ही इनका नाम करपात्री पड़ गया था। हिमालय की तलहटी से निकलने के उपरान्त हरिद्वार के कुम्भ में इनका पदार्पण हुआ। सन् 1932 में हरिद्वार के कुम्भ में महामना मालवीय जी को श्री जयदयाल गोयनका को किलाघाट पर महाराजश्री के दर्शनार्थ ले गये वहां मालवीय जी ने प्रणव मंत्र युक्त दीक्षा देने की बात की और इस प्रणव की दीक्षा को लेकर मालवीय जी एवं करपात्री जी में शास्त्रार्थ हुआ। मालवीय जी ने उन्हें धरती पर आकर धर्म प्रचार के लिए प्रेरित किया, यहां से हरिहर चैतन्य पुनः आश्रम की तरफ आये जहां इन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज से सन्यास की दीक्षा मात्र 25 वर्ष की अवस्था में ली तथा सन्यास ग्रहण किया और धर्मप्रचार के लिए निकल पड़े। अब इनका नाम हरिहर चैतन्य से स्वामी हरिहरानंद सरस्वती हो गया।

शास्त्रों में लिखा है कि देश या समाज में जितना भी आन्तर और वाह्य पतन है अर्थात् फूट,

दरिद्रता, नैतिक परतंत्रता, राज्य विग्रह, राष्ट्र विप्लव, महामारी, महर्धता, ईति-भीति, दुष्काल आदि जो संकट हैं ये सभी अधर्म एवं पापी के फल हैं। सभी उपद्रव संकट, दैविक अदृष्ट के फल हैं उनका निराकरण केवल लौकिक उपायों द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान भगवान की शरण लेना ही सर्वोपरि उपाय है। भारत की धर्मप्राण जनता में नयी स्फूर्ति लाने और राष्ट्र में वैदिक धर्म की जागृति और विश्व शान्ति हेतु स्वामी जी द्वारा विशाल-विशाल यज्ञ किये गये।

इनमें सर्वप्रथम सोनीपत में "रूद्रमहायाग" तत्पश्चात् गढ़मुक्तेश्वर में एवं मेरठ नगर में दो 'सहस्त्र चण्डी यज्ञ' स्वामी द्वारा सम्पन्न कराये गये। दिल्ली में उन्होंने विशाल यज्ञ का आयोजन किया। ये यज्ञ शतमुख कोटिहोमात्मक महायज्ञ कहलाया। 'शतमुख कोटिहोत्मात्मक महायज्ञ' का अनुष्ठान आपके तत्वाधान में 2 फरवरी 1944 से 9 फरवरी 1944 तक यमुना पार सम्पन्न हुआ। कहा जाता है कि धर्मराज युधिष्ठिर के बाद इतना बड़ा यज्ञ स्वामी जी द्वारा ही सम्पन्न हुआ। इसी यज्ञ की पुनरावृत्ति कानपुर में की गयी। इसके पश्चात् काशी का 'सार्द्धद्वय कोटि होमात्मक एवं विंशत्युत्तर शत मुख सर्ववैदिक बीकानेर की अयुतचण्डी के अतिरिक्त देश के प्रमुख नगरों में महान यज्ञों के आयोजन, विश्व कल्याण की कामना से इन्हीं करपात्री जी महाराज की प्रेरणा एवं धर्मसंघ के तत्वाधान में किए गये।[2] इन स्थानों के अतिरिक्त बिहार, कलकत्ता, अमृतसर तथा नरवर इत्यादि अनेक स्थलों पर विशाल यज्ञों का आयोजन स्वामी जी द्वारा हुआ। सैकड़ों हजारों वर्षों के पश्चात् इस प्रभार के यज्ञानुष्ठानों की परम्परा को पुनः अनुष्ठित कर लोगों को लोक कल्याण में निमग्न किया।

धर्मसंघ :-

सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु स्वामी जी ने सनातनी जनों का एक मंच अखिल भारतीय धर्मसंघ नाम से गठित किया। सन् 1940 में विन्ध्याचल के यज्ञ में अखिल भारतीय धर्मसंघ की स्थापना का निश्चय किया गया और ज्योतिष्पीठ के जगद्‌गुरू शंकराचार्य स्वामी, कृष्ण बोधाश्रम जी महाराज को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

धर्मसंघ के द्वारा शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु स्वामी जी ने धर्मसंघ शिक्षामंडल नाम संस्था की भी

स्थापना की जिसमें विशुद्ध वैदिक रीति से अध्ययन और अध्यापन की व्यवस्था है। सम्प्रति इसके अधीन पूरे देश में इस समय पचीस विद्यालय संचालित हो रहे हैं। सन् 1967 में अखिल भारतीय धर्मसंघ के तत्वाधान में गोहत्या के विरोध में ऐतिहासिक प्रदर्शन किया गया था।

धर्मसंघ की परिभाषा बताते हुए स्वामी जी ने बताया था कि धर्मसंघ का अर्थ है 'धर्म के लिए संघ' - 'धर्मायसंघः धर्मसंघः'। धर्मों का संघ खिचड़ी नहीं अपितु धर्म के लिए धर्म प्राप्ति, धर्मप्रचार के लिए जो संघ समूह है वही धर्मसंघ है। व्यक्तियों, समाजों, राष्ट्रों, किंबहुना समस्त विश्व का धारण संगठन सामंजस्य एवं पोषण जिससे हो उसे ही धर्म कहते हैं। अथवा विश्व की लौकिक, पारलौकिक उन्नति और मोक्ष की प्राप्ति एवं उसका पोषण रक्षण जिससे हो वही धर्म कहा जाता है। धर्म से केवल परलोक ही नहीं वरन् इहलोक भी बनता है। स्वामी जी की प्रेरणा से धर्मसंघ के उद्देश्य सदस्यता शुल्क, संकल्प, सदस्यों के कर्तव्य इत्यादि का निर्धारण किया गया। धर्मसंघ के प्रयाग महाधिवेशन जो कि 1941 में भी सम्पन्न हुआ था, में धर्मसंघ का व्यापक एवं उद्दार रचनात्मक कार्यक्रम निश्चित किया गया। धर्मसंघ का उद्घोष आज सम्पूर्ण देश में प्राणिमात्र के मुख पर है - "धर्म की जय हो", "अधर्म का नाश हो", "प्राणियों में सद्भावना हो", 'विश्व का कल्याण हो', "हर-हर महादेव"।

धर्मयुद्ध एवं जेल यात्रायें :-

स्वामी करपात्री जी महाराज जिस पुरातन शास्त्रीय एवं गुरू परम्परा से चली आ रही सनातन विचारधारा के पोषक हैं - वर्तमान समय के अधिकांश विचारक, नेता आदि का दृष्टिकोण उससे भिन्न रहा है। स्वामी जी का इन सभी विषयों में एक मौलिक चिन्तन एवं दृष्टिकोण है, जिसे वे किसी भी स्तर पर परिवर्तनीय नहीं मानते। समय की विपरीत गति होने पर भी धर्म के शाश्वत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में रंचमात्र भी समझौता करना उन्हें अभीष्ट नहीं, जबकि अनेक आधुनिक विचारक समयानुसार किसी भी सीमा तक जाकर परिवर्तन, परिवर्धन के पक्षधर हैं। ऐसी बात नहीं है कि स्वामी जी हठवादी हैं, अथवा, तर्कसंगत बातों के लिए भी उनके यहां स्थान नहीं है। उनके समग्र जीवन दर्शन से सुस्पष्ट है कि वे बड़े ही उदार चेता, समन्वयवादी, मौलिक विचारक हैं जो विपक्षियों के न्यायसंगत तर्कों का खुले मन से आदर करते हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं। परन्तु राजनीति, दर्शन एवं धर्म का जिस रूप में और जितनी व्यापक गहराई से स्वामी जी ने अध्ययन व मनन किया है जितनी लगन, निष्ठा एवं तपस्या पूर्वक इनके सूक्ष्म

सिद्धान्तों का साक्षात्कार किया है, उतने गहरे में उतरकर इन तत्वों को समझने एवं आत्मसात् करने के लिए अन्यों ने न परिश्रम किया है और न प्रयास। सतही पुस्तक ज्ञान के आधार पर थोथे, आकर्षक, लुभावने, तर्काभास से अपनी बुद्धि का चातर्य व चमत्कार दिखाकर सर्वसाधारण को विमोहित तो किया जा सकता है, परन्तु सनातन शाश्वत सिद्धान्तों की शास्त्रीय व्याख्या करना उनके वश की बात नहीं। स्वामी जी आधुनिक विश्व के इन विचारकों, जननेताओं, महात्माओं एवं विद्वानों से सर्वथा भिन्न दिखते हैं - यही कारण है कि जब भी उन्होंने कोई योजना प्रस्तुत की अथवा विचार दर्शन रखा, उसे अपेक्षित समर्थन नहीं मिला। उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था की मूलाधार "गौ" बताते हुए, उसकी हत्या बन्द करने की मांग की। उन्होंने राष्ट्र को निर्बल बनाते हुए सदा अशान्ति व संघर्ष में डालने वाले भारत विभाजन का विरोध करते हुए 'अखण्ड भारत' की मांग की। हिन्दू विवाह, तलाक एवं उत्तराधिकार बिल रद्द हों, मंदिरों की मर्यादा सुरक्षित रहे तथा स्वतंत्र भारत का शासन विधान मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम, कणाद, हारीत आदि धर्मशास्त्रों के आधार पर बनाया जाये, जो विदेशी संविधानों की नकल मात्र न होकर भारतीय शास्त्रों पर आधारित हो, उनसे पोषित, समर्थित हो।

अपने उपर्युक्त विचारों का स्वामी जी ने व्यापक प्रचार किया, नेताओं को पत्र लिखे, प्रतिनिधि मण्डल भेजे, प्रस्ताव आदि स्वीकृत कराये, अनेक बड़े-बड़े आयोजन सम्पन्न कराये, परन्तु जब उनके इन सिद्धान्तों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया, उल्टे उपेक्षा की गयी, तब स्वामी जी ने 19.1.1947 को बम्बई के खुले धर्मसंघ अधिवेशन में तत्कालीन सरकार के विरूद्ध धर्मयुद्ध प्रारम्भ करने की घोषणा की। सन्मार्ग में प्रकाशित एक लेख में स्वामी जी के विचार थे -

'....धार्मिक पुरूषों को यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए, कि जैसे दूसरों पर अन्याय और अत्याचार करना पाप है, वैसे ही अन्याय, अत्याचार के शिकार बनना भी पाप ही है। दूसरों को मारना पाप है तो मार खाना भी पाप है। अतः अत्याचार, अन्याय दूसरों पर न करके अपने ऊपर किये गये अन्यायों के प्रतिकार में अवश्य संलग्न होना चाहिए। सहस्त्रचण्डी, लक्षचण्डी आदि अनुष्ठानों से दैवबल सम्पादन में सम्पूर्ण समाज को तत्पर हो जाना चाहिए। निकट भविष्य में दिल्ली में एक वृहत् सनातनी सम्मेलन होने वाला है, उसमें सभी आचार्यों, महात्माओं, विद्वानों तथा सभी आस्तिकों को अधिकाधिक संख्या में भाग लेना चाहिए, यदि सनातनी जीवित रहना चाहते हैं, तो आज अवसर है, कुछ कर बैठना चाहिए, नहीं तो सिवा पछताने के कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। अब ईश्वर का सहारा लेकर, क्षुद्र हृदय दौर्बल्य तथा

कृपणता का परित्याग करके धर्मयुद्ध के लिए तैयार हो जाना चाहिए।(4)

अखिल भारतीय धर्मसंघ के षष्ठ अधिवेशन के अवसर पर माघ कृष्ण 13 संवत् 2003 वि. 19.1.1947 को स्वामी करपात्री जी ने बम्बई में स्पष्ट घोषित किया कि -

"आज हम ब्रिटिश सरकार, केन्द्रीय-प्रान्तीय कांग्रेसी सरकार, लीगी सरकार तथा देशी राज्यों से स्पष्ट कह देते हैं कि वे शीघ्र गो वध बन्द कर दें, और शास्त्र एवं धर्म विरूद्ध शारदा कानून, मंदिर प्रवेश, विधवा विवाह, सगोत्र विवाह, तलाक बिल आदि कानूनों को रद्द कर दें, और नये धर्म विरूद्ध कानून न बनाने की प्रतिज्ञा करें। साथ ही देश विभाजन की सारी योजनाओं को खत्म कर देवें और वेद, शास्त्र तथा भारतीय नीति के सनातनी विद्वानों की सलाह से भारत का शासन विधान बनाया जाये। इसी से सबको सुख और शान्ति प्राप्त होगी। यदि अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया 2004 विक्रमी) परशुराम जयन्ती के पूर्व हमारी मांग पूरी न की गयी तो हम लोग ऐसी सरकार तथा ऐसे कानूनों का पूर्णतः बहिष्कार और विरोध करेंगे।" ......जब तक हो सके हम समझौते का ही प्रकार अपनायेंगे पर लाचार हो अन्त में यही करना पड़ेगा। उन सरकारों का हमारा यह विरोध भी उनकी कल्याण कामना से ही होगा। अन्यायी के अन्याय का प्रतिरोध और प्रतिकार उसके कल्याणार्थ ही होता है। जनता तब तक जगह-जगह "धर्मवीर दल" स्थापित कर संगठित हो जाये, और आदेश की प्रतीक्षा करे, यथासंभव यह विरोध अहिंसात्मक ही होगा।"

24 अप्रैल 1947 को दिल्ली धर्मसंघ महाविद्यालय में एक महत्वपूर्ण बैठक हुई, जिसमें उस पत्र का मसविदा स्वीकृत किया गया, जो कांग्रेसी नेताओं तथा वाइसराय को भेजने के लिए पहले दिन धर्मसंघ की बैठक में सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ था। इस बैठक की समाप्ति पर पूज्य स्वामी करपात्री जी ने धर्म वीरों के लिए धर्मयुद्ध में पालनीय आवश्यक अनुशासनों पर जोर दिया और अपने भाषण में कहा - "हमें अपने धर्म संग्राम में भगवान कृष्ण की भांति प्रहार सहन करने होंगे, माफी नहीं मांगनी होगी। भोजन में कड़ा आग्रह रखना होगा कि जेल में किसी अन्य का पकाया आहार न लिया जाये, और वहीं बैठक निरन्तर पूजा पाठ जारी रखी जाय, आवश्यक होने पर अनशन का आश्रय लिया जाय। महाराणा प्रताप आदि धर्मवीरों का आदर्श सामने रखकर युद्ध में अवतीर्ण हों, अनुशासन का पूर्णतया पालन करें, बिना अनुशासन के कोई युद्ध नहीं चल सकता। हम किसी की हानि नहीं चाहते हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारे साथ भी न्याय का बर्ताव किया जाये। हमारी इच्छा तो विश्व के कोने-कोने में शान्ति एवं सद्भाव का प्रसार करना है।" (5)

जेल यात्रायें :-

28 अप्रैल 1947 को कौंसिल भवन नई दिल्ली के सामने प्रदर्शन करते हुए श्री स्वामी जी महाराज को अन्य 50 धर्मवीरों के साथ गिरफतार कर थाने में बन्द कर दिया गया। अगले दिन जिला जेल में अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट के न्यायालय में इन्हें एक मास की कैद की सजा सुना दी गयी तथा "बी" श्रेणी दी गयी। 1 मई 1947 को श्री करपात्री जी को दिल्ली जिला जेल से लाहौर जिला जेल में भेज दिया गया। प्रस्थान करने से पूर्व अधिकारियों से कहा कि मैं ट्रेन पर नहीं चढ़ता - पर उन्होंने अब के स्वामी जी के नियम के विरूद्ध बलात् आपको इन्टर क्लास में बैठाकर जेल में लाहौर भेज दिया। इधर विधान परिषद की बैठक स्थापित हो जाने पर धर्मयुद्धार्थ धर्मवीरों के जत्थे श्री नेहरू व श्री पटेल के निवास स्थानों, अन्तरिम सरकार के कार्यालयों पर तथा वाइसराय के यहां प्रतिदिन जाकर भगवन्नाम संकीर्तनपूर्वक अपनी पांच मांगों के नारे लगाते हुए सत्याग्रह करने लगे। ये मांगे थीं :-

(1) गोवध अविलम्ब बन्द कर दिया जाय, और उसका श्री गणेश गो-वत्सल भगवान श्री कृष्ण की पावन जन्म भूमि मथुरा से तुरन्त किया जाये।

(2) भारत की अखण्डता सर्वविधि अक्षुण्ण रखी जाय, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मातृभूमि के विभाजन तथा प्रान्तों के वर्गीकरण की सभी योजनायें समाप्त कर दी जायें।

(3) जिन कानूनों द्वारा हिन्दुओं के धार्मिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप किया गया है, उन्हें शीघ्र रद्द कर दिया जाये। जो हस्तक्षेपकारी अधार्मिक बिल विभिन्न असेम्बलियों में विचाराधीन पड़े हैं, वे अविलम्ब रद्द किये जायें अथवा वापस ले लिये जायें। वे भविष्य में इस प्रकार की दुश्चेष्टा के लिए पुनः अवसर न दिया जाये।

(4) प्रतिमा पूजन की परम्परागत तथा शास्त्रीय पद्धति में किसी प्रकार की बाधा न डाली जाय। मंदिरों तथा धार्मिक प्रतिष्ठानों की पावनता ध्वंस करने के लिए जो दुष्कार्य किये जा रहे हैं वे शीघ्र रोके जायें।

(5) संवधिान सम्मेलन में सनातनी हिन्दुओं का उचित प्रतिनिधित्व हो तथा जिन शासन विधानों के अनुसार हिन्दू शासित हों, उनका निर्माण एकमात्र शास्त्रीय आधार पर किया जाये तथा उन विधानों की रचना में सनातनी संस्थानों एवं धर्माचार्यों द्वारा निर्वाचित प्राचीन शैली के शास्त्रज्ञ पंडितों का परामर्श और सहयोग अवश्य प्राप्त किया जाये।"[6]

धर्मशास्त्रों के सत्य स्वरूप के संरक्षण एवं प्रचार प्रसार के लिए अपने प्राणपग के प्रयास के फलस्वरूप अनेक बार जेल यात्रा करनी पड़ी जिनमें मुख्य विवरण इस प्रकार हैं -

28 अप्रैल 1947 से 22 मई 1947 तक दिल्ली एवं लाहौर स्थानों पर अखण्ड भारत के लक्ष्य को लेकर बन्दी बनाये गये। 5 जुलाई 1947 से 7 जुलाई 1947 तक दिल्ली में गिरफतार हुए। इस गिरफतारी का कारण **"गोहत्या बन्द करो"** आन्दोलन था। 8 जुलाई 1947 तथा 28 जुलाई से 29.7.47 को दिल्ली में पुनः गिरफतारी हुई जिसमें इनका लक्ष्य क्रमशः धार्मिक, स्वातन्त्र्य तथा शास्त्रीय संविधान की रचना था। इसके उपरान्त 29 अगस्त 1947 से 22 नवम्बर 1947 तक मथुरा तथा आगरा की जेल सजा काटी। यहां इन्होंने गोवध बन्द करो आन्दोलन को और तेज किया था। 19 फरवरी 1948 से 24 जुलाई 1948 तक काशी में इन्हें कैद किया। इन पर शान्ति भंग करने का आरोप था। जम्मू-कश्मीर आन्दोलन में इन्होंने जनवरी 53 में दिल्ली में पुनः जेल गये। विश्वनाथ मंदिर प्रवेश पर उत्तर प्रदेश सामाजिक अयोग्यता निवारक कानून में मुकद्मा चलता रहा जिसके दौरान फरवरी 55 में काशी में एक मास की सजा भोगी। 15 दिसम्बर 1956 में विश्वनाथ मंदिर मर्यादा की रक्षा में काशी में पुनः कैदी बने। गोवध बन्दी आन्दोलन का रूप और उग्र रूप इनके प्रतिनिधित्व में ले चुका था उस लक्ष्य को सामने रखते हुए उन्होंने 8 नवम्बर 1966 से 6 सितम्बर 1966 तथा 31.1.67 को क्रमशः दिल्ली, आगरा तथा काशी जेल की सजा काटी। इनके आन्दोलन अहिंसात्मक और शान्तिपूर्ण ढंग से किये जाते थे।[7]

रामराज्य परिषद :-

देश की स्वतंत्रता के उपरान्त इस देश में सुखद रामराज्य की कल्पना स्वामी करपात्री जी को इष्ट थी। महात्मा गांधी भी इस देश में रामराज्य की स्थापना की बात करते थे, किन्तु उनका रामराज्य काल्पनिक था। भारत की पुण्यभूमि पर सुखद राष्ट्र की स्थापना के स्वप्न दृष्टा ऋषिकल्प स्वामी करपात्री जी भारत के एकमात्र धर्म नियन्त्रित शासनतंत्र के उद्घोषक थे। राजनैतिक स्वतंत्रता के पश्चात् धार्मिक, आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक अभ्युत्थान उन्हें इष्ट था और अपने इसी साध्य की सफलता के लिए उन्होंने अखिल भारतीय रामराज्य परिषद जैसे राजनैतिक दल की स्थापना सम्वत् 2006 में किया। स्वामी जी धर्म और राजनीति को एक करके देखने के पक्षपाती थे वे धर्म की परिभाषा - **"यतोभ्युदय निः श्रेयस सिद्धिः**

स धर्मः ", करते थे अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि धारण की जाय वह धर्म है।"

इसी प्रकार नीति को भी स्वामी जी "नीयते प्राप्यते अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिर्यया सा नीति" जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो वह नीति है। स्वामी जी धर्म को नीति का पति मानते थे। धर्म विहीन राजनीति को वे विधवा अथवाा विरहिणी कहते थे। इसलिए वे धर्म सापेक्ष राज्य के प्रबल पक्षपाती थे। बाल्मीकि रामायण में धर्मयुत राजनीति की व्यवस्था रामराज्य में परिलक्षित होती है। (8)

बिना धार्मिक भावनाओं का प्रतिष्ठापन हुए सुखपूर्वक समाज एवं राष्ट्र का सुसंगठन नहीं हो सकता है। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए महाभारत में पितामह भीष्म ने बताया है कि पहले लोग धर्म से शासित होकर अपनी रक्षा कर लेते थे उन्हें राज्य और राजा की आवश्यकता नहीं थी। (9)

स्वामी जी की मान्यता है धर्मनियन्त्रित राज्य ही रामराज्य, धर्मराज्य, ईश्वरराज्य, सुराज्य, पक्षपातविहीन राज्य ही वास्तविक राज्य है। स्वामी जी वेद को भगवान का निश्वास मानते हैं तथा वे उसे अपौरूषेय कहते हैं। इस प्रकार वे वेद को सनातन संविधान मानते हैं। सैक्युलर स्टेट अथवा धर्मनिरपेक्ष राज्य को स्वामी जी भारतवर्ष के अनुकूल नहीं मानते। अपने राजनैतिक दल रामराज्य परिषद का द्वार उन्होंने प्रत्येक दीनदार, ईमानदार, सज्जन, सच्चरित्र, हिन्दू, मुसलमान, सिख, बौद्ध सभी के लिए खोल दिया। उसके उद्देश्य में उन्होंने घोषित किया था कि यह रामराज्य परिषद धर्मसापेक्ष किन्तु पक्षपात विहीन शासन तत्व का समर्थक है।

स्वामी जी हिन्दू राज्य और हिन्दू राष्ट्र जैसी कल्पना को उपहासास्पद मानते थे उनका कहना था कि रावण का राज्य ब्राह्मण का राज्य था। बेन का राज्य क्षत्रिय का राज्य था किन्तु इसमें प्रजा को कभी सुख, शान्ति नहीं मिली। इसीलिए यदि रामराज्य धर्मराज्य न हुआ, शासक राम के समान धर्मनियंत्रित सदाचारी जितेन्द्रिय न हुआ तो उस हिन्दू राज्य से भी कल्याण होने वाला नहीं।

लोकतंत्र, प्रजातंत्र, समाजतंत्र, साम्यतंत्र, अधिनायकतंत्र, राज्यतंत्र जो भी तंत्र हो सभी को धर्मनियंत्रित होना चाहिए। इसलिए आज भी लोग रामराज्य को ही अपना आदर्श मानते हैं। साधारण व्यक्ति से लेकर उच्च पदस्थ व्यक्ति तक रामराज्य का यशोगान करते हैं। रामराज्य एक ऐसी शासन व्यवस्था है

जिसमें सभी व्यवस्थाओं के गुण तो हैं अपितु दोष किसी भी व्यवस्था का नहीं है। रामराज्य में सभी को सस्ता न्याय, औषधि, रोटी, कपड़ा सुलभ था। सभी को लेखन एवं भाषण स्वातन्त्र्य प्राप्त था। एक धनी मानी विद्वान के मुकाबले कुत्तों तक का न्याय राज्य में ग्राह्य है। वैसे ही रामराज्य की स्थापना स्वामी जी देश में करना चाहते थे और इसके लिए ही उन्होंने अखिल भारतीय रामराज्य परिषद की स्थापना की थी। जिसे सन् 1952 के चुनाव में अच्छी सफलता भी प्राप्त हुई थी किन्तु बाद में स्वतंत्र और भारतीय जनसंघ की स्थापना हो जाने से परिषद को उतनी सफलता नहीं मिली। 20वी सदी में दो महापुरूषों ने पूंजीवाद पर प्रत्यक्ष आक्रमण किया। तरीकों में अन्तर अवश्य है। उनमें प्रथम स्वामी करपात्री जी थे तथा द्वितीय पण्डित जवाहर लाल नेहरू जी थे।

मंदिर निर्माण -

हिन्दुओं का सम्पूर्ण जीवन सदा से उनके धर्मशास्त्रानुसार ही संचालित होता आया है। स्वामी जी सनातन आचार संहिता के प्रबल समर्थक थे। वेदशास्त्रों के प्रतिकूल व्यवस्थायें उन्हें बिल्कुल नापसन्द थी। यही कारण है कि सनातन धर्म की व्यवस्था के प्रतिकूल जो भी नियम कानून बने स्वामी जी ने दृढ़ता से उसका विरोध किया चाहे वह हिन्दू कोडबिल का प्रश्न हो, गोहत्या विरोध का प्रश्न हो, अथवा काशी विश्वनाथ मंदिर में हरिजनों के प्रवेश का प्रश्न हो। स्वामी जी ने सदैव उस पर अपना शास्त्रीय पक्ष प्रस्तुत किया। वियोगी हरि ने एक बार पत्र लिखकर स्वामी जी से आग्रह किया था कि काशी विश्वनाथ मंदिर में हरिजनों को प्रवेश कराने की व्यवस्था वे दे दें किन्तु स्वामी जी कहते थे कि हमारे शास्त्रों द्वारा विधि निर्णेत्री परिषद की व्यवस्था तो है किन्तु निर्मात्री परिषद की नहीं। इस व्यवस्था में महाराजा मनु, याज्ञवल्क्य, जगदग्नि, अंगिरा के वचन ही प्रमाण हैं। श्रुति प्रमाण हैं, वेद प्रमाण हैं किन्तु कोई व्यक्ति प्रमाण नहीं है। इसलिए मंदिर में हरिजनों का प्रवेश सर्वथा अनुचित तथा शास्त्रों के प्रतिकूल है। स्वामी जी ने काशी विश्वनाथ मंदिर में हरिजनों के प्रवेश का विरोध किया, फलतः उन पर अश्पृश्चता निवारण अधिनियम के अन्तर्गत मुकद्मा चलाया गया जिससे उन्हें एक मास की सजा भी हो गयी किन्तु वे अपने सिद्धान्त से जरा भी विचित नहीं हुए और उन्होंने काशी विश्वनाथ

विधान है।

शंकराचार्य के पीठों का उद्धार :-

स्वामी जी के सन्यास ग्रहण करने के उपरान्त बहुत दिनों तक भगवान शंकराचार्य द्वारा स्थापित ज्योतिष्पीठ बहुत दिनों से रिक्त थी। स्वामी जी ने रिक्त ज्योतिष्पीठ का पुनरूद्धार किया और इस पीठ पर अपने गुरू स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज को ज्योतिष्पीठ का शंकराचार्य अभिषिक्त कराया। स्वामी जी के दीक्षा गुरू ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरू शंकराचार्य, स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती महाराज 2 मई 1953 को कलकत्ते में ब्रह्मीभूत हो गये। उन्हें काशी में जल समाधि दी गयी। एक बार पुनः ज्योतिष्पीठ का पद रिक्त हो गया। स्वामी जी ने ही 165 वर्ष पश्चात् उस पीठ की पुर्नस्थापना की थी और एक बार पुनः उस पीठ के आचार्य पद के रिक्त होने से लोग स्वामी जी को ही उस पद पर अभिषिक्त करना चाहते थे। शंकराचार्य स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी ने कई बार ये घोषित किया भी था कि करपात्री मेरा उत्तराधिकारी है किन्तु स्वामी जी धर्मसंघ रामराज्य परिषद के व्यापक कार्यक्रमों को देखते हुए इस पीठ पर पदासीन होने से इन्कार कर दिया और काशी विद्वत परिषद और भारत के अनविद्वत मण्डल साधु समाज ने एक मत से निर्णय किया कि वीत राग स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज को ही ज्योतिष्पीठ पर अभिषिक्त किया जाये। फलतः स्वामी जी ने स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी को इस पद पर अभिषिक्त किया। स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी के शिवशायुज्य में विलीन होने के पश्चात् इस पीठ पर स्वामी जी ने स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज को अभिषिक्त किया जो अब भी ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य हैं। इसके अतिरिक्त स्वामी जी ने काशी में ऊर्ध्वाम्नाय काशी सुमेरूपीठ की स्थापना की जिसका लोगों ने यह कहकर विरोध किया कि मठाम्नाय में चार पीठ के अतिरिक्त पांचवी पीठ का विवरण नहीं है किन्तु स्वामी जी ने मठाम्नाय के उद्धरणों से यह सिद्ध किया कि काशी में सुमेरूपीठ वैध है और उस सुमेरूपीठ पर उन्होंने अपने शिष्य स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज को अभिषिक्त किया और उनके परमपद प्राप्त होने पर अपने शिष्य स्वामी शंकरानन्द सरस्वती जी महाराज को शंकराचार्य पद पर अभिषिक्त किया।

1. ग्रन्थों का परिचय

स्वामी जी में लिखने की अद्भुत क्षमता थी। स्वामी जी में लेखन निपुणता के साथ ओजस्वपूर्ण

भाषण क्षमता का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इनकी लेखनी ने संस्कृत एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में अद्भुत ग्रन्थों की रचना की है। उनकी रचनाओं में धर्म, संस्कृति एवं अध्यात्म की चमत्कारिक त्रिवेणी का दर्शन होता है। वेदादि शास्त्रों के प्रामाण्य स्थापन के लिए जो अथक प्रयास किये एवं जिस अनूठे व अनमोल साहित्य का उन्होंने सृजन किया वह विद्वानों एवं जिज्ञासु जनमानव के लिए अमूल्य निधि है।

धर्म, संस्कृति, आध्यात्म की यथार्थता, शास्त्रों के प्रामाण्य का विवेचन करते हुए स्वामी जी ने लगभग पचास से ऊपर ग्रन्थों का प्रणयन किया है। जिसमें वेदार्थपरि जातम्, रामायण मीमांसा, भक्ति सुधा, मार्क्सवाद और रामराज्य तथा विचार पीयूष महाग्रन्थ है जिनके अंतर्गत भक्तिदर्शन, वेदादि शास्त्रों का अनुमोदन समाज दर्शन, राजनैतिक दर्शन एवं ऐतिहासिक विचारों का उल्लेख किया गया है।

उभय भाषाओं संस्कृत एवं हिन्दी में प्रणीत ग्रन्थों में से संस्कृत के ग्रन्थों के विषय वेद तंत्र तथा भक्ति शास्त्र है।

वेदार्थ पारिजात (10)

वेदार्थ पारिजातरव्यो यो निबन्धो धुनातनः।
सर्वातिशायी बोद्धव्यः सम्राजो धर्म पद्धतेः।। (11)

चतुर्वेद भाष्य भूमिका के रूप में प्रणीत यह महाग्रन्थ वर्तमान समय में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के रूप में माना गया है। स्वामी जी ने वेदों की व्याख्या नयी शैली में की है यह शैली आध्यात्मिक शैली है। इसी आध्यात्मिक शैली में इन्होंने अपने वेद भाष्य की रचना की है। महाग्रन्थ वेदार्थपारिजात इनके वेद भाष्य की भूमिका के रूपमें हैं जो कि लगभग दो हजार पृष्ठों में है। इस ग्रन्थ में पाठकों की समस्याओं को देखते हुए हिन्दी का अनुवाद भी किया गया है।

इसमें भारतीय वेद भाष्यकार आर्यसमाजी स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त जो वैदेशिक भाष्यकारों जैसे, रॉथ, मैकडोनल तथा मैक्समूलर इत्यादि ने वेद भाष्य में जो अर्थ का अनर्थ किया है जिससे सामान्य जन-मानव किंकर्तव्य विमूढ़ एवं शोषित हो रहा है, उसका समसामयिकता के आधार पर खण्डन करके याष्क, महीधर, सायण, उव्वट तथा आचार्य वेंकट माधव जो कि वेदों के पूर्ण विद्वान हैं, उनकी परम्परा का अनुसरण करके वेदों का उद्धार किया।

उन्होंने वेदार्थपारिजात में लिखा है - जिससे लोकोपकार स्पष्ट है "येषां पितृपितामहादि पुरूषा आसन् सदा वैदिका। ये स्वान्ते परिशीलयन्ति सतत् वेदान् सदर्थान्वितान्।। वेद द्विड्भरूदी रितान भिनवानर्थातु दीक्ष्य स्वयं। ये क्लिश्यन्ति महत्तदर्थमरिवलों हयस्माकमेष श्रमः।। 32 ।।"

"अर्थात् जिनके पितामह प्रभृति पूर्व पुरूष सदा वैदिक धर्म के अनुयायी रहे हैं जिनके मन में सदा से वैदिक सद्विचारों का अनुशीलन चलता रहा है। ऐसे सज्जन व्यक्ति वेदशास्त्र के साथ द्वेष भाव रखने वाले व्यक्तियों के द्वारा भाष्य विरूद्ध अर्थ को सुनकर दुःखी हो जाते हैं। उनके इस क्लेश को दूर करने के लिए हमने यह श्रम किया।" (12)

वेदस्वरूप विमर्श : (13)

स्वामी जी ने 'वेद स्वरूप विमर्श' नामक संस्कृत मूलमात्र ग्रन्थ का प्रणयन वेद के विशुद्ध स्वरूप का परिचय देने के लिए किया। (1) वेद स्वरूप विमर्श :, (2) वेद प्रामाण्य मीमांसा, (3) वेद अपोरूषेय विमर्शः एवं (4) ब्राह्मणानां वेदत्व विमर्शः चार अध्यायों में प्रणीत स्वामी जी ने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में वेद के स्वरूप का शास्त्र के अनुकूल विवेचन किया है। द्वितीय भाग में वेद को "स्वतः सिद्ध" बताते हुए कहा कि वेद के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। तृतीय भाग में वेद को अपौरूषेय, अनादि सिद्ध किया गया है, तथा चतुर्थ भाग में ब्राह्मण भाग जो कि स्वामी दयानन्द जी ने सिद्ध किया है कि ब्राह्मण भाग वेद नहीं है। उसकी समालोचना करते हुए स्वामी जी ने यह सिद्ध किया कि ब्राह्मण भाग भी वेद है।

3. वेद प्रामाण्य मीमांसा (14)

स्वामी करपात्री जी ने अपने इस संस्कृत लेख में वेद के स्वरूप एवं प्रामाण्य का उल्लेख किया है। इस लेख में स्वामी जी ने वेद के सनातन स्वरूप का विवेचन करते हुए वेद विरोधियों की शंकाओं का समाधान किया है।

4. श्री विद्यारत्नाकर (15)

तांत्रिक साधना के सम्राट श्री करपात्री जी महाराजा द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ वेदशास्त्र सम्मत तांत्रिक

आधार पर श्री विद्या के सम्बन्ध में लिखा हुआ है। इसके द्वारा परम शिव तथा पराम्बा की उपासना से उपासक परमानन्द स्वरूप मोक्ष प्राप्त करता है। इस ग्रन्थ की रचना से श्री विद्या की उपासना विधि की जानकारी मिलती है।

इस गन्थ का आरम्भ दीक्षा क्रम से किया गया है। तत्पश्चात् श्रीगुरू पादुका मंत्र, षोडशोपचार, षडंग पूजा, श्री महागणपतिक्रम, श्री क्रम, सूर्य, विष्णु तथा शिव पूजा, श्री चक्र महिमा, श्यामाकृत्य, चक्रदेवी पूजा आदि विषयों का रीतिपूर्ण विवरण दिया गया है। ग्रन्थ के अन्तिम चरण में शंकराचार्य द्वारा प्रणीत सौन्दर्य लहरी, श्री ललिता सहस्त्र नामावली, त्रिपुर सुन्दरी मानस पूजा स्त्रोत भी दिये गये हैं।

5. भक्ति रसार्णव: (16)

इस ग्रन्थ में 'रसो वै सः' के आधार पर भक्ति को स्वतंत्र रस प्रतिपादित कर साहित्य में भक्ति को दसवें स्थान पर प्रतिष्ठित करने वाले स्वामी करपात्री जी का कथन है कि भक्ति के बिना मानव जीवन व्यर्थ है। तुलनात्मक दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों का जितना युक्ति-युक्त एवं शास्त्री पद्धति से विवेचन इस ग्रन्थ में स्वामी जी ने किया है उतना अन्यत्र किसी ग्रन्थ में नहीं है।

6. विचार पीयूष (17)

स्वामी जी के महाग्रन्थों में से विचार पीयूष अपना विलक्षण स्थान रखता है। अपने नाम के अनुरूप ही इसके पाठन से अमृत समान आनन्द और ज्ञान की उपलब्धि होती है।

स्वामी करपात्री जी ने इस महाग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग में भारतीय राजनीति का वर्णन है। जिसके अंतर्गत स्वामी जी ने 'वेदों से स्मृतियों तक', 'महाभारत की दृष्टि में', 'नीतिकारों की कसौटी पर', 'कवियों की काव्यकला में', 'तत्वज्ञान और वर्णाश्रम धर्म' और शास्त्रोक्त धर्म एवं भगवन्नाम इन छः उपभागों का सम्यक विवेचन किया है।

द्वितीय भाग पाठकों के लिए निधि साबित होगा। इसमें स्वामी जी ने विभिन्न ग्यारह विषयों का वर्णन किया है, "क्या वेद शास्त्र का प्रामाण्य मानना अपकर्ष?", "राष्ट्रीयता की कसौटी, संस्कृति का

अर्थ, और वर्णव्यवस्था", "जाति और हिन्दुत्व: शास्त्रीय दृष्टि में "तीन राष्ट्रीय स्वतंत्रताएं", "वैयक्तिक सम्पति और आर्थिक संतुलन", "धर्मसापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य", "मार्क्सवाद और स्वेतलाना", "भारत में जनतंत्र", "कौटिल्य और आध्यात्म", इन सभी विभिन्न विषयों पर स्वामी जी ने गहन गम्भीर विवेचना की है।

तृतीय भाग में "सुधारक हिन्दू और शास्त्रीय सनातन धर्म" के अन्तर्गत "भारतीय इतिहास के छः स्वर्णिम पृष्ठ" जो कि स्व0 श्री विनायक दामोदर सावरकर जी की अनुपम कृति है, इसकी समीक्षा की गई है।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि "विचार पीयूष" एक ऐसा अनूठा ग्रन्थ है जिसमें स्वामी जी ने वैदिक समुद्र से अप्राप्य एवं अनमोल सीप चुन कर सजाये हैं।

7. भक्ति सुधा (18)

भक्ति से मथित कणों से सुगठित मणिमाला भक्तिसुधा के रूप में स्वामी करपात्री जी ने भक्तजनों को प्रस्तुत की। भक्ति की महत्ता तो हर विद्वान ने आज तक मानी किन्तु मात्र एक भाव के रूप में ही। स्वामी जी ने भक्ति को एक स्वतंत्र रस की मान्यता दी। इससे स्पष्ट है कि स्वामी करपात्री जी एक महान भक्त थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना लगभग हजार पृष्ठों से भी ऊपर की है जिसका लगभग दो तिहाई भाग में श्रीकृष्ण की वृन्दावन लीला का वर्णन है जिसके अन्तर्गत वेणुगीत, चीरहरण, रासपन्चाध्यायी एवं रासलीला का अत्यन्त मनोहर वर्णन किया गया है।

आध्यात्मिक ग्रन्थों की विवेचना करने पर यह ग्रन्थ मुकुटमणि है।

8. रामायण मीमांसा (19)

महान ग्रन्थकार स्वामी करपात्री जी द्वारा प्रणीत इस विशाल ग्रन्थ में कामिल बुल्के की 'रामकथा' के आक्षेपों का उत्तर दिया गया है। इस ग्रन्थ को स्वामी जी ने बाईस अध्यायों में विभाजित कर के रामकथा से सम्बन्धित प्राप्त साहित्य का एकीकरण किया। तत्पश्चात् उन्होंने विभिन्न भारतीय

भाषाओं में प्राप्त रामकथा का विवेचन किया। वह भाषा चाहे कोई भी हो। इस सम्बन्ध में स्वामी जी की ज्ञान सीमा अद्वितीय थी। हिन्दी, बंग्ला, उड़िया, असमिया, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू, मलयालम तथा कन्नड़ प्रत्येक भाषा की रामकथा का स्वामी जी ने युक्तियुक्त विवरण प्रस्तुत किया है।

एक अन्य उदाहरण जो स्वामी जी के विलक्षण ज्ञान का पक्ष दृढ़ करता है वह है रामायण और महाभारत का समय निर्धारण। मैक्समूलर, मैकडोनल, कीथ, बेवर, ब्यूलर इत्यादि यूरोपी विद्वानों द्वारा जो काल निर्धारित किया था उसका स्वामी जी द्वारा खण्डन करके उसका समय ईसा से हजारों वर्ष पूर्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

9. मार्क्सवाद और रामराज्य [20]

स्वामी जी भारतीय राजनीति के महान विद्वान थे। वे स्वतंत्र भारत के सैक्युलरवाद के पूर्णतः विरूद्ध थे। समस्त भारतीय राजनीति एवं पाश्चात्य राजनीति का तुलनात्मक विवेचन इस ग्रन्थ में स्वामी जी ने प्रस्तुत किया है जिसके अन्तर्गत कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों का खण्डन करके वेद शास्त्रों पर आधारित "रामराज्य" की स्थापना बड़े ही अनूठे ढ़ंग से की है। "राजराज्य" के गांधी जी प्रशंसक थे। रामराज्य धर्मसापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य का सूचक है।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित हुए लगभग पच्चीस वर्ष बीत गये हैं किन्तु अभी तक इसके विरोध में किसी भी कम्युनिस्ट लेखक ने कुछ भी नहीं लिख पाया है। यह इस महाग्रन्थ की अद्वितीय महत्ता का अपूर्व उदाहरण है।

10 पूंजीवाद, समाजवाद एवं रामराज्य [21]

'समाजवाद से सावधान' यह पुस्तक आचार्य रजनीश द्वारा लिखित है। स्वामी करपात्री जी ने अपनी पूंजीवाद, समाजवाद एवं रामराज्य पुस्तक की आचार्य रजनीश की उक्त पुस्तक के पूरक के रूप में रचना की और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आचार्य रजनीश ने समाजवाद को बिना समझे ही उसका खण्डन किया है। प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि स्वामी जी धार्मिक एवं

सन्यासी जीवन व्यतीत करने वाले मात्र एक तपस्वी नहीं बल्कि राजनीति के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व ज्ञान रखते थे। इस पुस्तक के माध्यम से उन्होंने पूंजीवाद को श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

11. राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू धर्म [22]

प्रस्तुत पुस्तक में हमारे देश में प्रतिष्ठापित हिन्दू संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को हिन्दू धर्म के प्रति क्या मान्यताएं हैं। वे हिन्दू धर्म का कैसे और किस दृष्टिकोण से उत्थान चाहते हैं। जो उनके विचार हैं वे वेद विरोधी हैं या समर्थक। इन सभी का उल्लेख स्वामी जी ने इस पुस्तक में किया है।

12. चातुवर्ण्य - संस्कृति विमर्श : [23]

प्रस्तुत पुस्तक दो भागों मे लिखी गयी है। इसका द्वितीय भाग अभी तक अप्राप्त है। इस पुस्तक में मूलतः वर्णव्यवस्था का विवेचन किया गया है।[24]

इस पुस्तक के प्रथम भाग में जन्म से लेकर वर्णवाद, वर्णद्वयवाद, एकवाद, आजीविका वर्णवाद और वेदाध्ययन अधिकार का वर्णन है।

13. अहमर्थ और परमार्थ सार [25]

यह पुस्तक दो खण्डों में प्रस्तुत की गयी है। प्रथम खण्ड में आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है। तथा द्वितीय खण्ड में पतंजलि के प्रसिद्ध ग्रन्थ "परमार्थसार" का विवेचन है।

हमारे सम्मुख आत्मा सम्बन्धित अनेक विचारों, मतों का आदान-प्रदान होता रहता है। कुछ विद्वानों के अनुसार अहमर्थ ही आत्मा है। विद्वानों के विचार चाहे कुछ भी हों, स्वामी जी ने प्रस्तुत पुस्तक में यह सिद्ध किया है कि भौतिक विकास ही नहीं वरन् अपने और संसार के कल्याण के लिए आध्यात्मिक ज्ञान और रूचि भी आवश्यक है।

14. भागवत सुधा [26]

स्वामी करपात्री जी ने दिनांक 16.3.81 से 24.3.81 तक धर्मसंघ महाविद्यालय वृन्दावन में

अपने निवास काल में श्रीमद् भागवत् पर, जो कि वेदों-पुराणों का सार है उस पर कुछ सम्भाषण किये जिनको हनुमान प्रसाद धानुका ने एकबद्ध करके पुस्तक का रूप दिया है।

इस प्रवचन माला रूपी पुस्तक को आठ उप भागों में एकबद्ध किया गया है जिसको आलंकारिक भाषा में 'आठ पुष्प' के नाम से सम्बोधित किया गया है। प्रत्येक विषय को भिन्न-भिन्न पुष्प में प्रस्तुत किया गया है जिससे आस्तिक जन भागवत का रहस्य जानने में पूर्णतया सक्षम है।

15. श्री राधा सुधा (27)

प्रस्तुत पुस्तक स्वामी करपात्री जी के उन प्रवचनों का संग्रह है जो कि उन्होंने वृन्दावन में किये थे। प्रस्तुत पुस्तक में बारह पुष्पों को सुसज्जित किया गया है। जिसके अन्तर्गत श्रीकृष्ण भगवान और राधा के स्वरूप की शास्त्र सम्मत विवेचना की गई है। यह भक्ति का अक्षय कोष भक्तजनों के लिए अमूल्य निधि साबित होगा।

16. संघर्ष और शान्ति (28)

स्वामी करपात्री जी द्वारा यह ग्रन्थ लोक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत है जिसके अन्तर्गत सत्ताइस लेखों का संग्रह है।

17. बदलती दुनिया (29)

स्वामी जी ने वेद, पुराण, रामायण, महाभारत तथा राजनीतिक क्षेत्र में अबाध विद्वता का परिचय दिया है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी जी ने अपनी ऐतिहासिक ज्ञान का परिचय दिया है।

निबन्ध के रूप प्रस्तुत की गयी इस पुस्तक में अट्ठाइस शीर्षक देकर विजय सामग्री एकत्रित की गयी है। जिसके अन्तर्गत सोमनाथ पर आक्रमण, बौद्धों का राष्ट्रद्रोह, मुसलमानों के अत्याचार इत्यादि अनेक समस्यायें जिसमें अन्य धार्मिक एवं जातिगत समस्यायें भी सम्मिलित हैं, समाधान किया है। सामाजिक उत्थान के लिए ये पुस्तक अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

18. गीता जयन्ती और भीष्मोत्क्रान्ति (30)

रामायण और महाभारत काल सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है कि स्वामी करपात्री जी ने इस

पुस्तक में महाभारत के युद्ध आरम्भ होने का समय, गीता जयन्ती, भीष्म निर्वाण तथा रामायण काल के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट किये हैं। प्रस्तुत पुस्तक में अट्ठारह शीर्षक और चौबीस उपशीर्षकों के माध्यम से विषय विवेचन किया गया है जिसमें भारतीय संस्कृति की छाप परिलक्षित होती है।

19. धर्म और राजनीति (31)

इस पुस्तक के माध्यम से स्वामी जी ने धर्म और राजनीति का अनन्यतम सम्बन्ध दिखालाया है। उन्होंने धर्म विहीन राजनीति को विधवा माना है अर्थात् धर्म नीति का पति है। इस प्रकार धर्म सापेक्ष और पक्षपात विहीन राज्य मानव कल्याण की आवश्यकता है।

20. श्री भगवत तत्व (32)

यह पुस्तक स्वामी करपात्री जी के दस अनुपम लेखों एवं उपदेशों का संग्रह है जिसके अन्तर्गत ज्ञान, भक्ति एवं कर्म तीनों का विवेचन किया गया है।

ये दस लेख ।। 'वेदान्त सार, निर्गुण या सगुण, श्रीकृष्ण जन्म और बालक्रीड़ा, ब्रजभूमि, श्री रास लीला रहस्य, भगवान का मंगलमय स्वरूप, श्री रामभद्र का ध्यान, गणपति माहात्म्य, इष्टदेव की उपासना एवं सर्वसिद्धान्त समन्वय' हैं।

सभी विषयों की स्वामी जी ने शास्त्र सम्मत ढंग से विवेचना की है।

21. शंकर सिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का समाधान (33)

स्वामी जी की इस सम्पूर्ण पुस्तक में स्वामी जी का अभूतपूर्व धार्मिक प्रेम दृष्टिगोचर होता है। स्वामी जी जहां कहीं भी शास्त्र विरूद्धता देखते थे तो उसका खण्डन अवश्य करते थे यह उनका स्वभाव सा बन गया था। शास्त्र विरोधी लेखों के खण्डन में स्वामी जी ने लिखा उसे ही संग्रहीत करके पुस्तक का रूप दिया गया है।

22. हिन्दू कोड बिल प्रमाण की कसौटी पर [34]

"हिन्दू कोड बिल् तथा उसका उद्देश्य" यह वह पुस्तक है जो भारत सरकार के सूचना विभाग की तरफ से प्रकाशित की गयी थी। इसका उत्तर स्वामी जी ने "हिन्दू कोड बिल प्रमाण की कसौटी पर" नामक पुस्तक के माध्यम से दिया है।

हिन्दू कोड बिल जो कि वेद विरूद्ध था इसके विरूद्ध सम्पूर्ण. देश के धर्म हितैषियों ने आन्दोलन छेड़ा, इसका महान धर्माचार्यों ने विरोध किया।

प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से स्वामी जी ने सभी को समानाधिकार मिलना चाहिए ऐसा प्रयास किया है। सरकार को हर धर्म के लोगों के लिए एक से कानून बनाने चाहिए चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी कोई भी हो। इसमें विवाह, विवाह।।विच्छेद, दत्तक, संयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति, स्त्रीधन, उत्तराधिकार तथा कन्या का दायाधिकार आदि शीर्षकों का विवेचन किया गया है।

23. गम्भीर विचार की आवश्यकता [35]

स्वामी करपात्री जी ने आज की सरकार के समाजवादी नीतियों के ऊपर गम्भीरता पूर्वक विचार करने का सुझाव दिया है। उनके अनुसार रामराज्य शासन प्रणाली ही देश के वास्तविक विकास के लिए आवश्यक है। क्योंकि आज देश में राजनैतिक दलों की दशा सोचनीय हो गयी है। कुछ एक प्रमुख राजनैतिक दल अपना एकाधिकार कर रखा है। जिससे भाली।।भाली जनता प्रभावित होती है। उक्त समस्या को स्वामी जी ने बीस पृष्ठों के लेख के माध्यम से जनता को सचेत करने का प्रयास किया है।

24. संकीर्तन मीमांसा और वर्णाश्रम मर्यादा [36]

संकीर्तन का रहस्य और वर्णाश्रम मर्यादा आपस में किस प्रकार सम्बन्धित है इसकी शास्त्र सम्मत व्याख्या स्वामी जी ने इस पुस्तक में की है। इस विषय को तीन परिच्छेदों में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

25. पिवत भागवतं रसमालयम् [37]

दिनांक 5 अप्रैल 81 से 8 अप्रैल 81 के बीच स्वामी जी ने कानपुर में जो प्रवचन किए उनका संग्रह इस पुस्तक में है। इस समय के अन्तराल में रासपंचाध्यायी की भूमिका प्रवचन किए गए थे। ये चार प्रवचन थे प्रथम प्रवचन में श्रीकृष्ण की रासलीला के रहस्य का वर्णन है, द्वितीय में परब्रह्मा श्रीकृष्ण का, तृतीय में उनकी लीला एवं चतुर्थ में गोपांगना और रासक्रीड़ा का अभूतपूर्व वर्णन है जो भक्तजनों के लिए अमूल्य निधि है।

26. "विदेश यात्रा" शास्त्रीय पक्ष [38]

आज देश के अधिकतम व्यक्ति विदेश यात्रा को गौरवपूर्ण दृष्टि से देखते हैं जो प्रतिष्ठा और सम्पन्नता का प्रतीक मानी जाती है। शास्त्रीय दृष्टि से विदेश यात्रा कितनी औचित्यपूर्ण है इसका युक्तियुक्त विवेचन इस पुस्तक में किया गया है।

27. श्री विद्या वरिवस्या [39]

श्री विद्या सम्बन्धित इस पुस्तक को स्वामी जी ने "श्री विद्यारत्नाकर" के बाद जनता की बहुत अधिक मांग पर लिखकर भक्तजनों के ऊपर बहुत बड़ा उपकार किया है। पुस्तक में श्री विद्या की उपासना की विधि का शास्त्र सम्मत विवेचन बारह प्रकरणों में किया है।

28. धर्म कृत्योपयोगि - तिथ्यादि निर्णयः कुम्भ पर्व - निर्णयश्च [40]

समय-समय पर होने वाले अर्द्धकुम्भ, महाकुम्भ एवं अन्य महत्वपूर्ण धर्मकृत्यों के लिए तिथि का निर्णय किस आधार पर किया जाये इसका शास्त्र सम्मत विवेचन स्वामी जी ने प्रस्तुत पुस्तक में किया है।

29. रामायण, महाभारत काल मीमांसा [41]

'यथा नाम तथा गुण' जैसा नाम से ही स्पष्ट है इस पुस्तक में स्वामी जी ने रामायण एवं महाभारत के काल का निर्धारण जिसके लिए विद्वानों में मतभेद है किया है। इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् किसी प्रकार का भ्रम नहीं रह जाता है।

30. क्या सम्भोम से समाधि तक ? (42)

आधुनिक युग में हम देखते हैं कि सेक्स की व्याख्या इस प्रकार की जा रही है जिससे समाज में उसके दुष्प्रभाव अधिक दिखाई पड़ते हैं वह माध्यम चाहे कोई भी हो - पत्र, पत्रिका, सिनेमा इत्यादि। यहां तक कि आचार्य रजनीश जैसे महान विचारक की यह पुस्तक 'सम्भोग से समाधि की ओर' जनता को दिग्भ्रमित करती है। रजनीश की इस पुस्तक का खण्डन स्वामी करपात्री जी ने इस पुस्तक में किया है।

31. रामराज्य (43)

इस पुस्तक में करपात्री जी ने रामराज्य क्या है रामराज्य अगर श्रीराम चन्द्र न हो तो संभव है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देते हैं। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि रामायण भारतीय शासन पद्धति के लिए अत्यावश्यक है। जिसको महाभारत काल में 'सुराज्य' या 'धर्मराज्य' से जाना जाता है।

32. वाज सनेयी माध्यन्दिनी शुक्ल यजुर्वेद संहिता भाष्य (44)

इस ग्रन्थ का प्रणयन स्वामी जी ने वेदार्थपारिजात लिखने के पश्चात् किया। जिसके अन्तर्गत जो आधुनिक वेद भाष्यकारों ने जो शास्त्र विरूद्ध विवेचन किया है उसका सायण, महीधर एवं आचार्य उव्वट की परम्परा का अनुसरण करके वेदों को पुनर्जन्म दिया।

33. राहुल जी की भ्रान्ति

स्वामी जी द्वारा लिखित महान ग्रन्थ 'मार्क्सवाद और रामराज्य' का खण्डन राहुल सांकृत्यायन जो कि हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं, ने अपनी पुस्तक मार्क्सवाद और रामराज्य में किया। जिसका प्रत्युत्तर स्वामी करपात्री जी ने अपनी इस पुस्तक 'राहुल जी की भ्रान्ति' में किया है।

34. जाति, राष्ट्र और संस्कृति

इस पुस्तक के अंतर्गत स्वामी करपात्री जी ने जाति, राष्ट्र और संस्कृति की शास्त्र सम्यक विवेचना की है।

35. रामराज्य परिषद और अन्य दल

धर्म सम्राट की ख्याति से विभूषित स्वामी करपात्री जी ने न केवल धर्म की व्याख्या की है बल्कि राजनीति के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। स्वामी जी के अनुसार धर्म सापेक्ष पक्षपात विहीन शासन राष्ट्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा। इस प्रचार हेतु स्वामी जी ने रामराज्य परिषद नामक संस्था को संरचित कर आगे बढ़ाया। इस पुस्तक में अन्य राजनीतिक दलों से धर्मसापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य से तुलना करके धर्म सापेक्ष सिद्धान्त की महत्ता प्रतिपादित की है।

36. ये राजनीतिक दल

ये पुस्तक भी स्वामी जी को महान राजनीतिक विचारक के रूप में प्रतिष्ठापित करती है इसके अन्तर्गत भी स्वामी जी ने उस समय के सभी राजनीतिक दलों के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन किया है।

37. आधुनिक राजनीतिक और रामराज्य परिषद

जिस देश में धर्म निरपेक्ष राजनीति का बोलबाला है उस देश का कल्याण कदापि संभव नहीं है वहां के अनाचार, भ्रष्टाचार से पूरी जनता प्रभावित होती है। इसी उद्देश्य को जन-जन तक पहुंचाने के लिए स्वामी जी ने चुनाव के समय इस पुस्तक को छपवाकर वितरण करवा दिया।

38. राजनीति में भी ईमानदारी

स्वामी जी ने धर्म और राजनीति को कभी एक दूसरे से विलग नहीं किया। राजनीति धर्म का एक अंग है। वह राजनीति जिसमें ईमानदारी और नैतिकता का अभाव है, जनता को प्रताड़ित करेगी और जनसामान्य अपने आपको सुरक्षित नहीं मानेगा। इन्हीं सब भावों को लिए हुए ये पुस्तिका स्वामी जी ने जनकल्याण के हेतु सबके समक्ष रखी।

39. व्यक्तिगत या सामूहिक

इस पुस्तिका में व्यक्तिगत सम्पत्ति और सामूहिक सम्पत्ति के विषय में स्वामी जी ने अपना मत

व्यक्त किया है कि समाज के लिए किस प्रकार की सम्पत्ति उपयुक्त मानी गयी है।

40. समन्वय साम्राज्य संरक्षण

इस पुस्तिका में भी स्वामी जी ने लोक कल्याण की भावना से समन्वित साम्राज्य का विवेचन किया है।

41. रास और प्रयोजन

इस पुस्तिका के द्वारा स्वामी जी ने भगवान श्रीकृष्ण और उनकी रासलीला के प्रयोजन को दर्शाया है।

42. महात्रिपुर सुन्दर वरिवस्या

इस पुस्तक में स्वामी जी ने भगवती पराम्बा त्रिपुर सुन्दरी की साधना के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

43. गीता का हुक्मनामा

स्वामी जी ने इस पुस्तक में गीता के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है।

44. भ्रमर गीत

'श्रीमद् भागवत' के दशम स्कन्ध में चार गीत हैं, 'वेणुगीत', 'गोपीगीत', 'युगल गीत' एवं 'भ्रमर गीत'। प्रस्तुत पुस्तक स्वामी जी के प्रवचनों का संग्रह है जो कि श्रीमती पद्मावती झुनझुन वाला द्वारा संकलित है। इनके विशेष अनुरोध पर गोपी गीत और भ्रमरगीत पर स्वामी जी ने प्रवचन किया। प्रस्तुत पुस्तक में जिस समय गोप-बालिकाओं ने भगवान श्रीकृष्ण को उलाहना दिया है उस समय का संकीर्तन है।

45. वेदार्थ चिन्तामणि

इस पुस्तक में वेद भाष्यों की की रचना करके जनता को दिग्भ्रमित होने से बचाया।

करपात्र विचारधारा का खण्डन एवं पुनर्मूल्यांकन

कार्य मात्र के प्रति कोई न कोई कारण अवश्य होता है, जैसे - पुत्र के जन्म में माता-पिता कारण हैं, वैसे ही पुत्र का जीवनादृष्ट भी उसके जन्म में कारण हैं। इसी कारण की चिन्ता में बड़े-बड़े महर्षियों ने विभिन्न दर्शनों की रचना की और परवर्ती विद्वानों ने उन पर विभिन्न प्रकार की टीकाएं भी कीं। इन टीकाओं के भेद में उन-उन आचार्यों का अपनी साधना का प्रकार ही नियामक था। एक आचार्य ने जिन श्रुतियों को अर्थवाद माना, दूसरे आचार्य ने उन्हें मुख्य अर्थ में मान लिया, यही कारण है कि एक वस्तु के विवेचन में एकत्ववाद और द्वैतवाद का जन्म हुआ। आचार्य भर्तहरि ने कहा है -

तस्यार्थवादरूपाणि निश्चित्य स्वविकल्पजाः ।
एकत्विनां द्वैतिनान्च प्रवादा बहवो मताः ।।(45)

ठीक यही स्थिति वेदान्त सूत्र के भाष्यों में भी भेद का कारण बनी, और अनेक आचार्यों ने उनकी व्याख्यायें कीं। जबकि रामानुजाचार्य सविशेष ब्रह्म को अंहपद का वाच्यार्थ मानते हैं, वहीं भगवान शंकराचार्य 'अहं ब्रह्मास्मि' में अहंपद का निर्विशेष ब्रह्म को लक्ष्यार्थ मानते हैं। इस पर दोनों आचार्यों में मतभेद है। और दोनों की आराधना पद्धति भी भिन्न-भिन्न है। दोनों प्रकार के आराधक सद्गति प्राप्त करते होंगे, इसमें संशय भी नहीं। विद्वान लोग तो जिस ग्रन्थ पर टीका लिखते हैं उसके पक्ष को ही प्रौढ़ि के साथ समर्थन करते हैं। इसमें वाचस्पति मिश्र का नाम षड्दर्शन टीकाकार के नाम से प्रसिद्ध है और उनकी टीकाएं प्रत्येक दर्शन के विद्वानों के लिए मान्य है। इसलिए विद्वानों के विचार पर खण्डन-मण्डन चलते हैं, और अपनी कल्पना शक्ति को बलवती बनाने का प्रयत्न भी करते हैं। यह तो विद्या और बुद्धि की शोभा है।

इधर देखा जाता है कि ईसा से लेकर अब तक जितने विदेशी धर्माचार्य हुए वे अपने विरूद्ध सम्प्रदाय वालों के प्रति अशिष्ट शब्द का प्रयोग करते रहे, इसका प्रभाव भारत पर भी दिखाई पड़ता है। कतिपय सम्प्रदायों के लोग अन्य सम्प्रदायों से तथा उनके देवमंदिरों से भी घृणा और द्वेष का वातावरण

बनाते रहे। इस पर शंकराचार्य से लेकर तुलसीदास तक ने संघर्ष मिटाने का प्रयास किया, किन्तु एकत्ववाद में विश्वास न करने वाले लोगों ने न तो सुनी और न उन पर आक्षेप करने से बाज आये।

मार्क्सवाद के खण्डन में स्वामी करपात्री जी महाराज ने "मार्क्सवाद और रामराज्य" नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें दर्शनों की और उनके भेदों की सामान्यतः चर्चा की है। इसके खण्डन में राहुल सांकृत्यायन ने "रामराज्य और मार्क्सवाद" पुस्तक की रचना की जिसमें वैष्णव समुदाय द्वारा शंकराचार्य के मत के खण्डन का प्रश्न उपस्थित किया गया। जिसका खण्डन श्री स्वामी जी ने "राहुल की भ्रान्ति" नामक पुस्तक में केवल शंकराचार्य के पक्ष का समर्थन करने की दृष्टि से वैष्णवों के पक्षों का उपस्थापन तथा शंकराचार्य के पक्ष का प्रतिपादन किया। इस पर बिहार में भ्रमण करने वाले त्रिदण्डी स्वामी श्री विष्वक्सेनाचार्य जी ने "आत्म मीमांसा" नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की। जिसमें कुपित होकर उन्होंने स्वामी करपात्री जी को मायावादी गजराज कहकर ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य कुम्भ स्थल का विदारण लिखा साथ ही कहा गया कि स्वामी करपात्री ने अपनी पुस्तक में श्री भाष्य का खण्डन किया है।(46) उदाहरणस्वरूप -

(1) अद्वैतवादिक रिकुम्भं दृढं विभेन्तु
मातन्यते कृतिवरा खलु वक्ष्यमाणा।(47)

(2) मायाभिराज करपात्र्युप नामधेय
आनन्दको हरिहराख्यसरस्वती सः।
स्वे मार्क्सवाद कृति मध्यगते हि रूद्रेच्छेदे
स्वकीयमदतापरि चिन्ह रूपम्।।(48)

(3) चके श्री भाष्य आक्षेपं तद्विनाशन हेत वे।
कुर्वे.हमात्मामांसा श्री वैष्णवमुदावहाम्।।(49)

इस कुवाच्य का उत्तर देना स्वामी जी के लिए शक्य नहीं था। अतः कुछ लिखा नहीं गया, किन्तु स्वामी जी ने अनन्य भक्तों को वह कुवाच्य अच्छा नहीं लगा और उन लोगों ने उसी प्रकार के कुवाच्य लिखना आरम्भ किया। जैसे -

(1) कश्चिद वाचाट पाशो नररूधिरभुजा मग्रणी वर्ति लज्जो।
याथाज तैक बन्धु: कुटिल कुलकलि: कामिक: कुन्चिताक्ष:।
मार्क्सैकान्ताध्वनीन: कपट पटुवटु: शूर्पजी वातु शिष्ये,
विष्वक्सेनाभिधानं मलिन पति हरे: कौलिक: कालनेमि:।। (50)

(2) रे रे रावण राक्षसाधम पुनर्जागर्षि विध्वंस ने
किं रे दाशरथेश्चमू पति बृहद्गर्जा न संतर्जिता:।
श्रीभद्राधवर राज्य वर्धनरिपु प्रध्वंस दीक्षाव्रतै:
पूज्य श्री करपात्रमान्य चरणैर्व्यर्थं नु वैरायसे।। (51)

इन श्लोकों से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि त्रिदण्डी स्वामी का आरा जिला में बक्सर के निकट रहना और ताटकावन में उनका यह उन्माद कभी भी जगत् के कल्याण के लिए नहीं हो सकता। इस को ध्यान में रखकर श्री स्वामी करपात्री जी ने एक वक्तव्य देकर इस साम्प्रदायिक उन्माद को रोकने का प्रयास किया और उन्हें अवगत कराया कि जितने आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन हैं सबमें अहमर्थ पर विचार है और प्रत्येक विचार यदि श्रीभाष्य का खण्डन ही है तो आपके लिए बड़ी कठिन समस्या है। मेरा श्री भाष्य का खण्डन करना उद्देश्य कभी नहीं रहा। इस पर श्री त्रिदण्डी स्वामी जी ने स्वामी करपात्री जी के "अहमर्थ और परमार्थसार" ग्रन्थ की "अहमर्थ विवेक" नामक ग्रन्थ में आलोचना की। इस ग्रन्थ को स्वामी जी ने देखा, बीच-बीच में "मत्तप्रलाप", "ज्ञानदौर्बल्यं" जैसे कटु शब्दों का प्रयोग देखकर और साम्प्रदायिक उन्माद न बढ़े धर्मसंघ के कार्यों में इस प्रकार मन्थरा का अकाण्ड ताण्डव कोई विपरीत दिशा न बना दे इसलिए मौन रहना ही अच्छा माना।

क्योंकि "अनुंहुकुरूते धनध्वनिं नहि गोमायुरूतानि केसरी।" अर्थात् सिंह मेघों की गर्जना सुनकर गर्जता है सियारों का रोना सुनकर नहीं, किन्तु जब वृन्दावन के श्री रंगाचार्य ने यह संदेश बार-बार भेजा कि - "आत्मगीमांसा" पुस्तक तो श्री नील मेघाचार्य द्वारा रची गयी थी, उसका उत्तर स्वामी करपात्री जी ने अहमर्थ और परमार्थ में लिखा है। किन्तु यह 'अहमर्थ विवेक" त्रिदण्डी स्वामी जी की बुद्धि का परिणाम नहीं, मेरी बुद्धि का परिणाम है। इसका उत्तर कथमपि नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार का प्रचार सुनकर भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय के भूतपूर्व वेदान्त

विभागाध्यक्ष पं0 श्री रघुनाथ शर्मा जी ने "अहमर्थ विवेक समीक्षा" नामक ग्रन्थ का निर्माण किया।(52)

गोलवलकर जी एक किसी पुस्तक के सिद्धान्त जो स्वामी जी को मान्य नहीं थे उसको दृष्टि में रखते हुए उन्होंने जाति, राष्ट्र और संस्कृति नामक पुस्तक लिखकर उनके सिद्धान्तों की समालोचना की। उसके पश्चात् गोलवलकर जी की पुस्तक 'विचार नवनीत' उनके समक्ष आयी तो उसकी समलोचना में स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती जी ने अपना महानग्रन्थ विचार पीयूष लिखा। स्वामी जी के अनुसार "विचार नवनीत" में हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की शास्त्र विरूद्ध व्याख्या की गयी थी। विचार नवनीत में हीं प्रतिपादित हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में जो भ्रमात्मक विचार हैं उसका खण्डन करके अपौरूषेय शास्त्री सनातन धर्म के सिद्धान्तों की उपयोगिता को स्वामी जी ने अपनी पुस्तक "राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ एवं हिन्दू धर्म" में दर्शाया है।

आचार्य रजनीश के ग्रन्थ "सम्भोग से समाधि" का खण्डन स्वामी करपात्री जी ने "क्या सम्भोग से समाधि तक?" में किया है।

आचार्य रजनीश की एक अन्य पुस्तक "समाजवाद से सावधान" के पूरक के रूप में स्वामी करपात्री जी ने "पूंजीवाद, समाजवाद और रामराज्य" की रचना की और ये सिद्ध किया कि रजनीश ने समाजवाद को पूर्णरूपेण समझा नहीं है और बिना समझे ही उसका खण्डन किया है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

1. उपाध्याय आचार्य बलदेव, काशी की पाण्डित्य परम्परा, विश्व विद्यालय प्रकाशन, चौक-वाराणसी-1, 1983, पृष्ठ 67

2. शर्मा कृष्ण प्रसाद, अभिनव शंकर स्वामी करपात्री जी, धर्मसंघ प्रकाशन स्वामी पाड़ा, मेरठ, 1988, पृष्ठ 56

8. धर्मेण शासिते राष्ट्रे, न च बाधा प्रवर्तते।
नाधयो व्याधश्चैव रामेराज्यं प्राशसति।।

- श्रीमद् बाल्मीकि रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर

3. शर्मा कृष्ण प्रसाद, करपात्री एक अध्यध्यन, धर्मसंघ, प्रकाशन मेरठ, 1982, पृष्ठ 113

4. वही, पृष्ठ 114

5. वही पृष्ठ 114, 116

6. वही पृष्ठ 116

7. वही, पृष्ठ 124

9. न वै राज्यं न राजासति् न च दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मणैव प्रजासर्वाः रक्षन्ति, स्म परस्परम्।।

- महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर

10. स्वामी करपात्री जी, 'वेदार्थपारिजात', श्री राधा कृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 1340, द्वितीय भाग पृष्ठ - 900

11. शर्माकृष्ण प्रसाद, अभिनव शंकर, स्वामी करपात्री जी, धर्मसंघ, प्रकाशन स्वामी पाड़ा, मेरठ, 1988 पृष्ठ 368

12. स्वामी करपात्री जी, वेदार्थपारिजात्, श्रीराधा कृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान - कलकत्ता, 1980 पृष्ठ 3

13. श्री करपात्र स्वामी, वेदस्वरूप विशर्म: भक्ति सुधा साहित्य परिषद कलकत्ता 1969, पृष्ठ संख्या 450

14. स्वामी करपात्री जी, वेदा प्रामाण्य मीमांसा, धर्मसंघ शिक्षामण्डल दुर्गाकुण्ड वाराणसी, 1961, पृष्ठ सं0 78

15. श्री करपात्र स्वामी, श्री विद्या रत्नाकरः, श्री विद्या साधनापीठम् वाराणसी, 1986, पृष्ठ 513

16. स्वामी करपात्री जी, भक्ति रसार्णवः, भक्ति सुधासाहित्य परिषद कलकत्ता, 1968, पृष्ठ 249

17. श्री स्वामी करपात्री जी महाराज, विचार पीयूष, धर्मसंघ शिक्षामण्डल, दुर्गाकुण्ड वाराणसी, 1975, पृष्ठ 660

18. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री) महाराज, भक्ति सुधा राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन कलकत्ता, 1964, पृष्ठ 1052

19. स्वामी करपात्री जी, रामायण मीमांसा, श्री काशी विश्वनाथ प्रकाशन, के. 62/93 कर्णघण्टा, वाराणसी, 1962, पृष्ठ 1114

20. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती जी, मार्क्सवाद और रामराज्य, गीता प्रेस गोरखपुर,1958, पृष्ठ 545

21. स्वामी करपात्री जी महाराज, पूंजीवाद, समाजवाद एवं रामराज्य, वाराणसी।

22. स्वामी करपात्री जी, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू धर्म भदैनी-वाराणसी, 1970 पृष्ठ 232

23. श्री करपात्र स्वामी, चातुर्वर्ण्य संस्कृति विमर्शः -1, गोवर्धन मठ, पुरी उड़ीसा, पृष्ठ 324

24. 'चातुर्वण्य संस्कृति विमर्शः' का द्वितीय भाग अभी तक अप्राप्य है। इस पुस्तक के अंतर्गत विदेशियों के जाति व्यवस्था से सम्बन्धित विचार, वेद का प्रामाण्य, गोत्र-विचार पुराण का प्रामाण्य इत्यादि का विस्तृत विवेचन है। इस भाग के अनुपलब्ध होने के कारण इस विषय सूची को हमने प्रथम भाग के सम्पादकीय से प्राप्त किया है।

25. श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी) 'अहमर्थ और परमार्थसार, स्वर्गाश्रमधाम, बड़का राजपुर, जिला आरा, 1962 पृष्ठ 260

26. पूज्यवाद स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती (श्रीकरपात्री जी), भागवत सुधा, राधाकृष्ण धानुका संस्थान, वाराणसी, 1984 पृष्ठ - 302

27. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती 'करपात्री जी', श्री राधा सुधा राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान रमशा रेती- वृन्दावन, पृष्ठ 285

28. स्वामी करपात्री स्वामी 'संघर्ष और शान्ति', धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड वाराणसी, पृष्ठ 255

29. स्वामी हरिहरानन्द, 'गीता जयन्ती और भीष्मोत्क्रानित', राधा कृष्ण धानुका प्रकाशन - वृन्दावन, पृष्ठ 223

31. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती जी महाराज, 'धर्म और राजनीति', आदेश कार्यालय - मेरठ, पृष्ठ 26

32. स्वामी करपात्री जी "श्री भगवततत्व", मूलचन्द्र चोपड़ा सती चबूतरा-बनारस पृष्ठ 622

33. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, शंकर सिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का समाधान, सामवेदी रामघाट काशी, पृष्ठ 192

34. करपात्री स्वामी, हिन्दू कोड बिल प्रमाण की कसौटी पर, अखिल भारतीय हिन्दू कोड विरोध समिति 161-सी चितरन्जन एवेन्यू, पृष्ठ संख्या 258

35. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, गम्भीर विचार की आवश्यकता अखिल भारतीय रामराज्य परिषद, निगम बोध घाट, दिल्ली, पृष्ठ 20

36. स्वामी करपात्री जी महाराज, संकीर्तन मीमांसा और वर्णाश्रम मर्यादा, धर्मसंघ दुर्गाकुण्ड वाराणसी - पृष्ठ 111

37. स्वागी करपात्री जी, पिवत भागवतं ररामालयम्, धर्मसंघ प्रकाशन स्वामी पाड़ा - मेरठ, पृष्ठ 96

38. स्वामी करपात्री जी, 'विदेश यात्रा शास्त्री पक्ष' धर्मसंघ दुर्गाकुण्ड वाराणसी, पृष्ठ 117

39. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, श्री विद्या वरिवस्या, अखिल भारतीय धर्मसंघ, वाराणसी, पृष्ठ 264

40. स्वामी करपात्री जी, 'धर्म कृत्योपयोगि - तिथ्यादिनिर्णयः कुम्भपर्व - निर्णयश्च, धर्मसंघ दुर्गाकुण्ड वाराणसी।

41. स्वामी करपात्री जी, रामायण महाभारत काल मीमांसा धर्मसंघ प्रकाशन दुर्गाकुण्ड वाराणसी, पृष्ठ 56

42. स्वामी करपात्री जी, "क्या सम्भोग से समाधि?" सन्तशरण वेदान्ती, दुर्गाकुण्ड - वाराणसी, पृष्ठ 105

43. श्री करपात्री स्वामी, 'रामराज्य', सनातन धर्म प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ 40

44. स्वामी करपात्री जी, वाज सनेयी माध्यन्दिनी शुक्ल यजुर्वेद संहिता भाष्य, श्री राधा कृष्ण धुनका संस्थान - वृन्दावन पृष्ठ 296

45. शर्मा, श्री रघुनाथ, 'अहमर्थ' विवेक समीक्षा, बिहार धर्मसंघ शाखा विन्दगांवा बन्धु छपरा, भोजपुरा, 1974, पृष्ठ 3

46. वही पृष्ठ 4

47. वही पृष्ठ 4

48. वही पृष्ठ 4

49. " पृष्ठ 4

50. " पृष्ठ 5

51. " पृष्ठ 5

52 " पृष्ठ 6

द्वितीय अध्याय

स्वामी जी के अनुसार धर्म का स्वरूप एवं उसकी व्याख्या

द्वितीय अध्याय

स्वामी जी के अनुसार धर्म का स्वरूप एवं उसकी व्याख्या

"धर्मदर्शन में स्वामी करपात्री जी के योगदानों का आलोचनात्मक विवेचन", यह प्रतिपाद्य विषय सामने आते ही धर्म का स्वरूप निर्धारित करने के लिए धर्म के लक्षण को जानने की इच्छा बलवती हो उठती है, फिर लक्षण पदार्थ क्या है? इसे जाने बिना धर्म का लक्षण शुद्ध है या अशुद्ध इसका ज्ञान नहीं हो सकता है अतः सर्वप्रथम लक्षण का लक्षण बताना आवश्यक समझूंगी -

लक्षण का लक्षण

किसी भी वस्तु के असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। वस्तु का असाधारण होना इस बात से निश्चित होता है कि उसको बताने वाले लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव इन तीन दोषों से रहित हों। (1)

अव्याप्ति -

सम्पूर्ण लक्ष्यों को बताने वाला लक्षण होता है लक्षण लक्ष्य के एक अंश में जाये तथा दूसरे अंश का बोधन न करे तो उस लक्षण को अव्याप्ति दोष से ग्रस्त माना जाता है। जैसे - गाय का लक्षण कपिल रूपवत् माना जाये, तो जो कपिल रंग की होगी उसका बोध लक्षण से होगा। परन्तु कपिल रूपवत् लक्षण से रक्तपीत वर्ण वाली गायों का बोध नहीं हो सकेगा। अतः गाय का लक्षण कपिल रूपवत् एक अंश में जाने से तथा ऊपर अंश का बोध न करा पाने से अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हुआ। (2)

अतिव्याप्ति -

अतिव्याप्ति दोष से वह लक्षण ग्रस्त माना जाता है जो लक्ष्य का बोध कराते हुए लक्ष्य से इतर पदार्थों का भी बोध करावे। जैसे - गाय का लक्षण 'सींग वाली' ऐसा माना जाये तो इससे सम्पूर्ण गायों का बोध तो हो जायेगा क्योंकि सम्पूर्ण गायें सींग वाली हैं परन्तु इस लक्षण के द्वारा भेड़, बकरी, भैंस इत्यादि का भी बोध होने लगेगा। क्योंकि वे भी सभी सींग वाले हैं। अतः श्रृंग वाली गायें हैं यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त माना गया। (3)

असम्भव -

असम्भव दोष से वह लक्षण ग्रस्त होता है जो लक्ष्य का बोध किसी भी तरह से न कराता हो तथा लक्ष्य से इतर का जो अभीष्ट नहीं है बोध कराता हो उसे असम्भव दोष से ग्रस्त मानते हैं। जैसे- 'एक शफ वाली गाय है' यह किसी ने गाय का लक्षण दिया। परन्तु गाय को एक शफ होता ही नहीं तथा घोड़ा को एक शफ होता है अतः यह लक्षण लक्ष्य गाय में बिल्कुल नहीं जाता है तथा लक्ष्य से इतर घोड़ा का बोध कराता है अतः 'एक शफ वाली गाय ही यह लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त हुआ।(4)

लक्षण भेद -

ऊपर बतलाये गये लक्षण को विद्वानों ने दो वर्गों में विभक्त किया है (5) -

(1) तटस्थ लक्षण

(2) स्वरूप लक्षण

तटस्थ लक्षण -

तटस्थ लक्षण उसे कहते हैं जो विधेय का अन्वयी न होकर भी एवं अविद्यमान रहकर भी बोध्य पदार्थ का बोधन करा दे। तटस्थ लक्षण बोध्य पदार्थों का इतर पदार्थों से व्यावर्तन कराता है। यह व्यावर्तन सजातीय भेद, विजातीय भेद तथा स्वगत भेद वाला होता है। जैसे - गाय का लक्षण सास्नादिमान गाय पदार्थ है ऐसा लक्षण गाय का किया गया। यह लक्षण सजातीय महिष इत्यादि पशुओं से गाय का भेद कराता है। विजातीय घड़ा, कपड़ा इत्यादि से गो पदार्थ का पृथक बोध कराता है तथा लांगूल्य (पृच्छ) इत्यादि से पृथक गाय पदार्थ का व्यावर्तन कराता है अतः सास्नादिमान गऊ को यह गाय पदार्थ का तटस्थ लक्षण हुआ।

स्वरूप लक्षण -

किसी भी पदार्थ का स्वरूप ही उसका लक्षण होता है। यह स्वरूप लक्षण का लक्षण हुआ। यहां स्वरूप पद से पदार्थ में रहने वाली जाति अथवा धर्म लिया जाता है स्वरूप लक्षण से पदार्थ का धर्म तथा धर्म के साहचर्य से जाना जाने वाला धर्मी इन दोनों का साहचर्य स्वरूप लक्षण का मूल है जैसे- गाय

का स्वरूप लक्षण गोत्व हुआ। यह निश्चित है कि गोत्व सभी गायों में समान रूप से सर्वदा रहेगा एवं जहां-जहां गोत्व रहेगा वहां-वहां सभी स्थानों में गो पदार्थ अवश्य रहेगा, ठीक इसी तरह जहां-जहां गो पदार्थ रहेगा, वहां-वहां गोत्व अवश्य रहेगा यही धर्म और धर्मी का साहचर्य स्वरूप लक्षण कहलाता है।(7)

धर्म का लक्षण -

धर्म का लक्षण विचार करने के पूर्व हमें यह निश्चय करना पड़ रहा है कि हमारा बोध्य पदार्थ क्या है? क्योंकि आज वर्तमान युग में धर्म के नाम से अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं - हिन्दू, सनातन धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म आदि-आदि। प्राचीन ऋषियों एवं विचारकों ने धर्म के लक्षण बतलाये हैं - 'यतोम्युदय निश्रेयससिद्धः स धर्मः (8) चोदना लक्षणों अर्थो धर्मः(9) विहितकर्म जन्योधर्मः।(10)

वेद प्रणीहितो धर्मो, ह्यधर्मस्त्वद् विपर्ययः
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयं भूरिति कथ्यते।(11)

इन उपर्युक्त इन सभी स्थलों में धर्म का नाम लिया गया है, वहां यह नहीं बतलाया गया कि धर्म पद से कौन सा धर्म लिया जाये? व्याख्याकारों ने भी आज तक इस पर प्रकाश डालने से अपने को वंचित रखा। अतः प्रस्तुत प्रसंग में उपयोगी समझकर मैं इस पर अपना विचार व्यक्त करना आवश्यक समझती हूँ, कि विचार करने में सभी स्वतंत्र हैं फिर भी व्यवहार में परतंत्रता है। अतः विचार को स्वतंत्रता से उक्त विषय पर मेरे विचार इस प्रकार हैं -

लक्षणकारों ने जब इन धर्म लक्षणों को बनाया उस समय उनके सामने धर्म जगत् में फैली आज की भयावह स्थिति नहीं रही होगी। अतः उन्होंने धर्म का लक्षण प्रस्तुत करते समय कोई विशेष देना उचित नहीं समझा। इसका कारण यह है कि सम्भव एवं व्यभिचार इन दो दोषों के होने पर ही व्यावर्तन के लिए विशेषण सार्थक होता है। जैसे - नीला, पीला, हरा, काला, श्वेत अनेक रंगों के घड़ा होने से उसमें नील घट, पीत घट, श्वेत घट, रक्त घट, श्याम घट इत्यादि विशेषण दिये जाते हैं। वह्नि अग्नि केवल उष्ण होता है उष्ण से इतर उसमें कोई और धर्म नहीं होता अतः आग के साथ गर्म विशेषण लगाये जाने की आवश्यकता हनी है। 'गर्म आग लाओ' ऐसा नहीं कहा जाता।

इस तरह धर्म पद के साथ कोई विशेषण अपने समय में लक्षणकारों ने नहीं लगाया जाता। सनातन धर्म से अन्य सभी धर्म बहुत बाद के हैं इससे सम्पूर्ण इतिहास जगत् सहमत है अतः अब जब धर्म के साथ अनेक विशेषण लग गये तो श्रीमद् भागवत् महपुराण में धर्म की जिज्ञासा करते हुए महाराज युधिष्ठिर ने भगवान श्री शुकदेव जी से पूछा -

भगवन् । श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मम् सनातनम्।[12] यहां पर धर्म की जिज्ञासा करते हुए महाराज परीक्षित ने धर्म के साथ सनातन विशेषण दिया है जहां तक मेरा अध्ययन है इसके पूर्व किसी ग्रन्थ में धर्म के साथ कहीं भी सनातन विशेषण नहीं दिया गया है। अतः धर्म का लक्षण करते समय यह स्पष्ट है कि प्राचीन ग्रन्थों में तात्कालिक कोई अन्य धर्म न होने से मानव मात्र का हित साधन करने वाला सनातन धर्म ही लक्षणों के द्वारा बतलाया गया है। अतः मैं धर्म का लक्षण निर्धारित करते समय अत्यन्त प्राचीन सनातन धर्म का ही लक्षण बताना चाहूंगी।

धर्म का स्वरूप स्पष्ट कर देने से ही धर्म का लक्षण हो गया क्योंकि हमारा प्रतिपाद्य धर्म क्या है? यह एक गम्भीर समस्या थी। अतः उस पर अपनी बुद्धि के अनुसार अपने मन्तव्यों को प्रस्तुत करना मैंने उचित समझा। यदि विद्वान मेरे विचारों से सहमत हों तो धर्म के इस स्वरूप से ही धर्म का लक्षण इस प्रकार सलझ लें -

अनादि परम्परा से प्राप्त वेद मूलक श्रुतियों द्वारा जाना जाने वाला नियम विशेष को धर्म कहते हैं। इसके प्रतिपादक वेदादि शास्त्र तथा मनु आदि की स्मृतियां हैं।

धर्म का लक्षण विचार करते समय मुझे ध्यान है कि धर्म का लक्षण की जिज्ञासा करने वाली मैं प्रथम व्यक्ति नहीं हूँ। धर्म मानव जीवन के चार पुरूषार्थों में एक पुरूषार्थ है तथा इस लोक में प्रधान पुरूषार्थ के रूप में जाना जाता है। अतः उसका लक्षण सभी धर्म शास्त्रकारों ने बताया है तथा धर्म के सभी पक्षों को वेद का आधार मानकर पूर्णरूपेण प्रस्तुत किया है। जैसे -

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतद् चतुर्विधं प्राहुः साक्षादधर्म स्य लक्षणम्।[13]

उपर्युक्त श्लोक में महर्षि मनु ने चार प्रकार से धर्म को लक्षण बतलाया है।

(1) श्रुति :-

श्रुति का तात्पर्य है, 'वेदों द्वारा जाना जाने वाला' अर्थात् जो वेदमूलक हैं वे धर्म हैं जिन धर्मों के विषय में वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती है वे धर्म नहीं माने जाने जायेंगे अपितु उन्हें धर्माभास कहा जायेगा। जैसे - जैन, बौद्ध, मुस्लिम, पारसी इत्यादि। इन विरूद्ध धर्मों में धर्माचार्यों ने जिन क्रियाकलापों का उल्लेख किया है उनसे वेद से किसी भी प्रकार से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः उन्हें धर्म की कोटि में न मानकर श्री स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में नियम विशेष का पालन करने वाला सम्प्रदाय विशेष बतलाया है।(14)

स्मृति :-

यहां स्मृति पद से धर्मशास्त्र का ग्रहण उक्त श्लोक के व्याख्याकार आचार्य उलूक भट्ट ने स्पष्ट किया है।(15) जैसा कि हमारे पूर्वाचार्यों की परम्परा रही है, स्मृतियों को श्रुतिमूलक माना है। स्मृतियों द्वारा लौकिक संस्कृत में जिन धर्मों का विवेचन किया गया है वे धर्म मंत्र ब्राह्मणात्मक वेद में कहीं अवश्य है। इसी बात को पुष्ट करते हुए कालिदास ने -

श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छति।(16)

महावैयाकरण आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ग्रन्थ में वाक्य एवं पद के विवर्त उपादान कारण शब्द ब्रह्म की चर्चा करते हुए वेद ही शब्द ब्रह्म के स्वरूप हैं(17) तथा उसी को आधार मानकर स्मृतियों की रचना बतायी।(18)

स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टमयोजनाः।

तमेवाश्रित्य लिंगेभ्यो वेद विभ्दिः प्रकल्पिताः।।

आचार्य भर्तृहरि की इस कारिका से स्पष्ट है कि स्मृतियां श्रुति मूलिका हैं। अतः वेद एवं धर्मशास्त्र इन दोनों में वैमत्य होने पर धर्मशास्त्रों की अपेक्षा वेदों के प्राबल्य को धर्मशास्त्रकारों ने माना है।(19)

सदाचार :-

सदाचार धर्म का साक्षात् लक्षण है इसका उल्लेख करते हुए महर्षि मनु ने सदाचार को

परिभाषित करते हुए कहा है -

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य क्रमागतः।
वर्णानाम् सान्तरालानाम् स सदाचार उच्यते।।(20)

सदाचार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे वेदमूलक हों ही। यहां महर्षि मनु ने वर्णों एवं जातियों में प्रचलित उस परम्परा को भी धर्म कहा है जिसे अनादिकाल से लोग मानते चले आ रहे हैं तथा हमारी धार्मिक कर्मों से जुड़ा है।

सत्य च प्रियमात्मनः

अपनी आत्मा के अनुसार किया गया प्रियकर्मानुष्ठान भी धर्म पद से बताया गया है। अपनी आत्मा के अनुसार प्रिय करने का तात्पर्य यह नहीं होना चाहिए कि समाज को अप्रिय तथा उसका अहित साधक हो। अतः अन्य को कष्ट एवं क्षति न पहुंचाते हुए अपनी आत्मा के अनुसार किया गया प्रत्येक कर्मानुष्ठान धर्म होता है।

दशकं धर्म लक्षणम्

चार प्रकार से बतलाये गये इन धर्म लक्षणों के अतिरिक्त भी धर्म के दस लक्षण बतलाये गये हैं-

धृतिः क्षमा दमो स्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीः विद्या सत्यम् क्रोधः दशकम धर्मलक्षणम् ।।(21)

(1) धैर्य रखना, (2) क्षमाशील होना, (3) इच्छाओं पर नियंत्रण रखना, (4) चोरी न करना, (5) सर्वदा शास्त्रीय विधि से बतलाई गई क्रियाओं द्वारा मन, बुद्धि, कर्म एवं वाणी आदि को पवित्र रखना, (6) शौच इन्द्रिय निग्रह, (7) ज्ञान, (8) विद्या - चौदह विद्याएं, (9) सर्वदा सत्य भाषण, (10) क्रोध न करना। ये धर्म के दस लक्षण बतलाये गये है। पूर्व प्रसंग में बतलाये गये चार धर्मों के अतिरिक्त इन दस धर्म लक्षणों का प्रतिपादन इसलिए आवश्यक था कि पूर्वोक्त चार प्रकार के धर्मों को जानने के लिए शास्त्रों की आवश्यकता है परन्तु बाद में बतलाये गये दस धर्म लक्षणों को जानने के लिए शास्त्र आवश्यक नहीं है। जैसा कि इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि ने लिखा है -

इदं पुण्य मिदं पाप मित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्र प्रयोजनम्।।(22)

यह पुण्य है तथा यह पाप है इस बात को जानने के लिए महापण्डित से लेकर महामूर्ख, चाण्डाल पर्यन्त किसी को भी शास्त्र से कोई प्रयोजन नहीं रहता है। इस प्रकार आचार्य के वचनों से बाद के बतलाये हुए दए धर्म अर्थगत होते हैं। आरम्भ में प्रतिपादित चार प्रकार के धर्मों को जानने के लिए तो शास्त्र आवश्यक हैं ही।

धर्म के स्वरूप लक्षण

धर्म का स्वरूप लक्षण बतलाते समय यह कहना पर्याप्त होगा कि परम्परा विच्छेद से शून्य होकर वेदादि शास्त्र प्रतिपाद्य धर्म ही धर्म का स्वरूप लक्षण हुआ। यहां पर लक्ष्य एवं लक्षण का साहचर्य इस प्रकार है - जहां-जहां परम्परा विच्छेद शून्य हो कर वेदादि शास्त्र प्रतिपाद्यत्व होगा वहां सर्वत्र धर्मत्व रहेगा, एवं जहां-जहां धर्मत्व रहेगा वहां-वहां परम्परा विच्छेद शून्यत्व होकर वेदादि शास्त्र प्रतिपाद्यत्व अवश्य होगा। यही लक्ष्य एवं लक्षण का सामनैत्य समझना चाहिए। अतः उपरोक्त लक्षण धर्म का स्वरूप लक्षण हुआ।

धर्म का तटस्थ लक्षण -

धर्म का तटस्थ लक्षण विचार करते समय तटस्थ लक्षण के लक्षणों को ध्यान में रखकर विचार करने पर बैशेषिक दर्शन में बताये गये धर्म के लक्षण तटस्थ लक्षण की कोटि में आते हैं -

यतोभ्युदय निश्रेयस सिद्धि स धर्मः (23) - इस धर्म लक्षण में यह बतलाया गया है कि इस लोक में जिससे अभ्युदय हो तथा मरणोपरान्त परलोक में मोक्षादि के द्वारा सुख की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। यहां यह समझ लेना चाहिए कि धर्मानुष्ठान क्रिया मात्र है अतः इस लोक में सुख मरणोपरान्त परलोक में मोक्षादि की प्राप्ति के समय क्रियाएं नहीं रह जाती हैं। क्योंकि धर्म साधन है तथा सुख इत्यादि साध्य। जैसे नदी पार जाने के लिए नौका साधन है तथा नदी पार का स्थल प्राप्त करना साध्य। जब तक पार जाने वाला नौका पर रहता है तब तक उस पार के स्थल उसे प्राप्त नहीं रहते एवं पार स्थल प्राप्त कर लेने पर नौका से सम्बन्ध छूट जाता है। ठीक उसी तरह कर्मानुष्ठान इसलिए करते हैं कि सुख की

प्राप्ति हो। यदि सुख पहले से ही प्राप्त है तो उसके लिए कर्मानुष्ठान की जरूरत नहीं पड़ेगी। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वस्थ व्यक्ति को दवा की जरूरत नहीं पड़ती और सुख के प्राप्त हो जाने पर साधन रूप कर्मानुष्ठान नहीं रहते हैं। अतः अविद्यमान होते हुए विधेय में अन्वित न होकर इतर का व्यावर्तन कराना ही तटस्थ लक्षण का लक्षण है जो वैशेषिक दर्शन के उक्त धर्म लक्षण में गतार्थ है। अतः (यतोम्युदम निःश्रेयस सिद्धि) को धर्म का तटस्थ लक्षण मानना चहिए।

धर्म का लक्षण दर्शनकारों की दृष्टि में

महर्षि जैमिनि -

महर्षि जैमिनि ने धर्म तत्व की वुभुत्सा से मीमांसा दर्शन का आरम्भ किया। सम्पूर्ण बारह अध्यायों में वेद प्रतिपादित धर्म एवं धर्मानुष्ठान यज्ञादि का महत्व प्रक्रिया धर्म एवं यज्ञों के लक्षण अधिकारी भेद से धर्म भेद यज्ञानुष्ठान इत्यादि के भेदों का सम्यक निरूपण किया। प्रथम अध्याय में ही धर्म की चर्चा करते हुए महर्षि जैमिनि के मन में धर्म के लक्षण के विचार उदित हुए होंगे। अतः 'अथातो धर्म जिज्ञासा'[24] इस प्रथम सूत्र की रचना के बाद धर्म के लक्षण बताने के लिए उन्होंने चोदना लक्षणो अर्थोधर्मः इस सूत्र की रचना की। अथातों में व्याख्याकारों ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में 'अथ' शब्द को अनन्तरवाची मानकर व्याख्या करते हुए बतलाया है कि अर्थ, काम एवं मोक्ष के साधन की इच्छा होने पर इन तीनों के कारण धर्म को ही आचार्य जैमिनि ने माना अतः अर्थ आदि पुरूषार्थों को प्राप्त करने की इच्छा होने के बाद उक्त तीन पुरूषार्थों के साधन के रूप में धर्म का जानना नितान्त आवश्यक है अतः धर्म की जिज्ञासा हुई। उक्त जिज्ञासित धर्म को जानने के लिए वेदादि शास्त्र हैं उन सभी शास्त्रों द्वारा बतलाया गया कर्मानुष्ठान ही धर्म है इस आशय से शास्त्र प्रतिपादित सभी धर्मों में गतार्थ होने वाला एक लक्षण बताया - 'चोदना लक्षणोर्थोधर्मः। [25] उक्त सूत्र की संक्षिप्त व्याख्या महाराज करपात्री जी ने - प्रवर्तक, निवर्तक, विधि, निषेध रूप वैदिक वाक्यों से ही धर्म एवं अधर्म दोनों का बोध होता है। ऐसा अर्थ बताकर उक्त सूत्र को धर्म का स्वरूप लक्षण माना है।[26]

वैशेषिक दर्शन -

वैशेषिक दर्शनकार कणाद् ने भी धर्म को जानने की दृष्टि से 'यतोभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः' यह लक्षण बतलाया। इस सूत्र के अनुसार अभ्युदय एवं निःश्रेयस के साधन को धर्म मानते हैं। यद्यपि वैशेषिक दर्शनकार ने प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो ही प्रमाणों की चर्चा की है तथापि इनके मत में शब्द प्रमाण भी अनुमान प्रमाण में अन्तर्भूत है। जैसे हेतु एवं साध्य, धूम एवं वहिनका व्याप्ति सम्बन्ध होता है उसी तरह उनके यहां शब्द एवं अर्थ का व्याप्ति सम्बन्ध है जैसे - लिंग से लिंगी का अनुमान होता है। वैसे ही शब्द से अर्थ का अनुमान होता है। बैशेषिक दर्शन भी शब्दों में वेदों का ही प्रमाण मानता है। 'तत्कृतिः वेदः' इत्यादि सूत्रों के द्वारा वैशेषिक वेद को ईश्वर कृत मानता है। इस दृष्टि से उनका अभ्युदय निःश्रेयस साधन धर्म भी वैदिक सिद्धान्तों पर आधारित है। वे धर्म में मनमाना पन नहीं करते हैं।

लोकिक अभ्युदय और उसका लौकिक साधन प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सिद्ध होने से लौकिक अर्थ काम के अन्तर्गत ही है किन्तु लौकिक पशु पुत्रादि और अलौकिक स्वर्गादि अभ्युदय एवं मोक्ष अलौकिक साधन प्रत्यक्षादि गम्य नहीं है। उनका ज्ञान केवल वेदादि शास्त्रों से ही हो सकता है अन्यथा यह सूत्र सापेक्ष ही बना रहेगा। जैसे - एक बहुत सुन्दर भवन था उसके सामने एक अत्यन्त अनिंद्य सुन्दरी खड़ी थी। दोनों में अतिशयता देखकर कौतुहलवश किसी ने प्रश्न किया - 'यह भवन किसका है?' सुन्दरी ने उत्तर दिया मैं जिसकी पत्नी हूँ उसी का भवन है। आकांक्षा शान्त न हुई फलतः पुनः प्रश्न हुआ 'तू किसकी भार्या है?' उत्तर मिला जिसका यह भवन है। इस तरह दोनों प्रश्नों का उत्तर तो हो गया है परन्तु यहां उत्तर भी प्रश्न सापेक्ष है तथा प्रश्न भी उत्तर सापेक्ष। अतः भवन एवं स्त्री के स्वामी का निर्णय न हो सका। ठीक वैसे ही धर्म क्या है? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए उत्तर मिला - यतोभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः' अर्थात् ,जिससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस सिद्ध हो। पुनः प्रश्न हुआ किससे उसकी सिद्धि हो? उत्तर मिला धर्म से। यहां प्रश्न एवं उत्तर दोनों स्थिति में हैं अतः वैशेषिक दर्शनकार द्वारा बतलाया गया 'यतोम्युदय निःश्रेयस सिद्धि स घर्मः' यह धर्म का तटस्थ लक्षण नहीं बन सकता है। यह श्री स्वामी जी का मत है।(27)

सभी दर्शनों की दृष्टि में धर्म का सामान्य- तथा लक्षण विचार -

उपर्युक्त धर्मशास्त्र वैशेषिक दर्शन एवं मीमांसा दर्शन की दृष्टि में धर्म का लक्षण विचार किया गया है परन्तु यहां यह ज्ञेय है कि इन दो आस्तिक दर्शनों से भिन्न चार और आस्तिक दर्शन हैं। उन आस्तिक दर्शनों को ध्यान में रखकर धर्म का सामान्य रूप से लक्षण विचार श्री स्वामी करपात्री जी ने किया है -

"किं बहुना, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वोत्तर मीमांसा इन छः आस्तिक दर्शनों, पुराणों, मन्वादि धर्मशास्त्रों को सम्मत धर्म का लक्षण एक ही है। उनमें मतभेद की कल्पना अज्ञान मूलक है। अर्थात् वेदादि शास्त्रीय कर्म या तज्जन्य अदृष्ट या वृत्ति या संस्कार ही धर्म है, इनमें अत्यल्प ही दार्शनिक भेद है, व्यावहारिक भेद तो बिल्कुल ही नहीं है।

सांख्यवादी भी सत्व पुरूषान्यता ख्याति रूप विवेक के उपयोगी सत्व गुण के विकास के लिए निष्काम स्वधर्मानुष्ठान आवश्यक मानते हैं। उनके मत में भी धर्म का ज्ञान वेदादि शास्त्रों से ही गम्य है। योग दर्शन के अनुसार चितवृत्ति निरोध रूप योग के अनुगुण स्वधर्मानुष्ठान होता है और स्वधर्म का ज्ञान वेद से ही होता है, क्योंकि सांख्य और योग दोनों ही वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं।

जैमिनि का मीमांसा दर्शन तो वस्तुतः 'धर्म मीमांसा' नाम से ही प्रसिद्ध है। महपाद श्री कुमारिल आदि उसके व्याख्याता हैं। उनके अनुसार 'चोदना लक्षणोअर्थो धर्मः' यह धर्म का लक्षण है इसका अर्थ है। इसका अर्थ है कि प्रवर्तक - निर्वतक विधि निषेध रूप वैदिक वाक्यों से ही धर्म एवं अधर्म दोनों का बोध होता है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार भी ब्रह्म ज्ञान के लिए वेदादि शास्त्रों एवं यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्म अपेक्षित होते हैं। फलतः पूर्वोत्तर मीमांसकों का धर्म लक्षण एक ही है। यह प्रसिद्ध है 'व्यवहारे भाटटनयः'. अर्थात् वेदान्ती व्यवहार में भाट्ट सिद्धान्त ही प्रमाण मानते हैं। भाट्ट मत में धर्म और ब्रह्म दोनों शास्त्रैकगम्य हैं। वेदान्त को भी यही मान्य है। जैसे- 'चक्षुषैव रूपमुयलम्यते, न श्रोत्रादिना' यानि आंखों से ही रूप की प्रतीति होती है, श्रोत आदि से नहीं, इसी तरह 'अलोकादि सहकृतेन दोषरहितेन मनः संयुक्तेन चक्षुषा रूपमुपलभ्यते एन, न नोपलभ्यते - यानि आलोक प्रकाश आदि सहकारिकारणों से सहकृत दोषरहित मनः संयुक्त चक्षु रूप का ज्ञान होता ही है, नहीं होता ऐसा नहीं। इस प्रकार अयोग

और अन्य योग की निवृत्ति से चक्षु एवं रूप का असाधारण सम्बन्ध निर्धारित होता है। उसी तरह चोदना से धर्म का बोध होता है, अन्य प्रमाण से नहीं - अधिकारी पुरूषों द्वारा उपक्रमोंपसंहारादि तात्पर्य ग्राहकषड्विधलिंगे द्वारा विचार्यमाण चोदनाओं से धर्म का बोध अवश्य ही होता है नहीं होता ऐसा नहीं। इस प्रकार अयोग और अन्ययोग के निवृत्तिपूर्वक धर्म एवं वेदशास्त्रों का असाधारण सम्बन्ध सिद्ध होता है। इसी तरह 'तन्त्वौपनिषदं पुरूषं पृच्छामि' ब्रह्म के अनुसार उपनिषदों एवं पुरूष का भी असाधारण सम्बन्ध विदित होता है। उपनिषभ्दिरेव पुरूषोधिगम्यत, नान्येन मानेन - उपनिषदों से ही पुरूष अथवा आत्मा का अवगम होता है, अन्य से नहीं। नावेद विन्मनुते तं वृहन्तम - अवेद विद ब्रह्म को नहीं जानता। साधनचतुष्टयी सम्पन्नेन पुरूषेण उपक्रमो संहारादि मिलिंगेः विचार्य माणामिरूप निषाभ्दिः पुरूषोधिगम्यत एव न नाधिगम्यते - अर्थात् साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी पुरूष को उपक्रमोपसंहारादि षड्विधलिंगो द्वारा विचार करने पर उपनिषदों से ब्रह्मज्ञान अवश्य ही होता है, नहीं होता ऐसा नहीं।

यहां यह समझ लेना चाहिए कि यदि अलोकादि सहकारी न हों अथवा नेत्र में दोष हो अथवा मन असावधान हो तब भले ही चक्षु से रूप का बोध न हो, अन्यथा निश्चित ही चक्षु से रूप को बोध होता है। इसी तरह यदि विवेक वैराग्यादि साधन न हो या षडविधिलिंगे के निर्धारण की क्षमता न हो तब भले ही ब्रह्म ज्ञान न हो, अन्यथा निश्चय ही उपनिषदों से ब्रह्म ज्ञान होता है।

इस दृष्टि से धर्म एवं ब्रह्म दोनों ही समान रूप से वैदेक समधिगम्य है। यह बात अलग है कि शब्दों से धर्म का परोक्षज्ञान और शब्दों से ही ब्रह्म का उपरोक्ष ज्ञान होता है। गीता में भगवान ने भी निम्नलिखित वाक्य से इस पक्ष का पोषण किया है :-

"यः शास्त्रविधि मुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिम वाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।।
ज्ञात्वां शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।

अर्थात् जो शास्त्र विधि का उल्लंघन कर मनमानी कर्म करता है उसे सिद्धि सुख शान्ति नहीं मिलती। इस कथन से अन्य योग निवृत्ति सिद्ध होती है। तुम्हारी कार्य अकार्य व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है, अतः शास्त्र विधान से उक्त कर्म को जानकर ही कर्म करो। इससे आयोग निवृत्ति भी कही गयी है। इन्हीं परिपुष्ट प्रगाण के आधार पर महपाद ने विभिन्न धर्मलक्षणों का खण्डन किया है।[28]

धर्म के प्रतिपादक शास्त्रों के मौलिक ग्रन्थ एवं उन पर श्री स्वामी जी के मन्तव्य

वेद :-

श्री स्वामी जी ने धर्मदर्शन पर विचार करते समय परम्परानुसार वेदों को ही प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। श्री स्वामी जी का मन्तव्य है कि वेद उत्पत्ति एवं विनाश से रहित चेतन अनन्त एवं सृष्टि का मूल कारण है। श्री स्वामी जी की दृष्टि में वेद स्वयं ईश्वर रूप है, उनका कोई निर्माता नहीं है। आधुनिक विचारक वेदों को सादि एवं पुरूष कर्तृक बताते हैं।[(29)] संस्कृत साहित्य की परम्परा में भी न्याय दर्शन मतानुयायी वेदों को ईश्वर कर्तृक मानते हैं। [(30)] परन्तु मीमांसा शास्त्र के मतानुयायी इसके विरूद्ध हैं। वे वेदों को अपौरूषेय बतलाते हैं। उसमें यह हेतु देते हैं कि सम्प्रदाय का विच्छेद वेदों में नहीं है। यह सम्प्रदाय कब से चला इसको बताने का साहस कोई नहीं कर सकता है और न ही इसके कोई प्रबल प्रमाण हैं। साथ ही वेदों के कर्ता का स्मरण भी नहीं किया गया। अतः वेद अपौरूषेय है। इस बात को मानने वाले न केवल मीमांसा शास्त्र के मतानुयायी हैं अपितु आधुनिक भक्त कवियों ने भी इसी बात को पुष्ट किया है -

जाके सहज स्वांस सुति चारी।
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।। [(31)]

यहां भगवान राम का परिचय देते हुए भक्त शिरोमणि श्री तुलसीदास जी ने वेदों को भगवान का स्वांस बतलाया है। आचार्य उव्वट ने भी वेदों का परिचय देते हुए - "यस्य निःस्वसितं वेदाः' कहकर वेदों को भगवान का निःश्वास बतलाया है। यहां यह विचारणीय है - यदि हम प्राचीन विद्वान एवं तर्क के बल पर अपनी बात कहने वाले नैयायिक की बातों को प्रमाण माने तो वेदों का निःश्वास के रूप में होना सिद्ध नहीं हो पायेगा क्योंकि सवांस से ही स्वांस लेने वाले की सत्ता सुरक्षित रह पाती है। हम अपने जीवन में यदि सवांस लेना बन्द कर दें तो हम जीवित नहीं रह पायेंगे। यह सभी का अनुभव है। वेद ईश्वर के श्वांस हैं अतः इस प्रसंग में सामान्य व्यक्ति भी इससे परिचित होगा कि यदि बाद में ईश्वर ने वेदों की रचना की तो श्वांस के बिना ईश्वर कैसे जीवित था? नैयायिक वेदों को ईश्वर रचित मानता है। इसमें तर्क यह देता है कि जितने भी कार्य हैं कारण पूर्वक किसी काल विशेष, देश विशेष में किसी कर्ता विशेष से सम्पादित होते हैं। ग्रन्थ रचना भी कार्य है इसका कोई कर्ता होगा। मनुष्यों की बुद्धि से इस तरह की ग्रन्थ रचना सम्भव नहीं है। अतः वेदों का रचयिता कोई अलौकिक पुरूष सिद्ध

हुआ।

परन्तु नैयायिकों की बातों को यथावत् लेते हुए तर्क के पथ पर दौड़ने वाले नैयायिकों के मतों की प्रामाणिकता का विचार करने के लिए यदि हम भी तर्कों का सहारा लें तो यह पायेंगे कि वेद ही अपौरूषेय एवं नित्य सिद्ध होगा। तथा शब्द पूर्विका सृष्टि होती है इस सिद्धान्तानुसार ईश्वर ही कार्य हो जायेगा और ईश्वर कार्य का कर्ता वेद सिद्ध होंगे। नैयायिकों को वेदों में भ्रम हुआ - वेद पौरूषेय है अथवा अपौरूषेय? इसका उत्तर अपने तर्कों के बल पर ढूढ़ने चलें। जिस प्रकार तार्किक विद्वान वेदों के विषय में संदिग्ध थे उसी प्रकार ईश्वर के विषय में भी संदिग्ध होकर ईश्वर सिद्धि का प्रकरण अपने ग्रन्थों में न्याय मतावलम्बियों ने चलाया वहां तर्कों से ईश्वर की सिद्धि के बाद श्रुति प्रमाणों से भी ईश्वर की सिद्धि की - द्यावाभूमिम् जनयन् देवएकः विश्वस्यकर्ता भुवनस्य गोप्ता।[32]

अब यहां देव शब्द का अर्थ ईश्वर मानकर नैयायिकों ने व्याख्या की। जबकि 'दिवु'[33] धातु से देव शब्द की सिद्धि हुई है - दिव्यतीति देवः नन्दीगृही पचादिभ्यो ल्यूणिन्य चः।[34]

इस सूत्र से आश्रय अर्थ में अच् प्रत्यय करके देव शब्द की सिद्धि होती है देव शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'प्रकाश करने वाला' व्यवहार चलाने वाला तथा अपने उपासकों के वांछित फल को प्रदान करने वाला। आज जब हम ईश्वर की उपासना करने चलते हैं तो वेद ही हमारे उपास्य होते हैं। वेद में प्रतिपादित किसी मंत्र विशेष का अनुष्ठान फलविशेष की कामना से करते हैं। वहां मेरे सामने ईश्वर की तो कल्पना मात्र होती है परन्तु भगवान वेद शब्द रूप में मेरे सामने प्रत्यक्ष होते हैं। ऐसी स्थिति में क्यों न यह मान लिया जाये कि विश्व के कर्ता वेद ही हैं, मंत्र रूप से उपास्य होकर आज भी वही विश्व की रक्षा में तत्पर हैं तथा ईश्वर के रूप में उपास्य हैं इस तरह मान लेने पर नैयायिकों के ईश्वर पर आपत्ति होगी तब तो हमें न तो ईश्वर को मानना होगा और न ही इस तरह के सिद्धान्त मानने वालों को। नैयायिक उनके पथ से विचलित नहीं कर सकते अतः वेद एवं ईश्वर दोनो को नित्य मानते हुए वेदों को अपौरूषेय माना जाये तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी। ईश्वर को अनादि एवं वेद को सादि मानने वाले न्याय मतावलम्बी को यदि वेद पदार्थ अपौरूषेय मान लेना पड़ा तो उनकी कोई बड़ी क्षति नहीं होती है।

श्री स्वामी जी ने वेदों के अपौरूषेय होने का प्रमाण वेदों से ही दिया है -

'यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्म बुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।। (35)

उक्त मंत्र की व्याख्या करते हुए पूज्यपाद श्री स्वामी जी ने कहा है - कि इस वैदिक वचन से ही यह सिद्ध हो जाता है कि सर्वशक्तिमान परमात्मा ने जगत के रचयिता ब्रह्मा की सृष्टि की 'जो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं', श्वेताश्वतरोपनिषद के इस मंत्र की व्याख्या करते समय महाराज श्री ने यह स्पष्ट किया है कि परमेश्वर ने ब्रह्मा की सृष्टि की तथा उसे वेदों को प्रदान किया। वेद नित्य सिद्ध हैं उस नित्य सिद्ध वेद का ही ब्रह्मा के हृदय में परमेश्वर ने अपने संकल्पमात्र से वेदों का विस्तार किया। यहां पर श्री स्वामी जी ने यह स्पष्ट किया है कि प्रेषण विद्यमान पदार्थों का ही सम्भव है अतः 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' यह वेद ही बतला रहे हैं। अन्यथा ब्रह्मा के निर्माण प्रसंग में वेदों का भी निर्माण कहते परन्तु ऐसा न तो इस प्रसंग में है और न अन्यत्र कहीं इस प्रकार का वर्णन प्राप्त है। अतः इससे वेदों की नित्यता एवं अपौरूषेयता सिद्ध होती है।

पुनः उक्त मंत्र की व्याख्या करते हुए महाराज श्री आगे कहते हैं कि वेद आर्य जाति के सर्वस्व हैं। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति ज्ञान एवं विज्ञान वेदों से ही आर्य जाति को प्राप्त है। यदि आर्य जाति वेदों को छोड़ दे तो उसके पास अपना कुछ भी शेष नहीं बचेगा। तथा आर्य जाति की सर्वसत्ता ही समाप्त हो जायेगी। वेद हमारे गौरव ग्रन्थ हैं इस तरह की घोषणा आर्य जाति करती है। अतः वेदों के स्वरूप विचार की नितान्त आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए महाराज श्री वेदों के स्वरूप निम्न प्रकार से स्पष्ट करते हैं -

उक्त प्रसंग में महाराज श्री कहते हैं, 'मंत्र ब्राह्मणयर्वेदनामधेयम्',(36) 'अपौरूषेयं वाक्यं वेदः'(37) इत्यादि वाक्यों द्वारा पूर्वाचार्यों ने वेद के स्वरूप को बतला दिया है फिर उस सिद्ध वेदस्वरूप का साधन फिर से करना सिद्ध साधनापत्ति नामक दोष न हो इसलिए मंत्रात्मक एवं ब्राह्मणात्मक वेद की पर्यालोचना से वेदस्वरूप अत्यन्त गहन है। पूर्वाचार्यों ने जो मंत्रात्मक एवं ब्राह्मणात्मक वेद का स्वरूप बतलाया वहां पर एक-एक अंश विशेष को लेकर ही पूर्वाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में वेदस्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए लक्षण बतलाया, परन्तु सम्पूर्ण वेदराशि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए महाराज श्री ने वेदस्वरूप विमर्श नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। इसलिए वेदस्वरूप के साधन में सिद्धसाधनापत्ति नाम का दोष नहीं दिया जा सकता।

वेदार्थ विचार -

वेद शब्द का अर्थ विचार करने के प्रसंग में श्री स्वामी जी ने वेद शब्द को सिद्ध करने वाले प्रकृति विद् धातु को अनेक प्रकरणों में पठित दिखाते हुए वेद शब्द के नाना अर्थों का निष्पादन किया है। जैसा कि - सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।

विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात्।।(38)

विद् धातु का अर्थ सत्ता, ज्ञान, विचार एवं लाभ इन चार अर्थों को बतलाया है। इन चारों अर्थों को बतलाने वाले एक ही स्वरूप के भिन्न-भिन्न चार धातु(39) हैं। जैसा कि कारिका में संग्रहीत विकर्णों से स्पष्ट है। इस तरह इन धातुओं से ज्ञान सत्ता एवं लाभ ये तीन अर्थ वेद शब्द के सिद्ध हुए। लाभ शब्द से जीवनरूपा स्थिति का ग्रहण, सत्ता शब्द से उत्पत्ति एवं स्थिति इन दोनों का ग्रहण किया है। विद् धातु से भाव एवं कर्ता भिन्न कारक में हैं। इस तरह ज्ञान, ज्ञान का साधन, ज्ञान का कर्म तथा ज्ञान का अधिकरण एवं सत्ता शब्द से सत्ता, सत्ता का साधन, सत्ता का कर्म, एवं सत्ता का अधिकरण, स्थिति पद से स्थिति, स्थिति साधन, स्थिति कर्म एवं स्थिति का अधिकरण ये सभी अर्थ वेदशब्द से जाने जा सकते हैं। यद्यपि विद्वानों ने ग्रन्थात्मक वेद में ज्ञान साधन को शाब्दिक ज्ञान साधन के रूप में समन्वित किया है तथापि अन्वेषण सत्तारूपता, स्थिति साधनता एवं स्थितिरूपता इत्यादि भी वेद शब्दार्थ में समन्वित किये जा सकते हैं। उक्त भाव को स्पष्ट करते हुए महाराज श्री ने कहा है -

यद्यपि सर्वेसर्वार्थवाचकः इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द कल्पतरू है अतः उनसे अपेक्षित हर अर्थ लिया जा सकता है। तथापि सर्वार्थवाचकः इस सामान्य नियम का अपवाद विशेष नियम 'योगाद्रूढ़िर्बलीयसी' को माना है। अतः यौगिक शक्ति की भी बाधक रूढ़िशक्ति है फिर भी विद्या विनोद के लिए अन्य भी अर्थ शब्द से लिए जा सकते हैं। वेदं कृत्वा वेदिम करोति(40) इस वेद मंत्र में प्रथम वेद शब्द आद्योदात्त स्वर वाला शब्द राशि का वाचक है तथा दूसरा अन्त्योदात्त स्वर वाला कुशमुष्टि का वाचक है। इसलिए भगवान पाणिनि ने भी उच्छादिगण एवं ऋष्यादिगण में वेद शब्द का दोनों जगह पाठ किया है (41) इसलिए मंत्र एवं ब्राह्मणात्मक शब्द राशि ही मुख्य भेद हैं तथा वही आर्य जाति का सर्वस्व है इसी वेद को मूलाधार मानकार आर्यों ने अपनी संस्कृति स्वीकार की है। वेद को आधार बनाकर ही सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान का साधन सम्भव है। शब्द राशि वाले वेदों को छोड़ दिया जाये तो पूर्व में बताया

गया कोई भी अर्थ किसी दूसरे शब्द से कोई साधन नहीं कर सकता। तथा अद्यावधि वेद शब्द से ज्ञात अर्थ का उपस्थापक कोई दूसरा सम्भव नहीं ज्ञात हो सकेगा। इसलिए वेद शब्दार्थ का निरूपण श्री स्वामी जी ने अत्यंत सूक्ष्म विवेचना द्वारा प्रस्तुत किया है।

वेद अनन्त है -

वेदों के स्वरूप का वर्णन करते हुए महाराज श्री ने वेदों की अनन्तता को वेदों से ही बताया है। इस प्रसंग में तैतिरीय ब्राह्मण का मंत्र उद्घृत करके उसके पूर्व पक्ष एवं उत्तर पक्ष के रूप में गम्भीर विवेचना द्वारा वेदों का आनन्त्य सिद्ध किया है - 'भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भि ब्रह्माचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच - भरद्वाज यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमितेने कुर्या इति। ब्रह्माचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन गिरिरूपान् विज्ञातानिव दर्श यांचकार। तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे। सहोवाच भरद्वाजेत्या मन्त्र्य - वेदा व एते। अनन्ता वै वेदाः । एवद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः (42) इति। तैत्तिरीय ब्राह्मण के इस मंत्र को उद्वरण के रूप में प्रस्तुत करके महाराज श्री ने वेदों की अनन्तता बतायी है। यहां पूर्व पक्ष के रूप में यह प्रशन उठाया है कि वेद अनन्त कैसे माने जा सकते हैं? इस समय समुपलब्ध चार वेदों की कुछ ही शाखायें हैं तथा वे सान्त हैं। इससे प्राचीन काल में भगवान भाष्यकार ने वेदों की इयत्ता का वर्णन करते हुए यह बतलाया है - "चत्वारो वेदाः, एक शतम् अध्वर्युः शाखा सहस्त्र वर्त्मासामवेदः एकविंशतिः ब्राहॅबृच्यम् नवधा अथर्वणोवेदः" इति।(43) अर्थात् चार वेदों में -

वेद	शाखायें
यजुर्वेद	101
सामवेद	1000
अथर्ववेद	9
ऋग्वेद	21

	1131

कुल वेदों की 1131 शाखाओं का विस्तार बतलाया है। आजकल महाराज श्री के समकाल में वेदों की शाखायें भगवान भाष्यकार के समय की शाखा संख्या से भी कम शाखा संख्या है। फिर वेदों को

अनन्त कैसे माना जा सकता है? यह प्रश्न विकराल रूप में महाराज श्री के समक्ष भी खड़ा है। इन चुनौतियों का सामना करते हुए महाराज श्री ने वेदों का आनन्द हम सभी मनुष्यों की बुद्धि से न होकर भी देवर्षि आदि की बुद्धि से वेदों का आनन्त्य है।(44) इसी प्रकार व्याकरण शास्त्र में पूर्व पक्ष के रूप में भगवान भाष्यकार के सामने समस्या खड़ी हुई कि साधु शब्दों का अन्वाख्यान प्रतिपदोक्त करना चाहिए अथवा कुछ सामान्य एवं कुछ विशेष लक्षणों को बनाकर इसका साधुत्वक ज्ञान कराना चाहिए? इस पूर्व पक्ष के उत्तर में दोनों में लाघव गौरव की चर्चा करते हुए भगवान भाष्यकार ने कहा है - ."एवं हि श्रूयते, ब्रहस्पतिः इन्द्राय प्रतिपदोत्तानां शब्दानी दिव्य वर्ष सहस्त्रं शब्द पारायणं प्रोवाच। नान्त मजगाम। किम् पुनरघत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति, इति।(45) इस तरह आगे कहते हैं ब्रहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चयाध्येता दिव्यम् वर्ष सहस्त्रं अध्ययन कालः नानन्तं जगाम्। किम पुनरघत्वे यः सर्वथा निरं जीवति वर्ष शतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैः विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन व्यवहारकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनेनकालेन च। तत् आगमकालेनैव कृत्स्नम आयुः अपर्यान्तिम स्यादिति। (46) यहां पर भगवान भाष्यकार ने यह स्पष्ट किया है कि ब्रहस्पति जैसा गुरू इन्द्र जैसा विद्यार्थी, देवताओं का दिव्य एक हजार वर्ष समय इतने काल में ब्रहस्पति भी इन्द्र के लिए व्याकरण शब्द से निष्पन्न होने वाले सम्पूर्ण साधु शब्दों का निर्वचन नहीं कर सके फिर आज का मानव समाज जिसकी आयु सौ वर्ष से भी कम है एवं नाना समस्याओं से ग्रसित होने के कारण अध्ययन का समय भी उसके पास कम है वेदों के अनन्त या साद्य का कैसे पता लगा सकता है। जबकि हमारे शास्त्रों वेद के छः अंग माने गये हैं -

(1) व्याकरण

(2) ज्योतिष

(3) शिक्षाशास्त्र

(4) छन्द शास्त्र

(5) कल्प शास्त्र

(6) निरूक्त शास्त्र

उपर्युक्त वेदों के छः अंग हैं इनमें एक अंग व्याकरण का निर्वचन दिव्य 1000 वर्ष में ब्रहस्पति जैसा गुरू भी एक अंग का निर्वचन नहीं कर सका जबकि अन्य पांच अंग अभी शेष ही हैं तो फिर अंगीवेद को देव एवं ऋषियों की बुद्धि से अनन्त क्यों न माना जाये ?

वेद प्रामाण्य विचार -

सभी दार्शनिकों ने प्रमेय सिद्धि के लिए प्रमाणों का विचार करते समय शब्द को प्रमाण माना है वेद शब्द राशि है अतः वेदों का प्रामाण्य नितरां सिद्ध है। वेदों की प्रामाणिकता का निरूपण करते हुए श्री स्वामी जी ने अपना मन्तव्य इस तरह दिया है -

"यह कहा गया है कि लोक में आप्त के द्वारा अप्रयुक्त वाक्य को प्रमाण नहीं माना जाता, तो वेद वाक्य को कैसे प्रमाण माना जायेगा? इसका समाधान कि अनुमान के द्वारा सिद्ध किए जाने वाले विषय के लिए दृष्टान्त की आवश्यकता हो सकती है। प्रामाण्य के लिए तो अनुमान की अपेक्षा नहीं है, अतः यहां पर दृष्टान्त की भी आवश्यकता नहीं है। यदि प्रामाण्य की सिद्धि अनुमान से मानी जाय तो इसमें अनवस्था दोष होगा। दूसरी आपत्ति यह भी होगी कि यदि प्रामाण्य की सिद्धि अनुमान से माना जाता है, तो फिर सभी प्रमाणों का प्रामाण्य अनुमान से सिद्ध हो सकेगा।

प्रामाण्य यदि अन्य निरपेक्ष और स्वतः सिद्ध है, तो जब प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाणों की उत्पत्ति होती है, उसी समय उसका प्रमाण रूप से ग्रहण होना चाहिए, किन्तु उत्पत्ति के समय प्रत्यक्षादि प्रमाण अपने प्रामाण्य का ग्रहण करते नहीं और जब प्रामाण्य का ग्रहण नहीं करते तो उससे व्यवहार की सिद्धि कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि अपने प्रामाण्य को ग्रहण किए बिना ही सत्ता मात्र से वह व्यवहार निष्पादन में समर्थ है, क्योंकि अर्थ की अधिगति में प्रमाण किसी की अपेक्षा नहीं रखता। और प्रामाण्य प्रयुक्त व्यवहार की निष्पत्ति भी उसकी सत्तामात्र से बन जायेगी। निरपेक्ष रूप से कार्य कर चुकने के बाद यदि जिज्ञासा उठती है, तो बाद में अन्य प्रत्ययों से प्रामाण्य की अधिगति होती है। ज्ञान के भी ज्ञान का प्रामाण्य के लिए कोई उपयोग नहीं है यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि ज्ञान की ज्ञातता को बिना जाने उसमें प्रामाण्य का ग्रहण कैसे होगा ? तो उसका उत्तर यह है कि प्रामाण्य का सम्बन्ध ज्ञान के साथ न रहकर विषय के साथ रहता है, विषय की यथार्थता ही ज्ञान का प्रामाण्य है। यह ज्ञान प्रमाण है, इस वाक्य में प्रमाण और ज्ञान शब्द विषय की अथार्थता के अधीनहैं। यह तो अज्ञात ज्ञान से अपने आप जान लिया जाता है। अतः इसके लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अप्रमाण ज्ञान में अपना अप्रामाण्य स्वतः गृहीत नहीं होता, क्योंकि अप्रमाण ज्ञान भी स्वभावतः अपने अनुरूप अर्थ का ही ग्रहण करता है। जैसे कि मिथ्या रजत ज्ञान शुक्ति के टुकड़े को चांदी का टुकड़ा ही जानता है। उस समय उसको यह ज्ञान नहीं होता कि

ाह चांदी नहीं, सीप है। इसलिए अप्रमाण ज्ञान भी अपने आप में अविद्यमान भी स्वतः प्रामाण्य को ग्रहण करता हुआ तदधीन - चांदी के लेने के लिए दौड़ता है- इसलिए मिथ्या ज्ञान मे अप्रामाण्य के ग्रहण के लेए और तत्प्रयुक्त व्यवहार की निवृत्ति के लिए दूसरे (वाध ज्ञान) की अपेक्षा है ही। इसीलिए अर्थ का अन्यथा बोध कराने वाले अप्रामाणिक ज्ञान में अप्रामाण्य की अवगति यथार्थ अर्थ के बोधक प्रामाण्य के समान स्वतः नहीं जानी जा सकती।

यहां पर यह शंका उठ सकती है कि इस तरह से तो वेद का प्रामाण्य भी परतः ही मानना चाहिए, क्योंकि यहां पर यह अनुमान आदि प्रमाण के आधार पर वेदजन्य ज्ञान को अयथार्थ सिद्ध किया जाता है। इसका सीधा सा उत्तर है कि अर्थ का अन्यथात्व और कारणगत दोष बुद्धि ही अप्रामाण्य का कारण बनती है। अतः इसमें अनुमानादि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वेद जन्य बुद्धि के प्रामाण्य के लिए किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि यह बताया जा चुका है कि ज्ञान स्वतः प्रमाण है। जहां पर अन्य प्रमाणों के आधार पर ज्ञान का मिथ्यात्व अवगत होता है, वहां पर भी पूर्व प्रतिपादित अर्थ की अन्यथात्व और कारणगत दोष ज्ञान ही ये दो ही कारण बताने पड़ेंगे। यत्किंचित् साधर्म्य को इसमें कारण नहीं माना जा सकता। अनुमान से विधि प्रमृति वेदवाम्यों से अवगत अर्थ का अन्यथाभाव परिकल्पित नहीं किया जा सकता। अनुमान यदि वेद के विरूद्ध है, तो उसकी सत्ता ही संदिग्ध हो जायेगी। यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि अनुमान से ही आगम का बाध्य क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसे कि वेद के मिथ्यात्व के सिद्ध होने पर अनुमान प्रवृत्त होगा और अनुमान के प्रवृत्त होने पर बाध के कारण वेद का मिथ्यात्व सिद्ध होगा। यह कहना भी गलत है कि जैसे अनुमान से भिन्न कोई बाधक नहीं है , उसी तरह से आगम से भिन्न अन्य कोई प्रमाण आगम प्रतिपादित अर्थ का साधक भी तो नहीं है। ऐसी परिस्थिति में वेदार्थ की सत्ता ही संदिग्ध हो जायेगी। किन्तु यहां पूर्व पक्षी ने हमारे कथन का भाव ही ठीक से नहीं समझा है। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि केवल अनुगान को गानकर उसी के आधार पर बाधकान्तर न होने पर भी हम आगम को मिथ्या सिद्ध करते हों, हमारा केवल इतना ही कहना है कि ऐसे स्थलों में अनुमान की उत्पत्ति ही नहीं होती। वेद के प्रामाण्य का साधक तो आगम वचन उपलब्ध ही है ऐसा तो होता नहीं कि जो वस्तु एक प्रमाण से गृहीत हो, उसका प्रमाणान्तर से ग्रहण न होने पर अभाव मान लिया जाय। यदि हम ऐसा मानने लगे तो, जिस प्रभृति

से गृहीत रसादि वस्तु का नेत्र प्रभृति से ग्रहण न होने पर अभाव मानना पड़ जायेगा। जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है -

न चाडन्यैरग्रहे अर्थस्य स्यादभावो रसादिवत्।
तेषां जिह्वादि भिर्यस्मान्नियमो ग्रहणेस्ति हि।।

"अन्य इन्द्रियों से ग्रहण न होने पर रसादि का अभाव नही मान लिया जाता, क्योंकि यह नियम देखा गया है कि रसादि का ग्रहण निश्चित रूप से जिह्वा प्रभृति से ही होता है।"

प्रश्न है कि वेद का प्रामाण्य ही जब सिद्ध नहीं है तो उससे अनुमान का बाध कैसे होगा ? इसका उत्तर यही है कि आपके मत में वेद का प्रामाण्य भले ही सिद्ध न हो, किन्तु वैदिकों की दृष्टि से वेदों का प्रामाण्य निर्बाध रूप से सिद्ध है। आपको भी वेद से असंदिग्ध और अविपरीत ज्ञान की प्राप्ति होती है, तो फिर उसमें प्रामाण्य की सिद्धि क्यों न होगी। द्वेषवष दी गई गलत युक्तियों से वह अप्रमाण नहीं हो सकता। अपने में विद्यमान इच्छा, द्वेष आदि के कारण वेद में अप्रामाण्य सिद्ध नही किया जा सकता। आग से जल जाने पर व्यक्ति को जो दुःख की प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है, उसको अन्य व्यक्ति अप्रमाण नहीं सिद्ध कर सकता। इच्छा के विषयीभूत ज्ञान का सभी इच्छा के विषयों में प्रामाण्य तो बन ही नहीं सकता। इसलिए जैसे प्रकाश में व्यक्ति को असंदिग्ध और अविपरीत अर्थ का ज्ञान होता है, उसी प्रकार वेद से भी सर्वसाधारण को सब प्रकार के संशयों से रहित और विपर्यय (विपरीत ज्ञान) से रहित ज्ञान ही स्वभावतः होता है, अतः उसका प्रामाण्य भी स्वाभाविक ही है।

कहा जाता है कि वेद का अर्थ समझना बड़ा कठिन है। लौकिक वाक्यों का अर्थ अन्य प्रमाणों से भी परिलक्षित हो सकता है, अतः शब्दों के द्वारा भी उनका अवगम हो सकता है। वेद प्रतिपादित अर्थ तो अतीन्द्रिय है। राग-द्वेष प्रभृति दोषों से युक्त पुरूष में इतनी सामर्थ्य नही है कि वेद प्रतिपादित अर्थ का साक्षात्कार कर सके। इसीलिए वृद्ध व्यवहार आदि से भी यहां पर व्युत्पति (तत्तत् शब्दों की तत्तत् अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति का ज्ञान) में सहायता नही मिल सकती। पाणिनि ने जैसे 'वृद्धि रादैच' इस सूत्र में वृद्धि पद को परिभाषित किया है, अथवा जैसे कोई कोशकार, हस्त, कर, पाणि प्रमृति शब्दों

की पर्याप्तता बताता है, उस तरह की कोई व्यवस्था वेद में शब्दों का अर्थ समझने की है नहीं। जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है -

"स्वयं रागादिमानर्थं वेत्ति चेत्तस्य नान्यतः।

न वेदयति वेदोपि वेदार्थस्य कुतो गतिः ? ।।

अर्थात् रागादि मान पुरूष स्वयं वेदार्थ को जान लेता है, यह सम्भव नहीं है। वेद भी अपने अर्थ को नहीं बताता, ऐसी परिस्थिति में वेदार्थ की क्या गति होगी? अर्थात् उसको कैसे समझा जा सकेगा।"

यदि निगम, निरूक्त, व्याकरण की सहायता से उसका अर्थ किया जाता है तो जिनको वेदार्थ समझाना है, उनकी बुद्धि भांति-भांति की है, शब्द भी अनेकार्थक हैं, नाम, उपसर्ग और निपात इनका कोई निश्चित अर्थ भी नहीं होता, इनके अर्थ के ज्ञान के लिए दूसरे किसी प्रकार या साधन की कल्पना भी सम्भव नहीं है और विपरीत अर्थ की भी कल्पना की जा सकती है, जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है कि "स्वर्ग की कामना वाला व्यक्ति अग्निहोत्र करें" इस वाक्य से यह अर्थ क्यों नहीं निकलेगा कि कुत्ते का मांस खाय" यह पूरा कथन कोरी बकवास है, वक्ता ने इस बात को ठीक से नहीं समझा है कि जो लौकिक शब्द और अर्थ है वैदिक शब्द और अर्थ उससे भिन्न नहीं है। वैदिक शब्दों में कोई नवीनता नहीं है। वेद में केवल वाक्य रचना में थोड़ा अन्तर हो जाता है। वेद, उसका अर्थ, उसका ज्ञान उसको जानने के उपाय और उनका अनुष्ठान ये सब आज नहीं प्रवृत्त हुए हैं, किन्तु मीमांसकों के मत से ये सब अनादि काल से प्रवृत्त हैं। नैयायिक इनको सर्ग के आरम्भ काल से ईश्वर के द्वारा प्रवृत्त मानते हैं। इन पर शंका उठाने का आज अवसर ही कहां है। इसलिए पूर्वोक्त परम्परा के साथ निरूक्त, व्याकरण मीमांसा प्रमृति शास्त्रों की परम्परा के रहते वेदार्थ की ज्ञान में संशय का प्रसंग ही कहां है? रागादिमान व्यक्ति भी 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्यों से अग्निहोत्र नामक कर्म स्वर्ग का साधन है, यह जान ही लेता है। द्वेषवश भी कोई यह नहीं जान सकता कि इसका अर्थ यह नहीं है। धर्मकीर्ति ने "कुत्ते का मांस खाय" ऐसा दुर्वचन कहकर केवल वेद की निन्दा की है। उसी का यह परिणाम है कि चीन प्रमृति देशों में बौद्ध कुत्ते, गधे आदि का मांस भी खाने लगे हैं और कीड़े-मकोड़े, भुनगें आदि को तलकर, चटनी अचार आदि बनाकर भी खा जाते हैं। इसलिए -

शक्तिग्रहादि भिस्तैस्तै र्बोधोपायैः सुनिश्चितैः

लोके यथा तथा वेदे शब्दार्थावगतिः सदा।।

रागादिमानपि प्राज्ञः शब्दार्थं वेद निश्चितम्।
द्वेषादपि विरूद्धार्थं न कर्त्तुं प्रभवेत्ततः।।
पारम्पर्यसमायातमर्थं त्यक्त्वा प्रमादतः।।
वेद निन्दा कृता तेन बौद्धास्ते कुक्कुरादिनः।।
पारम्पर्यसमुच्छित्था ह्यन्यथार्थ प्रसाधनम्।
यदीष्टं प्रभवेत्तेषां बुद्धमंत्रोपि गालिदः।।

अर्थात् लोक में जैसे किस शब्द की किस अर्थ में शक्ति है, इस बात को जानने के व्याकरण प्रभृति सुनिश्चित उपायों से शब्दों के अर्थ की अवगति होती है उसी प्रकार वेद में भी होती है। रागादि से युक्त विद्वान भी इन निश्चित उपायों से अर्थ को जान लेता है और द्वेषवश भी कोई यह नहीं कह सकता कि इसका अर्थ यह न होकर कोई दूसरा अर्थ है। प्रमाद वश परम्परा प्राप्त अर्थ को छोड़कर बौद्धों ने वेद की निन्दा की, उसका आज परिणाम यह है कि वे आजकल वास्तव में कुत्ते का मांस खाने लगे हैं। परम्परा को न मानकर यदि उनको मनमाना अर्थ करना ही अभीष्ट हो तो इस पद्धति से बुद्ध मंत्र को भी किसी गाली का पर्यायवाची मानने में क्या बाधा होगी।"

यह जो कहा गया है कि रागादि से विमुक्त होने के कारण जैसे आप जैमिनि प्रमृति को वेदार्थ का ज्ञाता मानते हैं, उसी तरह रागादि से रहित होने से बुद्ध आदि को भी सर्वज्ञ क्यों न माना जाय? यदि बुद्ध प्रभृति में रागादि के रहते भी वेदार्थ के ज्ञान में कोई बाधा नहीं है। रागादि दोष कम्बल की तरह विज्ञान को ढ़क नहीं देते, किन्तु इन दोषों से मन के विक्षिप्त हो जाने पर विविध विषय तृष्णा में डूबा हुआ मन ठीक भावना नहीं कर सकता, अतः रागादि के अभाव का प्रयोजन केवल, भावना में आदर बुद्धि उत्पन्न करना मात्र है। वेद प्रमाणमूलक होने से वेदार्थ का ज्ञान भी हो सकता है, किन्तु सर्व विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं जिससे सर्वविषय का ज्ञान हो जाय। शब्दार्थ के ज्ञान के लिए शब्द ही अपेक्षित है, भावनादि नहीं। अन्यथा भावना विधि के ज्ञान में भी भावना की अपेक्षा मानने पर अन्योन्याश्रय प्रमृति दोषों का परिहार करना कठिन हो जायेगा। इसके अन्त में यही मानना पड़ेगा कि रागादि से युक्त पुरूष को अतीन्द्रिय अर्थ का भले ही प्रत्यक्ष न हो, किन्तु वाक्यार्थ के ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा नहीं उठ सकती।" (47)

वेदों की अपौरूषेयता -

प्रारम्भ से लेकर आदि तक वेदों के विषय में दो तरह के विचार देखे जाते हैं। एक तो यह वेद पौरूषेय है। इसका रचयिता कोई पुरूष है क्योंकि ग्रन्थ रचना विशिष्ट प्रतिमादि कारण कला पर निर्भर करती है और ये ग्रन्थ रचना के कारण किसी पुरूष में ही हो सकते हैं इसलिए वेद किसी पुरूष द्वारा ही रचित है परन्तु उसके कर्ता का नाम अज्ञात है। लौकिक भाषा में अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनके रचयिता का नाम आज तक अज्ञात है तथा उन्हें वेद की कोटि में नहीं गिना जाता है। दूसरा सम्प्रदाय यह मानता है कि वेद अपौरूषेय हैं वेदों की श्रुत परम्परा रही है गुरू मुख से सुनकर इसका सस्वर अभ्यास करने की परम्परा से इसका नाम श्रुति पड़ा। कालक्रम से जब वेदों को धारण करने की क्षमता मनुष्यों से जाती रही। इसके फलस्वरूप वेदों की बहुत सारी शाखायें लुप्त हो गयीं। उनका नाम भी आज सुनने को नहीं मिलता है। इसी प्रकरण में वेदों की ।।3। शाखाओं का उल्लेख मैंने पीछे किया है। उसमें से एक प्रतिशत भी शाखायें आज उपलब्ध नहीं हैं। इस तरह वैदिक परम्परा का कण्ठस्थीकरण लुप्त हो जाने से अवशिष्ट वेदों की रक्षा के लिए विद्वद् परिषद ने लिपि के रूप में लिखकर तदानीं समुपलब्ध वेदराशि को पुस्तकाकार स्वरूप दिया जो आज पुस्ककागारों में देखे जा सकते हैं। अतः इन सुरक्षात्मक कृत्यों से वेद की पौरूषेयता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः वेदों को अपौरूषेय मानकर आर्य जाति ने अपना जीवन एवं संस्कृति के रूप में उसे स्वीकार किया है। पूज्यपाद करपात्री जी भी वेद की अपौरूषेयता के प्रबल समर्थक हैं। वेदों की अपौरूषेयता का वर्णन स्वामी जी के शब्दों में इस प्रकार है -

"सामान्यतः वाक्यों के मिथ्यात्व को देखकर समान न्याय से वेद वाक्य में भी मिथ्यात्व की शंका करना तो अपने अज्ञान को ही प्रकट करना है, क्योंकि वाक्यत्व हेतु अप्रामाण्य का प्रायोजक नहीं है। पौरूषेय वाक्यों का अप्रामाण्य पुरूषाश्रित दोषों के कारण होता है, उसमें वाक्यत्व की कारण नहीं बनती। वेद वाक्यों में तो संशय - विपर्यय आदि की जनकता अविद्यमान है, ये किसी न किसी अर्थ के बोधक हैं, इनका कोई बाधक ज्ञान नहीं है और ये अनधिगत, असंदिग्ध, अबाधित अर्थ के ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, अतः अप्रामाण्य के प्रवर्तक किसी भी कारण की यहां प्रवृत्ति न होने के कारण इनका स्वाभाविकता प्रामाण्य माना जाता है।

यह कहना कि "वेद पौरूषेय है, वाक्य कदम्बरूप होने से, महाभारत आदि ग्रन्थों के समान" इस तरह के अनुमानों से वेदों को पौरूषेय ही मानना पड़ेगा, इसलिए गलत है कि उक्त अनुमान में स्मर्यमाणकर्तकता उपाधि है। महाभारत प्रभृति ग्रन्थ पौरूषेय है तो इनके कर्ता की स्मृति भी विद्यमान है। वेद में इस प्रकार का कर्ता किसी भी स्मृति में नहीं है, अतः उक्त सोपाधिक अनुमान वेद की पौरूषेयता को सिद्ध नहीं कर सकता।

"वाक्य किसी न किसी के बनाये हुए ही हो सकते हैं, इसी तरह से शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध भी किसी के द्वारा स्थापित ही मानना पड़ेगा" यह कथन भी इसलिए गलत है कि वेद में कोई कर्ता उपलब्ध नहीं है। यदि कोई कर्ता होता तो उसकी प्रत्यक्ष प्रमृति प्रमाणों में से किसी न किसी से उपलब्धि होती। जिसकी किसी न किसी प्रमाण से उपलब्धि हो सकती है, उसकी यदि पूरी सामग्री की विद्यमानता में भी उपलब्धि नहीं होती तो समझ लेना चाहिए कि उस वस्तु की सत्ता नहीं है, जैसा कि खरगोश की सींग। बहुत समय बीत जाने के कारण वेद का कोई कर्ता स्मृति में नहीं रह गया है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसका कोई रचयिता ही नहीं है", आप की यह उक्ति भी इसलिए उचित नहीं है कि यदि ऐसा होता तो उसकी स्मृति अवश्य बनी रहती। समय अधिक बीत गया है तो इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि उसकी स्मृति भी नहीं रहेगी। अतः यही मानना उचित है कि वेद के कर्ता के रूप में किसी के नाम की स्मृति विद्यमान नहीं है, अतः वेद का कोई कर्ता है ही नहीं।

यह कहना भी सारहीनहै कि "जैसे किसी घने जंगल में किसी के बनाये कुएं अथवा उपवन का तथा मुक्तक श्लोकों का कोई कर्ता रहते हुए भी उसकी स्मृति नहीं रह जाती, उसी तरह से वेद के सम्बन्ध में भी समय और व्यवहार में कर्ता की स्मृति का न रहना बन सकता है", क्योंकि कूप, उपवन, मुक्तक श्लोक आदि में देश, कुल, सम्प्रदाय आदि के विनष्ट हो जाने से कर्ता की स्मृति नष्ट हो जाती है किन्तु वेद में तो ऐसा नहीं है। यहां पर तो अध्ययन-अध्यापन की परम्परा, वैदिक यागादि के अनुष्ठान की परम्परा और शब्द एवं अर्थ के व्यवहार की परम्परा समाप्त नहीं हुई है, तो फिर कर्ता की स्मृति कैसे नष्ट हो सकती है? इसके समर्थन में यह अनुमान दिया जा सकता है- वेद अपौरूषेय है, इसके सम्प्रदाय का विच्छेद न होने पर भी इसके कर्ता की कोई स्मृति विद्यमान न होने से, आत्मा की तरह, यह अन्वय का उदाहरण हुआ। इसका व्यतिरेक में उदाहरण महाभारत होगा। वेद के विपरीत महाभारत

का कर्ता स्मृति पथ में विद्यमान है, अतः वह पौरूषेय माना जायेगा। आत्मा सम्प्रदाय विच्छेद न होने पर भी कर्ता के स्मरण से रहित है, इसीलिए वह किसी पुरूष का बनाया हुआ नहीं है, इसी तरह वेद भी किसी पुरूष का बनाया हुआ नहीं है।

प्रश्न उठता है कि जैसे घट प्रभृति से व्यवहार चलाने वाले व्यक्ति के लिए इस घड़े का बनाने वाला कुम्हार कौन है? यह जानना व्यर्थ है, उसी तरह वेद के पद-पदार्थ का कर्ता कौन है? इसका भी जानने का कोई प्रयोजन न होने से कर्ता की विस्मृति हो सकती हे, तो इसका उत्तर यह है कि उक्त दोनों बातों में कुछ अन्तर है। कोई प्रयोजन न होने से कुम्हार के नाम की विस्मृति तो हो सकती है, किन्तु वेद के कर्ता का विस्मरण निष्प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि लौकिक और वैदिक सारे व्यवहार उसी के अधीन हैं। पाणिनि का विस्मरण हो जाने पर आत् और ऐच् वर्णों की वृद्धि संज्ञा का व्यवहार संभव नहीं है। इस प्रकार जो पद-पदार्थ के सम्बन्ध का विधान करता है, और जो वेद की रचना करके उसके अध्ययन-अध्यापन तथा उसके द्वारा सम्पादित होने वाले याग, उपासना आदि व्यवहारों को प्रचलित करता है, उसका विस्मरण हो जाने पर ये सब व्यवहार भी नहीं चल सकते। वाक्य से अर्थ का ज्ञान और तदनुसार प्रयोजन का अनुष्ठान तब तक संभव नहीं हो सकता, जब तक कि उसके कर्ता की और उसकी आप्तता की स्मृति न हो, अनाप्त वाक्य से अर्थ की यथार्थ अवगति और तदनुसार प्रयोजन की निष्पति नहीं होती। यागादि की स्वर्गादि की साधनता अन्य प्रमाणों से नहीं जानी जा सकती। कर्ता में विश्वास होने पर ही वेदार्थ प्रतिपादित यागादि में सब कोई की प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसी अवस्था में कर्ता का विस्मरण कैसे हो सकता है? इस प्रकार जिसका स्मरण अवश्य बना रहना चाहिए, उसकी स्मृति के अभाव में यही मानना उचित है कि कोई इसका कर्ता है नहीं। पाणिनि से भिन्न अथवा पाणिनि के मत का अनुसरण न करने वाले व्यक्ति के व्यवहार से कोई व्यक्ति वृद्धि शब्द के व्यवहार से आत् और ऐच् को नहीं जानते, जैसे कि पिंगल से भिन्न अथवा पिंगल के मत का अनुसरण न करने वाले व्यक्ति के व्यवहार से कोई भी मकार से सभी गुरू अक्षरों वाला गण गृहीत होता है, इसको नहीं जान सकता। किन्तु "वृद्धिरादैज्" इस सूत्र से वृद्धि संज्ञा करने वाले पाणिनि के 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' इस सूत्र में वृद्धि पद से आत् और ऐच् का ग्रहण होता है, यह जान लेना है 'सर्वगुरूर्मः' इस सूत्र से मगण का स्वरूप बनाने वाले पिंगलाचार्य के व्यवहार से तीन अक्षरों के गुरू होने पर मगण की स्थिति मान लेना है, उसी तरह से वेद वाक्य से

जिनको अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, उनको अवश्य ही पद पदार्थ के सम्बन्ध का कर्ता और इस प्रकार के पद-समूहात्मक वेद वाक्यों का कर्ता एक ही है, तथा वह आप्त है इस प्रकार की स्मृति अवश्य होनी चाहिए, किन्तु वेद के सम्बन्ध में वह होती नहीं, अतः वेद अपौरूषेय अर्थात् किसी पुरूष का रचा हुआ नहीं है, ऐसा ही मानना पड़ेगा।

समय और व्यवहार का एक ही कर्ता है, इसका जब विस्मरण हो जाता है तो अर्थ का निश्चय नहीं होता। प्रकृत (वेद) में बिना कर्ता की स्मृति के भी वेद वाक्य से अर्थ का निश्चय होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि वेद का कोई कर्ता नहीं है। यदि किसी प्रकार से कर्ता की विस्मृति उत्पन्न हो भी सकती हो, तो बिना प्रमाण के कर्ता का निश्चय नहीं किया जा सकता। केवल अनुपलम्भ वस्तु के अभाव का साधक भले ही न हो किन्तु जब उसमें प्रमाणाभाव सहायक हो जाता है, तो शश के विषाण के समान वह वस्तु के समान वह वस्तु के अभाव का साधक हो ही जाता है। उसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। जो वेद की पौरूषेयता का समर्थन करते हैं, वे भी परम्परा से किसी विशेष कर्ता की स्मृति उनको हो, ऐसा नहीं बता सकते। सामान्यतो दृष्ट अनुमान से कर्ता का अनुमान करके वे स्वाभिमत किसी कर्ता को सिद्ध करते हैं। कुछ लोग ईश्वर को, दूसरे हिरण्यगर्भ को, कोई प्रजापति को और अन्य लोग अग्नि प्रभृति देवताओं को वेद का कर्ता मानते हैं। किन्तु निश्चित रूपसे मनु, बाल्मीकि, व्यास आदि मनुष्य रचित मनुस्मृति, रायायण, महाभारत आदि ग्रन्थों के कर्ताओं के सम्बन्ध में ऐसा मतभेद नहीं है।

कर्ता की स्मृति अवश्य रहनी चाहिए, किन्तु है नहीं, इससे यही निश्चित करना उचित है कि वेदों का कोई कर्ता नहीं है। "ब्रह्म स्वयम्भु" इत्यादि श्रुति, स्मृति और सूत्रों के प्रमाण पर वेदों की नित्यता अवगत होती है, इससे यह निश्चित होती है कि वेदों का कोई कर्ता नहीं है। इसीलिए "उस यज्ञ से ऋक्, साम् की उत्पत्ति हुई", अग्नि से ऋग्वेद हुआ, इस तरह के वचन केवल सम्प्रदाय की प्रवृत्ति का बोध कराते हैं, इनमें वेदों के कर्ता का निर्देश नहीं है।" जो पहले ब्रह्मा की रचना करता है और बाद में उसको वेद का उपदेश देता है" इस श्रुति के अनुसार चतुर्मुख ब्रह्मा के विधाता ईश्वर भी वेद की रचना नहीं करते, किन्तु विद्यमान वेदों को ही ब्रह्मा के हृदय में भेजते हैं।

दूसरी बात - आप यह बताइये कि वेद का कर्ता कौन है? कोई मनुष्य है, योगी है, अथवा ईश्वर? मनुष्य वेद का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्यों को धर्मादि का ज्ञान वेद से ही होता है, अतः

वह उसका कर्ता कैसे हो सकता है? योगी भी वेद का कर्ता नहीं हो सकता योगी को धर्म-अधर्म का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से होगा या मन से ? यह बाह्य इन्द्रियों से नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म-अधर्म का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से सम्भव नहीं हो सकता। मन से भी इनका ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि आत्मा के योग्य गुणों से अतिरिक्त अन्य विषयों में ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य मन में नहीं है। धर्म और अधर्म यद्यपि आत्मा के गुण हैं, तो भी ये अयोग्य होने से मन के विषय नहीं हो सकते। दूसरी बात यह भी है कि योगी योग्य सामर्थ्य निर्हेतुक है या सहेतुक? वह निर्हेतुक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर तो यह किसी को भी हो सकता है। सहेतुक भी नहीं हो सकता, क्योंकि योगादि लक्षण धर्म के हेतु होने पर उससे पहले उसका ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान वेद से ही सम्भव है, यह स्वभावतः मानना पड़ेगा। ईश्वर भी वेद का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वेद से इश्वर की सिद्धि होगी और ईश्वर वेदों का प्रणेता होगा, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। बौद्ध प्रमृति तो बुद्ध आदि की सर्वज्ञता सिद्ध करके उनके अभिप्राय का अनुसरण करने वाले बौद्धादि आगमों के वाक्यों को ही धर्म का मूल मानते हैं। (48)

स्मृतियाँ -

वेदों का आधार मानकर ही महर्षियों ने स्मृतियों की रचना की है। स्मृतियों की श्रुतिमूलकता को प्रमाण मानकर ही महाकवि कालिदास ने - 'श्रुतेरिवार्थम् स्मृतिरन्वगच्छत्' (49) ऐसा कहा है। वेदों में बतलाये गये सम्पूर्ण धर्मों के प्रति पादक मंत्रों को आधार मानकर ही धर्मशास्त्रों की रचना हुई। यदि धर्मशास्त्र में कोई ऐसा नियम विशेष बतलाया गया जिसका मूल वेदों में आजकल नहीं मिलता है तो उस स्मृति के उपजीव्य वेदमंत्र लुप्त हो चुके हैं, ऐसा मानना चाहिए। इसी बात को लेकर स्मृतियों में दृष्ट एवं अदृष्ट दो तरह के भेद किए गए हैं -

> स्मृतियों बहुरूपाश्च दृष्टादृष्ट प्रयोजनाः।
> तमेवाश्रित्य लिंगेभ्यो वेदविभ्दिः प्रकल्पिताः ।। (50)

यहां पर आचार्य भर्तृहरि ने दो प्रकार की स्मृतियों का अन्वाख्यान किया है। कुछ स्मृतियां दृष्ट प्रयोजनवती हैं जैसे - गर्भाष्टमेशब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। (51)

इस स्मृति का मूल - 'अष्ट वर्षम् ब्राह्मण मुपनयितः (52) यह श्रुति है। इसी तरह से 'अष्टकः कर्तव्यः (53) इस स्मृति का मूल श्रुति अनुपलब्ध है अतः इस स्मृति को भी शिष्ट लोग श्रुतिमूलक ही मानते हैं परन्तु इसका श्रुति भाग लुप्त हो चुका है ऐसा मानकर स्मृति में किसी भी प्रकार की उनकी अश्रद्धा नही देखी गयी। इसी बात को स्पष्ट करते हुए महर्षि जैमिनि ने - "अपिवा कर्तृ समान्यात् प्रमाणम् अनुमानम् स्यात् (54) इस सूत्र के द्वारा अदृष्ट प्रयोजनवती स्मृतियों को अनुपलभ्यमान श्रुति मूला बतलाते हुए उसे भी प्रमाण माना। इस तरह स्मृतियों की श्रुति मूलकता सिद्ध होने से ही धर्म के मौलिक ग्रन्थ के रूप में उसकी मान्यता सुरक्षित हो जाती है। वाक्यपदीयकार ने स्मृतियों को दृष्ट प्रयोजनवती एवं अदृष्ट प्रयोजनवती भेद से दो ही प्रकार बतलाया है परन्तु भविष्यत् पुराण में स्मृतियों के पांच प्रकार बतलाये गये हैं -

(1) दृष्ट प्रयोजनवती

(2) अदृष्ट प्रयोजनवती

(3) दृष्टादृष्ट प्रयोजनवती

(4) न्यायमूला

(5) अनुवाद स्मृति रूपा

उक्त पुराण में विस्तार के साथ इनका उदाहरण भी प्रस्तुत है -

दृष्टार्था तु स्मृतिः कचिददृष्टार्था तथापरा।
दृष्दृष्टार्थरूपान्या न्यायमूला तथापरा।।
अनुवादस्मृतिस्त्वन्या शिष्टैदृष्टा तु पन्चमा। इति।।

पांच प्रकार की प्रयोजनवती इन स्मृतीं का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भगवान व्यास ने कहा है-

षड्गुणस्य प्रयोज्यस्यप्रयोगः कार्यगौरवात्।
समादीनामुपायानां योगो व्यास समासतः।।

अध्यक्षाणां च निःक्षेपः कष्टकानां निरूपणम्।
दृष्टार्थेयं स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्गरूडात्मज।।
सुसन्ध्योपास्या सदा कार्या श्रुतौ मांसं न भक्षयेत्।
अद्दष्टार्था स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्ज्ञानिकोविदेः।।
पलाशं धारयेच्छण्डमुमयार्थां विदुर्बुधाः।
न्यायमूला विकल्पः स्यज्जपछोमश्रुतौ यथा।।
श्रुतौ दृष्टं यथा कार्य स्मृतौ तत्तादृशं यदि।
अनूक वादिनी सा तु पारिव्रज्यं यथा गृहात्।।

इस प्रकार श्लोक मुखेन भगवान व्यास ने पन्चप्रयोजनवती स्मृतियों का स्वरूप निरूपण संक्षिप्त किया है। उसको मैं सोदाहरण प्रस्तुत कर रही हूँ -

प्रयोजनवती स्मृति -

कार्य के गौरव होने से छः प्रयोज्य गुणों का प्रयोग ही प्रथम प्रयोजनवती स्मृति है -
(1) सन्धि (2) विग्रह (3) यान (4) आसन (5) द्वैधीभाव (6) समाश्रम।

शत्रु पर विजय पाने की इच्छा से व्यवस्थाकरण का ऐम्य भाव सन्धि, विरोध को विग्रह, विजय की इच्छा से शत्रु पर चढ़ाई करना यान कहलाता है। समान शक्ति वाले दो शत्रुओं का परस्पर चुप बैठकर आक्रमण की प्रतीक्षा करना आसन कहलाता है। दुर्बल और प्रबल का वाचनिक आत्म समर्पण द्वैधीभाव है। बलवान शत्रु से पीड़ित होकर दुर्बल द्वारा किसी बलवान का आश्रयण करना समाश्रय कहलाता है।

इस प्रकार षडगुण आदि से युक्त प्रयोजन दृष्ट हैं। इनका फल लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है। औषधि सेवन से रोग की निवृत्ति, यौगिक क्रिया द्वारा शरीर की शुद्धि, व्यवहार की शुद्धता से स्वस्थ समाज का निर्माण यह सब दृष्ट प्रयोजन है। तथा इनका निरूपण वेदों में है। सूक्ष्म में बताये गये पूर्वोक्त इन सभी विषयों का विस्तार से ऋषियों ने धर्मशास्त्र आयुर्वेद शास्त्र, योग शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में निरूपण किया है। (55)

अदृष्ट प्रयोजनवती स्मृतियां -

वेदों ने कुछ ऐसे भी कर्म बतलाये हैं जिनका कोई भी हल इस लोक में दृष्ट नही हैं। जैसे - 'अहरहः सन्ध्यामुपा सीत (56) अर्थात् प्रतिदिन सन्ध्योपासन करें। इसी पर आधारित स्मृति -

नोपास्ते यः पूर्वां नोपास्ते यश्चपश्चिमाम्।

स शुद्रवद्बहिस्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ।।(57) है।

इसी प्रकार भगवान भाष्यकार ने - अग्नौ कलापमधिश्रित्य अभिमंत्रयते, भृगूणामंगिरसां धर्मस्य तपसा तपध्वमिति, तत्र अन्तरेणापि मंत्रभग्निर्दहनकर्मा कपालानि सन्तापयति, तत्र धर्म नियमः क्रियते।(58) अर्थात् यज्ञ कर्म में दीक्षित यजमान हवनीय हविष तैयार करने के लिए कपाल अग्नि पर रखता है। तथा 'भृगूणाम् अंगिरसाम् धर्मस्य तपसा तप्यध्वम्', यह मंत्र पढ़ता है। यदि मंत्र न भी पढ़ें तब भी अग्नि स्वभाववश कपाल को तपायेगा तथा हविष तैयार हो जायेगा। फिर वहां मंत्र का उच्चारण करके हविष तैयार करने की विधि का कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है। अतः एतन्मूलक धर्म मीमांसा का वचन अदृष्ट प्रयोजन वाला होगा। इसी प्रकार अश्वमेघ यज्ञ में यज्ञीय पशु को बांधने के लिए खूंटा बनाया जाये वह खूंटा किस लकड़ी का हो इस जिज्ञासा में-

"वैल्वः खादिरो का यूपः स्यात्। यूपश्चय नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। शक्यते चानेन यत्किन्चिदेव काष्ठम्च्छित्यानुच्छित्य वा पशुरनुबद्धुम्। तत्र धर्म नियमः क्रियते।(59)

यज्ञीय पशु का बन्धन करने के लिए बेल अथवा खैरा का खूंटा बनावें। यहां भगवान भाष्यकार ने पूर्वपक्ष के रूप में श्रुति प्रतिपादित इन सिद्धान्तों का दृष्ट प्रयोजन जानना चाहा तथा पूर्व पक्ष के रूप में विचार किया कि पशु को बांधने के लिए स्थूणा विशेष ही यूप है। फिर तो किसी भी काश्त को बिना छीले अथवा छीलकर खूंटा बनाया जा सकता है तथा उसमें यज्ञीय पशु का बंधन कर यज्ञ है फिर वह यूप बेल अथवा खैरा का ही क्यों हो ? इसका दृष्ट प्रयोजन न होने से इसे अदृष्ट माना अतः एतन्मूलिका स्मृति भी मीमांसा दर्शन में अदृष्ट प्रयोजन वती है। इसी तरह खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविगमोगम्यायां चागम्यायाम्। तत्र धर्मनियमः क्रियते। इयं गम्या इयमगम्येति। (60) रागवश स्त्री में प्रवृत्ति होती है। राग की निवृत्ति गम्यापाणिगृहीता धर्मभार्या तथा अगम्या भगिनी, पुत्री आदि दोनों

से समान रूप से संभव है। फिर ऐसा क्यों न किया जाये। वहां पर अगम्या से राग की निवृत्ति संभव होने पर भी उसे नहीं किया जाता है। यद्यपि इसका कोई दृष्ट फल नहीं है फिर भी इसे अदृष्ट मानकर एतन्मूलिका स्मृति को भी अदृष्ट प्रयोजनवती माना जाता है। इसी प्रकार भूख की निवृत्ति भक्ष्य अन्न एवं पेय पदार्थों एवं कुत्ते इत्यादि के मांस द्वारा समानरूप से संभव है फिर भी वहां शास्त्र नियम करता है- भूख की निवृत्ति भक्ष्य, अन्न एवं पेय जल दुग्ध इत्यादि पदार्थों से ही करना चाहिए मांस से नहीं। एतन्मूलिका स्मृति भी अदृष्ट प्रयोजन वती है। क्योंकि इसका कोई दृष्ट फल नहीं है।(61)

दृष्टादृष्टार्थ प्रयोजनवती -

कुछ ऐसी श्रुतियां हैं जिनका प्रयोजन दृष्ट एवं अदृष्ट दोनों है अतः एतन्मूलिका स्मृति भी दृष्टादृष्ट प्रयोजनवती होगी -

> ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटरवादिरौ।
> पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः।। (62)

यहां वेदाध्ययन में दीक्षित ब्रह्मचारी को दण्ड धारण विधान के अनुसार दण्डों के काष्ठ का विधान है। ब्राह्मण का दण्ड, बेल अथवा पलाश का हो, क्षत्रिय का दण्ट वट अथवा खैरे का हो, वैश्य का दण्ड पीलू अथवा अदुम्बर का हो। यहां यह विचारणीय है कि दण्ड तो चाहे किसी भी लकड़ी का बनाया जा सकता है? फिर उपर्युक्त लकड़ियों से ही बनाने का कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है। दण्ड धारण करना दृष्ट प्रयोजन भी है जैसे - नदी आदि पार करते समय दण्ड से पानी को नापना, हिंसक जन्तुओं कुत्ते आदि से आत्मरक्षा आदि। अतः यह स्मृति एवं एतन्मूलिका श्रुति ये दोनों ही दृष्टादष्ट प्रयोजनवती है।

न्याय मूला प्रयोजनवती

न्यायमूला प्रयोजनवती श्रुतियों से उन श्रुतियों एवं तन्मूलक स्मृतियों का गृहण किया गया है जिसमें एक ही इष्ट साधन के लिए अनेक कर्मों का विधान है तथा सभी विकल्प विधि हैं। जैसे जप का दशांश हवन करना चाहिए, हवन का दशांश तर्पण, तर्पण का दशांश मार्जन, मार्जन का दशांश ब्राह्मण भोजन होना चाहिए परन्तु इसकी वैकल्पिक विधि यह है कि यदि इन दशांशों को जप के द्वारा भी पूर्ण किया जा सकता है अतः दशांश हवन आदि करें अथवा जप यह वैकल्पिक होने से एतन्मूलिका श्रुति

न्यायमूला प्रयोजनवती है। इसी भांति -

उदितेनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः।।(63)

अग्निहोत्र आदि याज्ञिक कर्मों को सूर्योदय होने पर, सूर्योदय होने से पूर्व तथा इन दोनों की मध्य बेला में करें। यह वैदिकीय श्रुति है। इतन्यूलिका यह स्मृति बतलाई गई। इन तीनों में एक साथ यज्ञ सम्भव नहीं है। अतः विकल्प विधि होने से ये न्यायमूला प्रयोजनवती स्मृति हुई।

अनुवाद स्मृति प्रयोजनवती

श्रुति में जैसे दृष्ट है उसको उसी रूप में स्मृति में बतलाना यह अनुवाद स्मृति प्रयोजनवती है। जैसे- यदि वेतरथा ब्रह्माचर्या देव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वर (64) यह श्रुति है इसी की अनुवाद करने वाली 'ब्राह्मणः प्रव्रजेत् गृहात्' यह मनुस्मृति है। अतः इस तरह की स्मृतियों को भगवान् व्यास ने अनुवाद स्मृति की संज्ञा दी है।(65)

उनके नाम इस प्रकार हैं

(1) मार्कण्डेय महापुराण	(2) मत्स्य महापुराण
(3) श्रीमद् भागवत महापुराण	(4) भविष्य पुराण
(5) वायु पुराण	(6) ब्रह्मवैवर्त पुराण
(7) विष्णु महापुराण	(8) अग्नि पुराण
(9) नारद पुराण	(10) पद्म पुराण
(11) वामन पुराण	(12) लिंग पुराण
(13) वाराह पुराण	(14) गरूण पुराण
(15) ब्रह्म पुराण	(16) कुर्म पुराण
(17) ब्राह्माण्ड पुराण	(18) स्कन्ध पुराण

पुराण एवं इतिहास -

वेदों के गूढ़ार्थ को सरलतम रीति से समझाने की दृष्टि से ही भगवान व्यास ने अष्टादश पुराण

की रचना की।(66) इस महाभारत वचन के अनुसार वेदों का गूढ़ार्थक ज्ञान ही पुराणों की कथाओं द्वारा वर्णित है जैसे -

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाघत्य -
नश्नभन्यो अभिचाकशिति।।(67)

इस मंत्र में जीव एवं ईश्वर को सखा भाव में दर्शाया गया है ये दोनों शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर रहते हैं परन्तु इन दोनों में भेद मात्र इतना है कि जीव अपने किए हुए कर्म फलों का भोक्ता होता है परन्तु परमात्मा कर्मों से लिप्त न होता हुआ उसके फल का भोक्ता भी नहीं होता है तथा सर्वदा हर प्रकार से स्वस्थ एवं प्रकाशित रहता है।

इस वेद मंत्र में दर्शाये गये आख्यान के अनुसार ही श्रीकृष्ण एवं श्री सुदामा जी का चरित्र है। गुरूकुल में अध्ययन करते समय गुरू के अग्निहोत्र कार्य के लिए आश्रम से बाहर गए हुए हुये दोनों छात्र हैं जिसमें एक परमात्मा श्रीकृष्ण लकड़ी तोड़ने के व्याज से वृक्ष के ऊपरी भाग पर हैं तथा दूसरा जीव कोटि का प्रतिनिधित्व करने वाला सुदामा उसी वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ कर्म फल का प्रतिनिधि के व्याज से ईश्वर को बिना समर्पित किए ही चोरी-चोरी अपने कर्म फल चनों का भक्षण कर रहा है। परमात्मा कर्मफल का भोक्ता नंहीं होता है अतः वेदार्थ के रूप में भगवान श्रीकृष्ण वैसे भी चना नहीं खाते परन्तु श्री ठाकुर जी को बिना भोग लगाये चना भक्षण करने के पाप से सुदामा को श्रीकृष्ण की अगली अनुकम्पा तक दरिद्र रहना पड़ा। (68) यहां सम्पूर्ण जीवों का प्रतिनिधित्व करने वाला सुदामा एवं भगवान श्रीकृष्ण परस्पर मित्र हैं। समान वृक्ष के ऊपरी भाग पर परमात्मा तथा निचले भाग पर जीवन का प्रतिनिधि सुदामा है। चना कर्मफल का प्रतिनिधित्व कर रहा है जिसका भक्षण केवल जीवों का प्रतिनिधि केवल सुदामा ही कर रहा है ईश्वर नहीं। ईश्वर को समर्पित किए बिना कर्मफल भोग करने का दण्ड जीव को मिला। इस तरह उक्त कथा के माध्यम से पुराणकार ने वेद के पूर्वोक्त मंत्र का अर्थ बताया है अतः सम्पूर्ण पुराण एवं महाभारत आदि इतिहास वेदों का ही उपब्रह्मण करते हैं।

पुराण एवं इतिहास के लक्षण -

पुराणों का लक्षण प्रस्तुत करते समय भगवान व्यास ने पुराणों के पांच लक्षण बतलाये हैं-

अत्र सर्गो विसर्गस्य, वंशो गन्मन्तराणि च।

वंशानुचरितं चैव पुराणम् पंचलक्षणम्।।

पुराणों के पांच लक्षण इस प्रकार हैं -

(1) सर्ग : सृष्टि वर्णन

(2) विसर्ग : प्रलय वर्णन

(3) वंश : सभी नृपों के वंशों का विस्तार

(4) मनमन्तर : युग, कल्प, सम्वत् सर आदि का वर्णन

(5) वंशानुचरित : राजाओं के वंशों का चरित्र वर्णन

इस तरह ये लक्षण पुराण के हुए जो अष्टादश पुराण में गतार्थ होते हैं।

इतिहास का लक्षण भी इससे कुछ भिन्न है। पुराण में किसी एक वंश का वर्णन प्राधान्य नही होता है। जबकि इतिहास में कोई एक वंश प्रधान रहता है तथा उसके चरित्र को उजागर करने वाले अन्य वंश सहायक, जैसे - रामायण, रघुकुल का वर्णन करता है, तथा राम उसके प्रधान नायक हैं तथा महाभारत पाण्डव कुल का प्राधान्येन वर्णन करता है एवं अन्य राजागण पाण्डव कुल को उजागर करने में सहायक मात्र हैं। इतिहास शब्द का शाब्दिक अर्थ - इति ह इति पारम्पर्योपदेशः अव्यय है एवं आस शब्द का अर्थ होता है रहने वाला, अतः परम्परानुकूल वंश विशेष का चरित्र जिसमें रहे उसे इतिहास कहते हैं।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. अन्नमभट्ट, तर्क संग्रह, वाराणसी, प्रत्यक्ष प्रमाण
2. वही, प्रत्यक्ष समीक्षा
3. वही, प्रत्यक्ष समीक्षा
4. वही, प्रत्यक्ष समीक्षा
5. शब्द ब्रह्म पर ब्रह्मणोस्तादात्म्य समीक्षणम्, पृष्ठ संख्या-2
6. " पृष्ठ संख्या -3
7. " पृष्ठ संख्या -3
8. वैशेषिक दर्शन सूत्र
9. जैमिनि, मीमांसा दर्शन
10. अन्नमभट्ट, तर्कसंग्रह
11. महर्षि व्यास, श्रीमद् भागवत् महापुराण
12. वही
13. महर्षि मनु, मनुस्मृति, वाराणसी पृष्ठ 2/12
14. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, वेदार्थपारिजात, द्वितीय खण्ड, श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कल्कत्ताः 1980 पृष्ठ 1556
15. उलूक भट्ट, उलूक भट्ट की टीका, बम्बई
16. रघुवंश महाकाव्य, द्वितीय सर्ग
17. आचार्य भर्तृहरि, वाक्यपदीयम् वाराणसी 1976, पृष्ठ 1/5
18. वही, 1/6
19. महर्षि मनु, मनुस्मृति, वाराणसी 2/18
20. वही

21. वही
22. आचार्य भर्तृहरि, वाक्यपदीयम् - वाराणसी 1976 पृष्ठ 1/40
23. वैशेषिक दर्शनसूत्र
24. जैमिनि, मीमांसा दर्शन 1/1/1
25. वही 1/1/2
26. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, विचार पीयूष धर्मसंघ शिक्षामण्डल दुर्गाकुण्ड वाराणसी 1975, पृष्ठ 212-213
27. वही, पृष्ठ 212
28. वही, पृष्ठ 212
29. पाण्डेय रामचन्द्र, संस्कृत साहित्येतिहासः मुजफ्फरपुर 1968
30. विश्वनाथ पंचानन, न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, वाराणसी 1975
31. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरित मानस गोरखपुर 1985 - बालकाण्ड
32. विश्वनाथ पंचानन, न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, वाराणसी 1975
33. पाणिनि धातु पाठ 1107
34. पाणिनीय सूत्र 3/1/134
35. स्वामी करपात्री जी, वेदस्वरूप विमर्श : कलकत्ता 1969, पृष्ठ - 1
36. वही पृष्ठ 1.
37. वही पृष्ठ 1
38. दीक्षित भट्टोजी, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, वाराणसी 1969 बाल मनोरमा टीका, तृतीय खण्ड, पृष्ठ 274
39. पाणिनीय धातु पाठ 1064, 1171, 1450, 1709
40. स्वामी करपात्री जी, वेदस्वरूप विमर्श : कलकत्ता, 1969 पृष्ठ - 2
41. पाणिनीय सूत्र 4/1/114
42. स्वामी करपात्री जी, वेद स्वरूप विमर्श : कलकत्ता : 1969, पृष्ठ - 2

43. भगवान पतन्जलि, व्याकरण महाभाष्य पस्प शाहनिक, वाराणसी : 1988

44. स्वामी करपात्री जी, वेद स्वरूप विमर्श :, कलकत्ता, 1969 पृष्ठ - 3

45. भगवान पतन्जलि, व्याकरण महाभाष्य, पस्प शाहनिक वाराणसी, 1988

46. वही

47. स्वामी करपात्री जी, वेदार्थ पारिजातम् प्रथम खण्ड श्रीकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान कलकत्ता 1980 पृष्ठ 69

48. वही पृष्ठ 83

49. महाकवि कालिदास, रघुवंश महाकाव्य द्वितीय सर्ग

50. आचार्य भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, वाराणसी, 1967, 1/7

51. महर्षि मनु, मनुस्मृति वाराणसी 2/36

52. शुक्ल सूर्यनारायण, वाक्यपदीयभावो प्रदीप टीका, वाराणसी, 1975, 2/7

53. वही, 2/6

54. वही 2/6

55. वही 1/7

56. वही 1/7

57. महर्षि मनु, मनुस्मृति, वाराणसी, दूसरा अध्याय

58. भगवान पतन्जलि, व्याकरण महाभाष्य पस्पशाह्निक

59. वही

60. वही

61. वही

62. महर्षि मनु, मनुस्मृति, वाराणसी 2/45

63. वही 2/15

64. शुक्ल सूर्यनारायण, वाक्य पर्दायभावनो प्रदीप टीका, वाराणसी, 1975 2/7

65. महर्षि मनु, मनुस्मृति, वाराणसी, षष्ठम् अध्याय सन्यास प्रकरण

66. महाभारत, गीता प्रेस गोरखपुर
67. श्वेताश्वतरोपनिषद 4/7
68. श्रीमद भागवत् महापुराण दशम स्कन्ध
69. वही

तृतीय अध्याय

स्वामी करपात्री जी और उनका राजनैतिक दर्शन

अध्याय - 3

स्वामी करपात्री जी और उनका राजनीतिक दर्शन

वर्तमान समय में राजनीति शब्द किसी परिचय का मोहताज नहीं है। राजनीति, जिसकी चर्चा करते हुए अपनी बुद्धि की सामर्थ्यानुसार हर व्यक्ति मिल जायेगा वह व्यक्ति अत्यन्त बुद्धिजीवी और विद्वान भी हो सकता है अथवा ऐसा भी हो सकता है जिसे क. ख. ग. का ज्ञान भी न हो। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार बनता है कि अपने देश को चलाने वाले अथवा उनके प्रतिद्वन्दी के रूप में सामने आने वाले राजनेताओं की कार्यप्रणाली पर विचार-विमर्श कर सके। आज दूरदर्शन, आकाशवाणी, तथा समाचार पत्र ऐसे साधन हैं जिसे यत्र-तत्र व्यक्ति देख सुन या पढ़कर कहां क्या हो रहा है यह तो जान ही लेता है। आज राजनीति जैसे गहन व गम्भीर विषय का स्तर इतना गिरा दिया गया है कि राजनीति को आधुनिक राजनेताओं ने यश, धन और सत्ता प्राप्ति का साधन मात्र बनाकर छोड़ दिया है। स्वामी करपात्री जी ने इस क्षेत्र में भी अपने विचार प्रकट किए एवं सन्यासी होने के उपरान्त भी राजनीति में प्रवेश किया। वर्तमान धर्म निरपेक्ष भौतिक पूंजीवाद और धर्म निरपेक्ष भौतिम समाजवाद के वातावरण में स्वामी जी 'धर्म सापेक्ष पक्षपात विहीन शासन के पक्ष को दृढ़ता से प्रस्तुत करने वाले प्रथम साहसी थे। उनका राजनैतिक मार्ग भी शास्त्रीय था। भगवान मनु का उदाहरण देते हुए उन्होंने राजपुत्र को ही शासक बनने के लिए विविध संस्कारों से संस्कृत एवं शिक्षित होना आवश्यक बतलाया है।(1)

वे आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं - 'आज वकील बनने के लिए ला-कानून पढ़ना पड़ता है। चिकित्सक बनने के लिए आयुर्वेद, ऐलोपैथी आदि पढ़नी पड़ती है। इंजीनियर बनने के लिए नाना प्रकार की शिल्प विद्याएं पढ़नी पड़ती हैं। किन्तु शासक बनने के लिए, विधि निर्माता (एम0पी0, एम0एल0ए0) होने के लिए कुछ भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं समझी जाती है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी अनपढ़ हो, धड़ल्ले से शासक बन बैठता है। जो मुकद्में की पैरवी के लिए घर की औरतों के जेवर बेचकर वकील-बैरिस्टरों की पूजा करता है, स्वयं अपने मुकद्में की पैरवी या बहस नहीं कर पाता, वही राष्ट्र को कानून बनाने वाला, 'विधायक' बन जाता है।' (2) अर्थात् करपात्री जी मनु, व्यास, वशिष्ठ, नारद शुक्र एवं बृहस्पति की परम्परा के राजनीतिक दार्शनिक, भारतीयता के सच्चे दृष्टा तथा आधुनिक विश्व के सर्वोत्कृष्ट मौलिक विचारक के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हुए। वर्तमान युग में

राजनीति शब्द शासक एवं शासितों के सम्बन्धों का द्योतक कराने वाला शब्द बन गया है अतः स्वामी जी ने भी राजनीतिक दर्शन का विवेचन करते समय राजनीति का मुख्य उद्देश्य समष्टि व्यष्टि जगत् को लौकिक, पारलौकिक, उन्नति एवं परम् निःश्रेयस के लिए सब प्रकार की सुविधायें उपस्थित करना और उसके मार्ग में आने वाली विघ्न बाधाओं को दूर करना माना है।

धर्म और नीति -

विद्वदजनों की धारणा है कि धर्म और नीति अलग हैं धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही है, किन्तु स्वामी करपात्री जी इस सिद्धान्त के पूर्णतया विपरीत धर्म को राजनीति का पति बताते हैं। धर्म के बिना नीति विधवा के समान है। बिना धर्म रूप पति के विधवा नीति पुत्रोत्पादन नहीं कर सकती अर्थात् उसमें फलोत्सपादन की क्षमता नही रह जाती है। वैधव्य के रूप में उसका केवल विलाप मात्र शेष रहता है। धर्म के बिना नीति हो सकता है कि वाह्य आडम्बरों की चकमक से आपका दिल लुभा लें किन्तु उसका अन्तु गर्त में जाकर ही होता है। स्वामी जी महाभारत में युधिष्ठिर और दुर्योधन को धर्म और अधर्म के प्रतीक के रूप में उद्धृत करते हुए अपना मत प्रतिष्ठापित करते हैं, 'आस्तिक और धार्मिक लोगों के लिए युधिष्ठिर की ही नीति अनुसरणीय होती है।' 'युधिष्ठिरादिविद् वर्तितव्यं न दुर्योधनादिवत् है।[3] उनके अनुसार भगवान श्रीकृष्ण शब्दों का उदाहरण देते हैं कि 'युधिष्ठि धर्ममय विशालवृक्ष है, अर्जुन उसके स्कन्ध, भीमसेन शाखा और नकुल-सहदेव समृद्ध पुष्प-फल हैं। मैं कृष्ण, ब्रह्म (वेद) और ब्राह्मण उसके मूल हैं तथा दुर्योधन क्रोधमय विशालवृक्ष है, कर्ण स्कन्ध, शकुनि शाखा, दुःशासन समृद्ध पुष्प-फल और अमनीषी राजा धृतराष्ट्र उसेक मूल हैं।[4] उनके कहने का तात्पर्य था धर्मविहीन नीति में क्षणिक सफलता या आंशिक सफलता का आभास हो सकता है किन्तु अन्त में उसकी पराजय होती है, दुर्योधन की धर्मविरूद्ध कूटनीति उसे चौदह वर्षों के विशाल साम्राज्य के शासन के उपरान्त उसे पतन के गर्त में ले गयी ठीक इसके विपरीत युधिष्ठिर उपाख्य धर्मराज्य जिन्होंने धर्मनीति का अनुसरण किया तो अपार कष्टों को सहन करके भी विराट साम्राज्य के एकाधिकारी बने। ओर उनकीधर्मानुकूल शासन पद्धति के कारण उनका राज्य धर्मराज्य कहलाया। स्वामी जी धर्मराज्य को रामराज्य में देखते हैं। रामराज्य की कल्पना सर्वप्रथम गोस्वामी तुसलीदास ने की। स्वामी जी का रामराज्य से तात्पर्य किसी विशेष राजा राम का

राज्य अथवा अन्य किसी व्यक्ति से नही है और न ही ये राम राजा दशरथ के पुत्र हैं। यहां पर सर्वोत्तम धर्मानुकूल आदर्श राज्य व्यवस्था ही उनका रामराज्य है।

गांधी जी राजनीति और धर्म में विरोध नहीं मानते। जबकि प्लेटो अरस्तू के समय में यह अलगाव पाया गया। कौटिल्य के पूर्व राजनीति और धर्म में विरोध नहीं था किन्तु कौटिल्य ने राजनीति से धर्म को सर्वथा पृथक् करके अर्थशास्त्र के अंतर्गत रखा। इस प्रकार स्वामी जी के मत गांधी जी के मत के सर्वथा अनुकूल है। स्वामी करपात्री जी धर्म और नीति का तादात्म्य संबंध दर्शाते हुए कहते हैं, "व्यक्ति समाज राष्ट्र एवं विश्व के धारण पोषण वाले तथा संघटन, सामन्जस्य, शान्ति, सुव्यवस्था की स्थापना में अत्यन्त उपयोगी और परिणाम में भी जो अहितकर न हों ऐसे नियमों को ही धर्म कहा जाता है।(5)

स्वामी करपात्री जी का मत था कि धर्म और राजनीति दोनों की प्राथमिकता में धर्म पारलौकिकता प्रधान है और नीति लौकिकतता। दोनों के आधाराधेय सम्बन्ध में ही पूर्णता बताते हुए वे इस सम्बन्ध के विवेचन को एक चुनौती के रूप में स्वीकार करके सिद्ध करते हैं कि 'यतोभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः" यह धर्म का तटस्थ लक्षण है अर्थात् जिससे अभ्युदय (ऐहलौकिक-पारलौकिक उन्नति) एवं निश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो वही धर्म है। परन्तु यहां प्रश्न यह उठता है कि किन साधनों से अभ्युदयादि की सिद्धि होती है, अतएव कौन-कौन से कर्म-धर्म हैं, इसका पूर्णरूप से ज्ञान अपौरूषेय वेद एवं तन्मूलक शास्त्रों से ही हो सकता है। इसलिए राष्ट्र के धारण-पोषणानुकूल शास्त्र सम्मत वेद, इन्द्रिय, बुद्धि अहंकार की हलचलें या व्यापार ही धर्म है। इसी में यज्ञ, तप, दानादि तथा सभी वर्णधर्म, आश्रमधर्म का अन्तर्भाव हो जाता है। 'नीति' शब्द का भी अर्थ प्रायेण वही होता है। अभ्युदय प्राप्ति जिससे हो, वही नीति है। 'धृञ्-धारणे' धातु से 'धर्म' और 'णीञ्-प्रापणे' धातु से 'नीति' शब्द सिद्ध होता है - 'ध्रियतेभ्युदयोनेनेति धर्मः', 'नीयते प्राप्यतेभ्युदयोनयेति नीतिः।' अर्थात् अभ्युदय का धारण जिससे हो, वही 'धर्म' और अभ्युदय की प्राप्ति जिससे हो वही नीति है। फलतः दोनों का एक ही अर्थ होता है। इसलिए कुछ लोग तो नीति को ही धर्म कहते हैं। पर कुछ लोग लौकिक अभ्युदय (उन्नति) के साधन को 'नीति' और पारलौकिक उन्नति के साधन को धर्म कहते हैं। यह विभाग भी प्रधानता और अप्रधानता की ही दृष्टि से है। धर्म से पारलौकिक उन्नति प्रधान रूप से और गौण रूप से लौकिक उन्नति भी होती है इसी तरह नीति से लौकिक उन्नति प्रधान रूप से और अप्रधान रूप से पारलौकिक उन्नति भी होती है।

नीति से ही शास्त्र और धर्म प्रतिष्ठित होते हैं। नीति के बिना शास्त्र और धर्म नष्ट हो जाते हैं - 'नश्येत्त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्' अतः धर्म और नीति का अनिवार्य सम्बन्ध मानने पर हमारा आगामी मार्ग अत्यन्त सुगम हो जायेगा। (6)

राष्ट्र और धर्म -

स्वामी जी के धर्म विषयक विवेचन के क्रम में अद्वैत विद्वान करपात्री जी राष्ट्र को धर्म से अनुप्राणित करने के पक्षपाती है। उनके अनुसार बिना धार्मिक भावनाओं का प्रतिष्ठापन हुए सुखपूर्वक समाज राष्ट्र का सुसंगठन हो ही नहीं सकता। अर्थात् धर्म ही राष्ट्र के सुसंगठन का मूल है।

स्वामी जी राष्ट्र में धर्म एवं आस्तिकता को आवश्यक बताते हैं। राष्ट्र में सुख-शान्ति के लिए अस्तिकता परमावश्यक है परन्तु वे कोई धर्म बलात् किसी पर लादने के पक्षपाती नहीं है वरन् उनकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति वह चाहे किसी भी धर्म या मजहब का हो यदि वह उसी के अनुसार आचरण करे तो कोई भी राष्ट्र सतत् उन्नति अवश्य कर सकता है। धर्म राष्ट्र में अंकुश का कार्य करता है। धर्म और राष्ट्र एक दूसरे के पूरक हैं। धर्म विहीन राष्ट्र अराजकता को प्राप्त होता है। इसलिए स्वामी जी राष्ट्र एवं धर्म के परस्पर समन्वय पर जोर देते हैं किन्तु आवश्यकता धर्म को सच्चे अर्थों में जानने व समझने की है।

भारतीय शासन विधान एवं आदर्श शासक का स्वरूप

भारतीय राजनीति के विद्वान एवं सैक्युलरवाद को पूर्णतः विरोधी स्वामी करपात्री जी भारतीय शासन विधान को पूर्णतः शास्त्रीय देखना चाहते थे धर्म निरपेक्षता की लहर का भारतीय जनजीवन पर क्या प्रभाव रहा इसको तो हम नहीं बता पा रहे हैं परन्तु इस प्रयास में स्वामी जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया इसमें कोई संदेह नहीं है। उन्होंने राजधर्म, दण्डनीति, आदि के स्वरूप को शास्त्रीय स्वरूप में ढालते हुए बताया कि भारतीय राजनीतिशास्त्रानुसारी शासक को उच्छृंखल नहीं होना चाहिए। (7) बल्कि उस पर धर्म का अंकुश आवश्यक था। कहते हैं, 'आज के लोकतंत्र शासन का आधार मुण्डंगणना है इसके अनुसार योग्य शासकों का संग्रह कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी हो जाता है। बहुमत जिसे प्राप्त हो, उसी

के हाथ में शासन सूत्र आ जाता है। पर स्थिति यह है कि भारत में सैकड़ों नही हजारों विधानसभायी मेम्बर इस प्रकार के हैं जो कानून से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। साधारण तौर पर भारतीय राजनीतिशास्त्र वेदों एवं मन्वादि धर्म शास्त्रों को ही राष्ट्र का संविधान एवं कानून मानते हैं। उनकी दृष्टि में 'शास्त्रज्ञों एवं सदाचारी धर्मनिष्ठ विद्वानों की परिषद विधान निर्णेत्री है, विधान निर्मात्री नही।"(8) स्वामी जी आदर्श शासक के स्वरूप को निर्धारित करते हुए कहते हैं कि 'राजा को सौम्य, उदार, विद्वान, शुद्ध, रहस्यज्ञ पूर्ण धर्म नियंत्रित, सदाचारी, जितेन्द्रिय, लोभरहित, निर्व्यसनी होना चाहिए। निर्व्यसनी के अन्तर्गत कठोर भाषण, उग्र दण्ड, अर्थदूषण सापान, स्त्री, मृगया और द्यूत आते हैं।(9) राजा को इन सबों से सर्वथा दूर रहना चाहिए। शुक्रनीति का अनुसरण करते हुए स्वामी जी का मन्तव्य है कि 'जो राजा प्रकृति की बात नहीं सुनता वह अन्यायी है जो प्रजा का रक्षक बनकर रक्षा नहीं करता, उस राजा को पागल कुत्ते के समान मार देना चाहिए।(10) स्वामी जी ने राज्य को पांच विषयों में विभाजित किया है राजा, अमात्य, कोष, सेना और न्याय। राज्य को चलाने के कार्य के लिए प्रणिधि पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, मंत्री, पण्डित, सुमन्त्र, दूत, अमात्य, इन दस प्रकृतियों के संगठन की अतिआवश्यकता है। इनकी योग्यता एवं कार्य क्षेत्र का निर्धारण स्वामी जी ने शुक्रनीति का उदहारण देते हुए किया है कि "किसी शासन लेख पर मंत्री आदि की स्वीकृति होनी चाहिए। उस पर मंत्री, प्राडविवाक, पण्डित और दूत को यह लिखना चाहिए कि यह हमारी सम्मति से लिखा गया है। अमात्य को लिखना चाहिए कि यह ठीक लिखा गया है, सुमन्त्र को लिखना चाहिए कि इस पर पूर्ण विचार कर लिया गया है। प्रधान को लिखना चाहिए कि यह यथार्थ सत्य है, प्रतिनिधि को लिखना चाहिए कि यह अंगीकार करने योग्य है, युवराज लिखें कि यह स्वीकृत किया जाये तब पुरोहित अपना मत लिखे कि यह मुझे सम्मत है। सबके अन्त में राजा लिखे कि यह स्वीकृत हुआ। अपने लेख के अन्त में सबकी मुहर लगनी चाहिए।(11) राजा का कर्तव्य बनता है कि मंत्रिमण्डल क लेखबद्ध युक्ति सहित पृथक् मतों को लेकर विचार करना चाहिए। फिर जो बहुमत हो उसे स्वीकार करना चाहिए।(12)

स्वामी जी ने राजा की तुलना आज के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री से की है जो कि आज के शासक हैं। आज की भ्रष्ट राजनीति पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा कि इन उच्च पदों पर सद्‌गुणी प्रवृत्ति वाले सज्जन व्यक्ति ही आरूढ़ होने चाहिए तथा इसी प्रकृति के लोगों को ही जनता को भी चुनना चाहिए। ऐसी अनिवार्यता पर बल देकर स्वामी जी ने आज की राजनीतिक स्थिति को सुधारने का प्रयास

किया।

स्वामी जी राजा अथवा शासक को भगवान का प्रतिरूप मानते हैं इस कारण कुछ गुण तो राजा के ऐसे अवश्य होने चाहिए जो कि भगवान के समान है। जिस प्रकार ईश्वर परिभू अर्थात् सबसे ऊपर है यही स्थिति राजा की भी है। स्वामी जी ने राजा को कवि भी कह कर सुशोभित किया है। स्वामी करपात्री जी का राजा जो कि कवि है वह कवितायें लिखने का कार्य नहीं करता है। वरन् यहां उनका तात्पर्य अतीत वर्तमान एवं भविष्य दृष्टा से है। अर्थात् उसको मनीषी होना चाहिए। इतिहास का अध्ययन करके अन्य राष्ट्रों तथा अपने राष्ट्र के अतीत का ज्ञान, चारों वेदों द्वारा वर्तमान तथा अनुमान के द्वारा भविष्य का ज्ञान प्राप्त करके राजा को नीति का निर्धारण करने के गुणों से युक्त राजा कवि कहलायेगा।

स्वामी करपात्री जी कहते हैं कि उपर्युक्त समस्त गुणों का समावेश कालिदास ने रघुवंशी शासकों में किया है। महाकवि कालिदास कहते हैं कि मात्र रघुवंशी सम्राटों की कर्तव्यनिष्ठा जो कि शास्त्रीय विधान पर अवलम्बित होती थी जिसमें अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता था। उस क्षेत्र से यदि उनके पुत्र, पत्नी भी गुजरते थे तो उपर्युक्त दण्ड के भागीदार होते थे।[13] रघुवंशी सम्राटों में विश्व कल्याण की भावना कूट-कूट कर भरी थी। उनमें शास्त्रीय आदान-प्रदान परम्परा का उन्नत विकास था कि वे इहलोक के वासी होकर देवपति इन्द्र के साथ सम्पदा विनिमय किया करते थे। इनके शासन में आदर्श अपनी चरम सीमा पर था। बाग बगीचों की ओर जाती हुई उन्मत्त वेश्याओं के वस्त्रों को वायु भी स्पर्श नहीं कर सकती थी तो फिर जन सामान्य की तो बात ही नहीं उठती।[14]

इसी प्रकार दुष्यन्त के शासन का उदाहरण दिया जाता है कि उनके शासन काल में खजाने से लेकर कृषि किसी पर भी पहरा नहीं था।[15]

स्वामी जी के अनुसार आज के युग में भी इसी प्रकार के शासन की आवश्यकता है। महाभारत में व्यास जी का कथन है -

धर्मे रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे।[16]

अर्थात् स्वधर्म पालन में सहज रति होने से धर्म और अर्थ दोनों ही पुष्कल मात्रा में स्वतः प्राप्त थे, फलतः परस्वापहरण आदि अनुचित कार्य में प्रवृत्ति ही क्यों हो? क्या ऐसे महत्वमय धर्म को प्रमुखता

प्रदान कर सुखी एवं शान्त होना आज अभिप्रेत नहीं है? यदि है तो अवश्य ही धार्मिक शासन का निर्माण कराना होगा तो तुलसीदास जी ने कहा है -

चाहिए धर्मशील नरनाहू[17]

निष्कर्षतः आदर्श शासक का स्वरूप पूर्ण धर्मनिष्ठा - जिसे दूसरे शब्दों में सत्कर्तव्यनिष्ठा कह सकते हैं - में ही निहित है। [18]

धर्मसापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य

राष्ट्र और धर्म के परस्पर समन्वय का स्वामी जी ने विधिवत् वर्णन किया है वे धर्म निरपेक्ष सिद्धान्त के विरोधी थे। अपेक्षा शब्द आवश्यकता से अभिप्रेत है। अतएव वे निरपेक्ष को अपेक्षा का विरोधी मानते थे यथा यदि किसी व्यक्ति को पुत्र की अपेक्षा नहीं है तो वह पुत्र निरपेक्ष धन की अपेक्षा नहीं है। इसी प्रकार यदि धर्म की अपेक्षा नहीं है तो वह धर्म निरपेक्ष हुआ। "सर्व धर्मसमभाव" अर्थ उन्हें कदापि स्वीकार नहीं था। वे शासन तंत्र को धर्मयुत अथवा धर्मनियंत्रित बनाना चाहते थे जिसके लिए उन्होंने धर्मसापेक्ष शब्द प्रयुक्त किया।

भारतवर्ष विभिन्न मतावलम्बियों धर्मानुयायियों का देश है अतएव धर्मसापेक्ष व्यवस्था कैसे सफलीभूत हो सकती है इसके लिए स्वामी जी ने 'पक्षपात विहीन' शब्द को प्रयुक्त किया था। इसमें सभी धर्मों की स्वतंत्रता के साथ सामाजिक शक्ति सापेक्ष धर्मानुसार शासन व्यवस्था को धर्म सापेक्ष राजनीति कहा गया है। इसमें किसी भी धर्म के साथ पक्षपात का प्रश्न नहीं है।

स्वामी जी का धर्म सापेक्ष का तात्पर्य यह है कि राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, कला इतिहास आदि का प्रयोग और व्याख्या धर्म के आधार पर की जाये और उसे जीवन व्यावहारिक रूप दिया जाये। राज्य इस व्यवस्था का कार्यान्वयन मात्र करें, न संशोधन, परिवर्तन या परिवर्द्धन। धर्मसापेक्ष राज्य का कथमपि ये तात्पर्य नहीं कि किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष का शासन हो और अन्य धर्म सम्प्रदाय शासन से दूर और अपेक्षित रहे।[19]

धर्म सापेक्ष शासन व्यवस्था में स्वामी जी एक धर्म विभाग की स्थापना पर जोर देते हैं जिसमें

सभी धर्मों के आचार्य प्रतिनिधि के रूप में रहें और जिस धर्म की व्यवस्था का प्रश्न हो उस धर्म पर वे प्रतिनिधि अपना निर्णय दें। इस पकार शासन धर्मनियंत्रित भी होगा और किसी के साथ पक्षपात भी नहीं हो सकेगा।

भारतीय जनतंत्र में स्वामी जी का मौलिक चिन्तन -

स्वामी जी की आदर्श राजनीतिक व्यवस्था राजतंत्र है। लेकिन उपलब्ध शासन पद्धतियों में वे जनतंत्र को अच्छा मानते हैं। भारत में उसके व्यवहार पर उन्हें आपत्ति है। उनका मानना है कि जनता सावधान एवं सतर्क नही है। जनता निर्धन होने से साधनों का प्रयोग नही कर पाती, बल्कि समाज का न्यूनतम वर्ग जनतंत्र की उपलब्धियों का उपभोक्ता है। जनतंत्र की प्रक्रिया में गुटबंदी एवं परस्पर विद्वेष बढ़ा है। स्वतंत्र जनमत का प्रयोग नहीं है। गुण्डे एवं जाति बिरादरी की उदण्ड प्रवृत्तियां शक्तियां जबरदस्ती मतदान केन्द्रों पर कब्जा करती है। जाली वोट डालना सामान्य बात है। राजनीतिक दल सैद्धान्तिक रूप में जिस मान्यता का विरोध करते हैं व्यवहार में उन्हीं का प्रयोग संघर्षरत है। विदेशी पूंजी का प्रयोग राजनीतिक दल राष्ट्रहित के विपरीत करते हैं। ऐसी स्थिति में स्वामी जी का मत है कि सत्पुरूषों, सन्तों को चाहिए कि वे पलायन के स्थान पर राजनीति में आयें ताकि राजनीति असामाजिक तत्वों के हाथ से सत्पुरूषों के हाथ में आ सके।

इस प्रकार भारतीय जनतंत्र में स्वामी जी का दृष्टिकोण स्पष्ट है वे ऐसे जनतंत्र की कामना करते हैं जहां एक व्यक्ति की आवाज, विरोध की भी कीमत हो जहां सम्राट इतना अधिक प्रजातांत्रिक हो कि ऊंच, नीच, अमीर, गरीब का भेदभाव नहीं जहां चुनाव प्रक्रिया सरल एवं सस्ती हो तभी जनतंत्र सफल हो सकता है।

भारतीय राजनीति में स्वामी जी का आर्थिक दृष्टिकोण -

करपात्री जी ने आज के युग में प्रचलित पूंजीवाद, समाजवाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद में स्वीकृत असंतुलनकारी अर्थव्यवस्था को मानवीय समस्याओं के समाधान में असमर्थ पाकर एक ऐसी धर्मनियंत्रित आर्थिक व्यवस्था को अपनाने पर जोर दिया है, जिसमें समष्टि, व्यष्टि दोनों का समन्वय करके सर्वत्र

सुख, धर्म, शान्ति एवं स्वतंत्रता का साम्राज्य स्थापित हो सके। वे बेकारी एवं शोषण फैलाने वाले महायंत्रों का बहिष्कार कर सबको स्थायी रूप से योग्यता एवं आवश्यकता के अनुसार काम दाम एवं विकास का अवसर प्रदान करने के पक्षपाती हैं। वस्तुतः आधुनिक भारत में जवाहरलाल नेहरू और स्वामी करपात्री जी ने पूंजीवाद पर स्पष्ट आक्रमण किया किन्तु तरीकों में अन्तर अवश्य है। गांधी जी और स्वामी जी धर्म और राजनीति एक करते हैं। दोनों का आदर्श रामराज्य है लेकिन गांधी का रामराज्य नैतिक अराजकता के जाल में फंसकर हृदय परिवर्तन इस्टीशिप, नैतिक व्यक्ति आदि की कल्पना में पूंजीवाद के साथ जुड़ जाता है जबकि स्वामी जी अतिरेक के वितरण, पूंजी एवं उसकी व्यवस्था पर राज्य का सीधा समाजसापेक्ष नियंत्रण मानकर यथार्थवादी व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं यह धर्म सापेक्ष समाजवाद का दर्शन है जो कि आर्थिक दर्शन में बेजोड़ है।

स्वामी जी समाज में धर्म नियंत्रित आर्थिक व्यवस्था के प्रचलन के पक्षपाती हैं। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धन्त के पूर्ण समर्थक हैं पर यह सिद्धान्त आर्थिक विषमता का कारण बन जाये इसके लिए वे उस पर धर्म तंथा राज्य शक्ति के उचित प्रयोग को स्वीकार करते हैं। वयावहारिक राजनेता होने के कारण वे प्राचीन भारतीय शास्त्रों का संदर्भ प्रस्तुत करते हुए भी आधुनिक समस्याओं का पूर्ण व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करते हैं। अतः स्वामी जी का आर्थिक दर्शन कल्पनावादी न होकर यथार्थ के धरातल पर खड़ा है। आर्थिक विषमता के समापन का यह सबसे बड़ा साधन है।

स्वामी करपात्री जी और मार्क्स -

भारतीय परम्परा में आदि शंकराचार्य के बाद स्वामी करपात्री जी ऐसे विचारक हुए जिन्होंने भारतीय व्यक्तित्व को 20वीं शताब्दी में स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मार्क्सवाद की प्रचण्ड आंधी ने जब आधी दुनियां की चिन्तरधारा को झकझोर दिया, स्वामी जी 1982 तक भारतीय व्यक्तित्व को स्थापित करने का प्रयास करते रहे। मार्क्स की विचारधारा से प्रेरणा लेकर विश्व के अनेक विकासशील, अर्धविकसित एवं अविकसित देशों ने अपने आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था का विकास किया है, लेकिन भारत की स्थिति थोड़ी भिन्न रही। यद्यपि मार्क्सवाद की हवा से भारतीय परिवेश अछूता नहीं रहा, लेकिन यहां की मिट्टी की ये विशेषता रही है कि कोई भी वाद यहां की दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा की सीमाओं को लांघ कर पनप नहीं सका। स्वामी

जी ने वैदिक व्यवस्था के विश्लेषण में इस बात को सिद्ध किया। उन्होंने भारतीय सामग्री के आधार पर मार्क्सवाद की धज्जियां उड़ाकर यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय व्यक्तित्व की कीमत पर यहां किसी आंधी का टिकना असम्भव है।

स्वामी करपात्री जी की सम्पूर्ण विचारधारा चिन्तन एवं व्यावहारिकता का योगफल रहा है। स्वामी जी पश्चिमी विचारधारा पर अपनी प्रतिक्रिया विश्व संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। इसके दो रूप हैं, आन्तरिक एवं वाह्य। भारतीय चिन्तन का अंग बन जाने के कारण वाह्य और आन्तरिक रूपों में कोई बहुत अधिक दूरी नहीं रह पाती। स्वामी जी भारतीय व्यवस्था के विश्लेषण में मार्क्स, गांधी, नेहरू, जयप्रकाश और डांगे के विचारों को भारतीय व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं समझते। वे उनके सिद्धान्तों एवं व्यवहारों को व्यापक संदर्भ में अपेक्षाकृत सिकुड़ा हुआ मानते हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवादी परिवेश में दयानन्द, विवेकानन्द एवं तिलक ने वैदिक मान्यताओं के आधार पर भारतीय राजनीति का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। स्वामी जी को उनकी विचारधाराओं में कुछ अधूरापन नजर आता है। वे उस कमी की जीवन पर्यन्त पूर्ति में लगे रहे। आधुनिक प्रमुख विचारधाराओं, पूंजीवाद, समाजवाद एवं मार्क्सवाद में वे सबसे तीखा प्रहार मार्क्सवाद पर करते हैं। उनकी दृष्टि में मार्क्सवाद भारतीय व्यक्तित्व और वैदिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए सबसे अधिक घातक है। स्वामी जी भविष्य में वास्तविक संघर्ष मार्क्सवाद एवं वैदिक व्यवस्था में ही मानते हैं। इस प्रकार स्वामी जी वैदिक व्यवस्था के प्रमुख भाष्यकार के रूप में मार्क्सवाद का भारतीय भूमि पर विरोध करते हैं।

मार्क्स और स्वामी जी दोनों ने पूंजीवाद को मानव जाति का घोर शत्रु बताया।[20] पं0 जवाहर लाल नेहरू और गांधी ने भी पूंजीवाद पर आक्रमण किया। लेकिन सभी विचारकों के आक्रमण के तरीकों में असमानता है। गांधी जी और स्वामी जी धर्म और राजनीति को एक करते हुए समान रूपेण अपना उद्देश्य रामराज्य मानते हैं। गांधी का रामराज्य नैतिक अराजकता के जाल में फंसकर ट्रस्टीशिप, हृदय परिवर्तन नैतिक व्यक्ति आदि के दिवास्वप्न में खो जाता है और अन्ततः पूंजीवाद की ओर मुड़ जाता है। स्वामी जी अतिरेक के वितरण, पूंजी एवं उसकी व्यवस्था पर राज्य का सीधा समाज सापेक्ष नियंत्रण मानते हैं और साथ में उक्त की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में स्वामी जी रामराज्य की व्याख्या वैदिक संहिताओं, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, शुक्रनीति एवं महाकाव्यों के आधार पर करते हैं।[21]

स्वामी जी का स्पष्ट मत रहा है कि भौतिक पूंजीवादी प्रवृत्ति के कारण ही समाज अमीर और गरीब दो वर्गों में पूर्णतः विभक्त हो गया। पूंजीवादी व्यवस्था से मशीनी संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ और लाखों करोड़ों लोगों की रोजी रोटी का साधन पूर्णतया छिन गया। यही पूंजीवाद के विनाश की भी पृष्ठभूमि है।(22) पूंजीवादी प्रवृत्ति बढ़ने से राष्ट्रों की क्रय शक्ति क्षीण होती है। इसी में उपनिवेशवाद का विकास होता है। क्योंकि पूंजीवादी राष्ट्र अपने मालों की खपत अपने उपनिवेशों में करने लगता है लेकिन अन्तर्विरोध के कारण भौतिकवाद पूंजीवाद के गर्भ से उसको नष्ट करने वाली ताकत उत्पन्न होती है और अन्ततः भौतिक समाजवाद का जन्म होता है। पूंजीवाद का खण्डन करते समय स्वामी जी इतने अधिक उग्र हो जाते हैं कि वे लोकतंत्रात्मक सरकारों को पूंजीवादी सरकार की संज्ञा दे डालते हैं।

स्वामी जी का मानना है कि रामराज्य में वैयक्तिक सम्पत्ति तो मान्य है किन्तु उसका संतुलन किया जाता है (23) व्यक्तिगत सम्पत्ति की उत्पत्ति स्वत्व द्वारा होती है। स्वत्व सात प्रकार का होता है - दाय, लाभ, विजय, अर्जन, पुरस्कार, निधि और सूद। इसी से उत्तराधिकार का जन्म होता है। पूंजीवादी व्यवस्था में ये बातें नहीं है। वहां संतुलन का प्रयास नहीं किया जाता। फलतः उसकी सारी अच्छाइयां बुराइयों में परिणत हो जाती है, किन्तु रामराज्य में आर्थिक संतुलन स्थापित करने के लिए धर्म तथा राजशक्ति द्वारा प्रयास किया जाता है जहां पर धर्म और राजशक्ति दोनों की अवहेलना होती है उसे 'अराजकत्व' कहा जाता है।

मार्क्स और स्वामी जी दोनों ने ही पूंजीवादी प्रवृत्ति को मानव प्रवृत्ति के लिए घातक बताया। लेकिन यहां मार्क्स ने पूंजीवाद के विकल्प में वैज्ञानिक समाजवाद का नारा दिया वहीं स्वामी जी ने समाजवाद को घृणित माना। समाजवाद एवं पूंजीवाद में यद्यपि पूंजीवाद ही अधिक घृणित है लेकिन भारतीय मान्यता से जोड़ने पर स्वामी जी को समाजवाद से भी परहेज है।(24)

रजनीश जैसे स्वयंभू भगवान् जब भारतीय मान्यता पर चोट करने का प्रयास कर उसे सतही सैद्धान्तिक धरातल पर लाने का प्रयास करते हैं तो भारतीय मान्यता के साथ भ्रान्यितों उत्पन्न होती है। स्वामी जी ने इन भ्रान्तियों के निवारण में मार्क्स से उग्र होकर पूंजीवादी व्यवस्था का खण्डन किया। वे समाजवाद और पूंजीवाद दोनों ही को भारतीय धरातल के लिए अनुपयुक्त मानते हैं। इन दोनों के विकल्प में वे रामराज्य को भारत के लिए अधिक उपयुक्त मानते हैं।

मार्क्स के ठीक विपरीत स्वामी जी समाजवाद और साम्यवाद का भविष्य गर्भ में मानते हैं। दोनों का वर्तमान तो अत्यन्त विवादास्पद है। साम्यवाद अपने व्यवहार में असफल सिद्ध हुआ है। उसका वर्तमान स्वरूप इतना विकृत हो चुका है कि न तो उसमें संशोधन की कोई गुंजाइश है न ही उसमें पैबन्द लगाकर किसी तरह चाक-चौबन्द किया जा सकता है। विश्व के जिस किसी भी देश में साम्यवाद का प्रयोग हुआ उसका उद्देश्य पूरा न हो सका। हर साम्यवादी देश में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मुक्त समाज की स्थापना के स्थान पर स्थायी अधिनायकवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। अफगानिस्तान, पोलैण्ड, हंगरी में साम्यवादियों ने जो किया, उसके आधार पर उनमें और साम्राज्यवादियों में फर्क करना जटिलतर होता जा रहा है। साम्यवाद का भविष्य देखने पर लगता है कि उसकी प्रत्येक प्रतिक्रिया व्यक्ति को व्यक्तित्वहीन बनाने पर तुली हुई है। स्वामी जी ने साम्यवाद और समाजवाद पर सैद्धान्तिक हमला किया। उन्होंने भारतीय राजनीतिक प्रयोग को विश्व संदर्भ में प्रस्तुत कर विश्व की समस्याओं के समाधान में उसे वैकल्पिक व्यवस्था माना। स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि विश्व की समस्याओं के समाधान में मार्क्सवादी व्यवस्था चुक गयी है।(25)

स्वामी जी ने मार्क्स के शोषक एवं शोषित विहीन समाज की परिकल्पना को व्यवहार में असंभव माना। 'अमृतस्य पुत्राः' के आधार पर उन्होंने माना मार्क्स आत्मा की स्वतंत्र सत्ता न मानकर आत्म चेतना को भी जड़ भूतों का ही विकास मानता है। इसलिए उसकी दृष्टि से समानता, स्वतंत्रता कुछ भी संभव नहीं है। मार्क्स मानता है कि मानव का इतिहास आरम्भ से अन्त तक शोषक एवं शोषित वर्ग का रहा है। इसके विपरीत भारत में वैदिक इतिहासों तथा रामायण, महाभारत आदि आर्य इतिहासों में सर्वत्र एक ओर ईश्वरीय दैवी सद्भावना, परमैश्वर्य तथा आर्य भाव है तो दूसरी ओर दानवी, राक्षसी शक्तियों की सत्ता भी प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि मानव इतिहास में सामरस्य की खोज करना व्यर्थ है। मार्क्स मानव इतिहास में सामरस्य स्थापित करने की बात करता है, जो बौद्धिक दिवालिएपन का द्योतक है।

मार्क्स ऐसे शोषण मुक्त समाज के रचना की कल्पना करता है जिसमें मनुष्य अपनी असमर्थता की सीमा से ऊपर उठ सके और सामाजिक विकास का नियंत्रण कर सके। (26) स्वामी जी का मत है कि प्राचीन भारतीय मार्क्स की कल्पना से कहीं अधिक उत्कृष्ट समाज पद्धति का निर्माण तथा अनुभव कर चुके हैं। आत्मसंयम, इन्द्रिय निग्रह, त्याग, बैराग्य, आत्मनिष्ठा की उत्कृष्ट भावना के बिना असमर्थता के

ऊपर उठना असम्भव है। स्वामी जी के अनुसार मार्क्स इसकी कल्पना भी नहीं कर सका। कोई भी समाज जितना अधिक संयमी एवं नियंत्रित होगा, उतना ही स्वतंत्र होगा। कोई व्यक्ति समष्टिहित की उपेक्षा करके, समष्टिहित की हानि करके समष्टि नियंत्रण को ठुकराकर व्यष्टि हित का प्रयत्न करें वह सफल नहीं हो सकता। राष्ट्र भी यदि विश्व की हानि करके मनमाने ढंग से आत्मोन्नति चाहता है, तो वह राष्ट्रवाद भी व्यक्तिवाद एवं तथाकथित सम्प्रदायवाद से खतरनाक होता है। मार्क्सवादी शासनपद्धति में व्यक्ति जड़ शासन यंत्र का नगण्य कलपुर्जा बनकर रहता है वहां व्यक्तित्व के विकास का अवकाश नहीं है।(27)

स्वामी जी मार्क्स की इस धारणा का खण्डन करते हैं कि मार्क्सवाद दासता, विषमता, असहिष्णुता को समाप्त कर स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व की स्थापना करता है। स्वामी जी का मत है कि भारतीय व्यवस्था में यह आदर्श स्वयं सिद्ध है। रूसी राज्य क्रान्ति के बाद भी वहां विषमता दूर नहीं हुई। वहां आज समाज राज्य के स्थान पर व्यक्ति और दल का राज्य है। साम्राज्यवाद में भी यही स्थिति है आधुनिक मार्क्सवाद और साम्राज्यवाद में विशेष अन्तर नहीं है। स्वामी जी का मत है कि मार्क्सवाद विश्व प्रयोगशाला में पूर्णतः असफल हो चुका है।

स्वामी जी ने मार्क्स के विपरीत धर्मनियंत्रित राजतंत्रवाद को सम्यक् शासन पद्धति माना। इसी को वे रामराज्य के नाम से पुकारते हैं। रामराज्य में लोकमत और समता दोनों है। स्वामी जी को आधुनिक समाजवादी व्यवस्था में लोकमत और समता का अभाव झलकता है रामराज्य ही भारतीय राजनीति का आदर्श है। भारत का राजनीतिक दर्शन आदर्श रहा है कि यहां शासक राज्य सम्पत्ति से असम्पृक्त होकर जनकल्याण के लिए संग्रह करता है। जनकल्याण के विपरीत कर संग्रह की कल्पना रामराज्य में नही की जा सकती। 'सुरक्षा नहीं, तो कर नहीं' का सिद्धान्त उस युग में प्रचलित था। क्या आधुनिक समाजवादी राज्यों में यह आदर्श खोजे मिलेगा? मार्क्सवादी राज्यों में शक्ति सम्पत्ति का उचित विवरण नही मिलता। रामराज्य में व्यक्ति की पूर्णता उसकी नैतिकता तथा धार्मिक अनुशासन में है। ऐसा पूर्ण व्यक्ति ही सारी व्यवस्था का केन्द्र हो सकता है। रामराज्य में शिक्षा, सम्पत्ति एवं धर्म की स्वतंत्रताएं व्यवहारगत होती हैं। स्वामी जी साम्राज्यवाद, साम्यवाद, लोकतंत्रवाद और अधिनायक वाद में रामराज्य को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हैं।

मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद को वैज्ञानिक व्याख्या पर अपने विचारों का प्रसाद खड़ा किया।(28) हीगल ने माना कि इतिहास ईश्वर की आत्मकथा है। वह मनुष्यों को अपनी रूचि के अनुसार कार्य करने देता है। उसका फल वही देता है जो ईश्वर चाहता है। डिल्डन मेर ने माना कि संसार अज्ञात रूप से, पर बड़े कष्टपूर्वक ईश्वर की ओर बढ़ रहा है - मेरे लिए इतिहास का यही अर्थ है। स्वामी जी पश्चिमी इतिहासकारों के इतिहास सम्बन्धी धारणाओं को अधूरा मानते हैं। स्वामी जी का मत है कि मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद में वस्तुगत एवं विषयगत कारकों का प्रयोग होता है। उन्होंने इनसे निरपेक्ष होकर इतिहास का भारतीय रूप प्रस्तुत किया। वे ज्ञान का स्रोत समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा को मानते हैं। साथ ही इतिहास को वेदार्थ ज्ञान में साधन स्वीकार करते हैं। रामायण, महाभारत आदि आर्ष इतिहास के लेखक बाल्मीकि व्यास आदि ऋषि ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुसार घटनाओं को पूर्णतया जानकर ही इतिहास लिखने में संलग्न हुए। वैदिकों के वेदार्थ को जानने के लिए इतिहास पुराण का अत्यन्त उपयोग है।

'प्राग्वृत्तकथनं चैकराजकृत्यमिषादितः। यस्मिन स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तः स एवहि।'(29)

इस प्रकार स्वामी जी ने कौटिल्य और शुक्र की परिभाषायें देकर भारतीय इतिहास की व्याख्या का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया। मार्क्स के ऐतिहासिक व्याख्या में आर्थिक निश्चयवाद उसके सर्वांग विश्लेषण हैं। स्वामी जी की व्याख्या में आर्थिक निश्चयवाद ऐकान्तिक साधन न होकर एक अंग मात्र है। स्वामी जी ने इतिहास के भारतीय व्याख्या में धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र दोनों का समावेश किया। स्वामी जी ने भारतीय व्याख्या से यह सिद्ध किया कि मार्क्स की ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या सीमित, एकांगी और विषयगत मान्यताओं से ग्रस्त है।

मार्क्स मानता है कि विश्व में अब तक जितनी भी सामाजिक एवं राजनीतिक क्रान्तियां हुई हैं उसका आधार आर्थिक रहा है। मार्क्स ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि धर्म एवं अर्थ में किसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध नही हो सकता। स्वामी जी ने इतिहास का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि विश्व इतिहास में धर्म के मूल से जुड़े त्यागी महात्माओं एवं उनसे प्रभावित समाज ने राजनीतिक एवं आर्थिक क्रान्ति में सर्वाधिक बलिदान किया है। भारत सहित सभी पश्चिमी देशों में आन्दोलनों का नेतृत्व, धार्मिक नेताओं, साधुओं एवं सन्यासियों ने किया। आधुनिक भारत का पुनर्जागरण वेदान्त से आता है। विवेकानन्द, तिलक, अरविन्द की वेदान्त तथा गीता की दार्शनिकता ने आधुनिक भारत में सैनिक राष्ट्रवाद एवं उग्रवादी

क्रान्ति को जन्म दिया। स्वामी जी स्वयं पश्चिमीकरण बनाम भारतीय करण की लड़ाई लड़ते रहे। 1975 में जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन को सफलता धार्मिक पृष्ठभूमि में ही मिल पाई। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में यदि आध्यात्मवाद का समावेश न हुआ होता तो उनकी सफलता संदिग्ध थी। गांधी जी ने स्वयं आध्यात्म की प्रेरणा से राष्ट्रीय आन्दोलनों का नेतृत्व किया। इतने व्यापक आध्यात्मिक, धार्मिक संदर्भ को मार्क्स नकारता है। बौद्ध, जैन, शंकराचार्य, ईसा मसीह, हजरत मोहम्मद की व्यापक क्रान्तियों को मात्र आर्थिक कसौटी पर कसने से उसकी व्यापकता संकीर्ण हो जाती है। स्वामी जी भारतीय संदर्भ में धर्म एवं अर्थ में मार्क्स के विपरीत तादात्म्य स्थापित करते हैं।

स्वामी जी धर्म एवं अर्थ के समन्वय में मार्क्सवाद पर गहरा प्रहार करते हैं उनका मत है कि मार्क्सवादी एवं ईश्वरवादी दोनों में समन्वय नहीं हो सकता। जो आध्यात्मवादी है उन्हें मार्क्सवाद छोड़ना होगा। मार्क्स की अर्थनीति ईश्वर एवं धर्म के रहते चल ही नहीं सकती। आध्यात्मवादी मार्क्सवादी बनकर या तो मार्क्सवादियों को धोखा देते हैं या स्वयं को। पश्चिमी विचारक भारतीय संदर्भ को समझे बिना जब भारतीय परम्परा के संदर्भ में अपने विचार प्रगट करते हैं तो उनके विचार संकीर्ण हो जाते हैं। स्वामी जी धर्म एवं अर्थ के संदर्भ में मार्क्स का प्रतिवाद प्रस्तुत करके भारतीय व्यवस्था की विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

समाजवाद, साम्यवाद एवं मार्क्सवाद के खण्डन में स्वामी जी ने 'रामराज्य एवं मार्क्सवाद' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। स्वामी जी मानते हैं कि साम्यवाद का प्रभाव विश्व के लगभग सभी देशों में है। पूंजीवादी देशों में भी साम्यवाद का आतंक है। मार्क्स फ्रांस के समानता, भ्रातृत्व एवं स्वतंत्रता के उद्घोष से प्रभावित था। लेकिन उसके विचारों में समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व का कोई अर्थ नहीं है। पहले वह समाजवाद का प्रचारक था। बाद में उसने समाजवाद का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। समाजवाद के विरोध में उसने वर्ग संघर्ष का सूत्रपात किया। उसने उस समाजवाद को पूंजीवाद का पर्याय माना जिसमें राष्ट्र के उत्पादन साधनों पर व्यक्ति का अधिकार होता है। स्वामी जी मार्क्स के विचारों के परिवर्तन को उसकी अज्ञानता का द्योतक मानते हैं। उनका मत है कि धर्मनिरपेक्ष भौतिक पूंजीवाद और भौतिक समाजवाद अपूर्ण और सदोष है। उत्पादन साधनों का वैयक्तिक होना पूंजीवाद है, सामाजिक होना समाजवाद है। समाजवाद में आध्यात्मिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। उसमें धर्म, ईश्वर आत्मा नहीं है। दया, दान आदि का कोई महत्व नहीं है। न व्यक्तिगत भूमि, न व्यक्तिगत सम्पत्ति, न व्यक्तिगत खेत, खलिहान, न व्यक्तिगत

उद्योग धन्धे, न व्यक्तिगत औरत और बच्चे हो हो सकते हैं।

साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्था में समाज के कर्णधार का रूप अधिनायक जैसा होता है। उन्हीं के हाथ समाज का राष्ट्र की बागडोर होती है। सत्ता संघर्ष में एक अधिनायक दूसरे अधिनायक का पेट फाड़ कर निकलता है। शासनतंत्र उन्हीं के हाथ का खिलौना है। जनता अधिनायकवादी शासनतंत्र का नगण्य कलपुर्जा है। मार्क्सवादी व्यवस्था में लेखन एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं होती। इस आधार पर स्वामी जी मार्क्सवादी राजनीतिक व्यवस्था का घोर विरोध करते हैं। स्वामी जी राष्ट्र के उत्थान एवं व्यक्ति के विकास की दृष्टि से तीन स्वतंत्रताएं अपेक्षित मानते हैं। शिक्षा की स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता एवं धन की स्वतंत्रता उनके अनुसार मार्क्सीय व्यवस्था में स्वतंत्राओं का कोई अस्तित्व नहीं है।(30)

स्वामी जी भारत के लिए न तो साम्यवादी व्यवस्था को उपयुक्त मानते हैं न ही जनतांत्रिक व्यवस्था। वे उसके विकल्प में धर्म सापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य यानि रामराज्य की कल्पना करते हैं, वे वैदिक मान्यताओं के आधार पर धर्मनियंत्रित राजनीति की बात करते हैं। उनका मत है कि अन्तिम व्यवस्था जो शोषण मुक्त नैतिकता पर स्थिर सहज भ्रातृत्व के प्रतिपालन में होगी वह रामराज्य है। रामराज्य की स्थापना के बिना भारत कभी भी अपने अतीत के गौरव को प्राप्त नहीं कर सकता। स्वामी जी जीवन पर्यन्त भारत में रामराज्य की स्थापना के प्रति आशावादी रहे और जीवन के अंतिम क्षणों तक उन्होंने इसके लिए प्रयास भी किया।" (31)

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्।।

- मनुस्मृति - 7-2

2. श्री स्वामी करपात्री जी, विचार पीयूष, अखिल भारतीय रामराज्य परिषद, वाराणसी, 1975, पृष्ठ-6

3. वही, पृष्ठ 26

4. (क) युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्री पुत्रौ पुष्पफले समृद्धे मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च।।

(महाभारत - आदिपर्व 1,100)

(ख) सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासन पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी।।

(महाभारत - आदिपूर्व - 1.111)

- स्वामी करपात्री, विचार पीयूष, अ0भा0 रामराज्य परिषद वाराणसी, 1975, पृष्ठ 26

5. शर्मा कृष्ण प्रसाद, 'अभिनव शंकर करपात्री जी', धर्मसंघ प्रकाशन - स्वामी पाड़ा मेरठ, 1988, वही, पृष्ठ 237

6. त्रिपाठी डा0 हरिहरनाथ, सन्मार्ग - करपात्र चिन्तन विशेषांक, तुसलीघाट, वाराणसी, 1982, 834

7. स्वामी करपात्री जी, मार्क्सवाद एवं रामराज्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1966, पृष्ठ 834

8. वही, पृष्ठ 834

9. वाग्दण्डयोश्च पारूष्यमर्थ दूषणमेव च।
पानं स्त्री मृगया द्यूतं व्यसनानि महीपतेः।।

- स्वामी करपात्री जी, मार्क्सवाद एवं रामराज्य, गीता प्रेस - गोरखपुर, 1966, पृष्ठ 835

10. अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्या निहन्तव्या श्वेव सोन्माद आतुरः।।

- वही, 834

11. मंत्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितो दूतसंज्ञकः।
स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे।।
अमात्यः साधुलिखितमस्त्येद् प्राग् लिखेदयम्।
सम्यग् विचारमिति सुमंत्रो विलिखेत्ततः।।
सत्यं यथार्थमिति च प्रधानश्च लिखेत स्वयम्।
अंगीकर्तुं योग्यमिति ततः प्रतिनिधिर्लिखेत।।
अंगीकर्तव्यमिति च युवराजो लिखेत् स्वयम्।
लेख्यं स्वामिमतं चैतद् विलिखेच्च पुरोहितः।
स्वस्वमुद्राचिन्हितं च लेख्यान्ते कुर्यरेव हि।

- शुक्रनीति 2/355-359

12. स्वामी करपात्री जी, मार्क्सवाद एवं रामराज्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1966, पृष्ठ 834

13. शर्मा कृष्ण प्रसाद, अभिनव शंकराचार्य करपात्री जी, धर्मसंघ प्रकाशन - स्वामी पाड़ा मेरठ, 1988, पृष्ठ - 252

14. तस्मिन मही शासति वाणिनोनाम्, निद्रां विहारार्धपर्थगतानाम्।
वातो-अपिनास्त्रंसयदंशुकानि, को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्।

- वही, पृष्ठ 253

15. वही, पृष्ठ 253

16. वही, पृष्ठ 253

17. वही, पृष्ठ 253

18. वही, पृष्ठ 253
19. स्वामी करपात्री जी, विचार पीयूष, अखिल भारतीय रामराज्य परिषद, वाराणसी, 1975, पृष्ठ-532
20. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, मार्क्सवाद एवं रामराज्य, गीता प्रेस - गोरखपुर, संवत् 2023, पृष्ठ- 315-354
21. वही, पृष्ठ 354-360
22. स्वामी करपात्री जी, पूंजीवाद समाजवाद एवं रामराज्य सन्मार्ग-वाराणसी, पृष्ठ 19-23
23. सिद्धान्त वर्ष 13, पुरूषार्थ विशेषांक में स्वामी जी का लेख, वैयक्तिक सम्पत्ति और आर्थिक संतुलन, पृष्ठ - 190
24. स्वामी करपात्री जी, पूंजीवाद, समाजवाद एवं रामराज्य संमार्ग-वाराणसी, पृष्ठ - 23
25. सिद्धान्त, वर्ष 2 वर्ष 7, अंक 26, वर्ष 2, वर्ष 13, अंक 42- वर्ष 8, अंक-2, अंक-10, वर्ष-12, वर्ष-6, अंक - 30
26. Leve, Albert William, Humanism and politics, studies in the relationship of power and value in the western traditions. - 1969 Page - 12-66.
27. स्वामी करपात्री जी, शान्ति एवं संघर्ष, वाराणसी, पृष्ठ - 18-20
28. Lichlheim George from Marx to Hegel, New York, Herder and Herde, 1971.
29. शुक्रनीति 4/293
30. त्रिपाठी डा0 हरिहरनाथ, सन्मार्ग, 'करपात्र चिन्तन विशेषांक', पृष्ठ 16-25, 34-35, 79-83, 93-97, 109-113 आदि।
31. मिश्र कौशल किशोर, प्रज्ञा - 7 कार्लमार्क्स स्मृति अंक 30, (भाग-2) एवं 31 (भाग-1) वर्ष 1985, सीमा प्रेस वाराणसी, पृष्ठ - 153-159

चतुर्थ अध्याय

स्वामी करपात्री जी की भक्ति एवं भक्ति रस विषयक अवधारणा

भक्ति शब्द भज् सेवायाम् धातु से क्तिन प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है जिसका शाब्दि अर्थ है सेवा करना। सेवा का पर्यायवाची शब्द शुश्रूषा है और शुश्रूषा का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है "सुनने की इच्छा" इसे तारतम्य में हम कह सकते हैं कि अपने सेव्य की आज्ञा प्राप्त करने के लिए निरन्तर उत्सुक रहना ही सेवक का धर्म है। भवगत् प्रसंग में भक्ति का अर्थ भगवत् सेवा ही है। इस सम्बन्ध में मोनियर विलियम्स ने कहा है "भक्ति शब्द की उत्पत्ति भज् धातु से की गयी है। अर्थाज् भक्ति भावना आर्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप क्रमशः श्रद्धा उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य में भाग लेना जैसे व्यापक भाव में परिणत हुई। दूसरे शब्दों में भक्ति मानव मन में निहित वह भाव है जिससे वह ईश्वर की सत्ता में अनन्य आस्था रख सर्वस्य समर्पण कर भाव विभोर हो जाता है और यही आस्था भाव जब अपनी अंतिम अवस्था को प्रापत करता है तभी साधक ईश्वर भक्ति में लीन हो जाता है। हमारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि अत्यन्त प्राचीन काल से अनेक भक्तों ने ईश्वर के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया है और आज भी ऐसे उदाहरण अनुपलब्ध नहीं हैं। स्वामी करपात्री जी भक्ति मार्गी परम्परा के आभूषण हैं। स्वामी करपात्री कृत संस्कृत महाग्रन्थ 'भक्तिरसार्णवः' इस बात का प्रमाण है। इसके अन्तर्गत स्वामी जी ने भक्तिरस के स्वरूप का शास्त्रीय पद्धति से विवेचन किया है। कतिपय विद्वानों का मत है कि वैदिक संहिताओं में अनुराग सूचक भक्ति का सर्वथा अभाव है जिसमें आचार्य बलदेव उपाध्याय और डा0 सम्पूर्णानन्द के विचार भी इसी मत का समर्थन देते हुए प्राप्त होते हैं।

महामहोपाध्याय पं0 गिरधर शर्मा का मत है कि वैदिक साहित्य में भक्ति सर्वत्र 'भाग' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है किन्तु यहां मैं यह स्पष्ट कर देना चाहूंगी कि स्वामी करपात्री जी की भक्ति एवं तद्विषयक विचार वेद एवं उपनिषदों पर आधारित हैं उन्हीं का स्पष्टीकरण व्याख्या एवं सम्यक् मूल्यांकन के फलस्वरूप स्वामी जी अपने विचार रखते हैं। वे उसी को आधार मानते हुए कहते हैं कि वेदों में भाग अर्थ के अतिरिक्त श्रद्धा और अनुरागपूर्वक सेवा के अर्थ में भी भक्ति शब्द आया है। वेदों में सेवार्थक भज् धातु (भज् सेवायाम्) से निष्पन्न भक्ति,[1] भक्त,[2] भज्,[3] भजते,[4] भजन्ते[5] और भजामहे[6] आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। वहीं स्वामी जी वैदिक ऋषियों की भक्ति भावना का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि भक्ति से ओतप्रोत होकर ही वैदिक ऋषियों ने प्रकृति की उपासना की तथा उसमें दैवीय शक्ति के

दर्शन तक किये। वैदिक मंत्रों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंच जाते हैं कि उन्होंने प्रकृति के प्रति भी उन्हीं मनोभावों को व्यक्त किया है जो एक भक्त अपने उपास्य भगवान के प्रति करता है। अग्नि[7], सूर्य[8], वायु[9], पृथ्वी[10] एवं मातरिश्वा आदि की देवता के रूप में उपासना कर अपने अभिलषित कामनाओं की पूर्ति की प्रार्थना की है। इतना ही नहीं वाक् की कल्पना भी उन्होंने देवी के रूप में की है और वाक् शक्ति में ईश्वरीय शक्ति के दर्शन किये हैं। वाणी सभी का आधार है इस तथ्य को विवेचना की है।(11)

शास्त्रों में देवताओं को शक्ति, ऐश्वर्य, दान, बुद्धि, समृद्धि प्रभृति गुणों से सम्पन्न माना गया है। इन देवताओं के प्रति ऋषियों की भक्ति अनेक रूप में अभिव्यक्त हुई है। भक्ति ग्रन्थों में भक्ति के नौ अंगों का सविस्तार विवेचन मिलता है - श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन। कतिपय विद्वानों ने इस विषय में मतभेद पाये हैं।

स्वामी जी और नवधा भक्ति -

स्वामी करपात्री जी ने इन भक्ति अंगों का अद्भुत विवरण दिया है यद्यपि एकत्रित रूप में उनके किसी ग्रन्थ में नवधा भक्ति का वर्णन नहीं मिलता है किन्तु उनके भक्ति सम्बन्धित ग्रन्थों के अध्ययन से हम कह सकते हैं कि नवधा भक्ति को उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि वैदिक साहित्य में ऋषियों की भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। कतिपय विद्वानों में इस विषय में मतभेद पाये गये हैं। डा0 मुन्शीराम शर्मा ने वैदिक भक्ति भावना का विस्तृत विवेचन किया है।(12) डा0 शर्मा के मत से वेदों में पूजा-सक्ति(13) स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति और सख्यासक्ति सम्बन्धी मंत्र उपलब्ध होते हैं। एक मंत्र में कहा गया है कि हे मनुष्यों, तुम महान और सृष्टिकर्ता इन्द्र की पूजा करो।(14) दास्यासक्ति की भावना से प्रेरित होकर ऋषि अपनी कामना व्यक्त करते हुए कहता है कि जैसे सेवक अपने स्वामी की सेवा करता है, उसी प्रकार से विश्व का भरण-पोषण करने वाले परमेश्वर की निष्पाप सेवा करता रहूँ। परमेश्वर अपना स्तोता भक्त का कल्याण करते हैं।(15) पं0 वेणी राम शर्मा गौड़ का मत है कि वेदों में नवधा भक्ति के सभी रूप उपलब्ध होते हैं किन्तु मुंशीराम शर्मा के मत से नवधा भक्ति का विकास भागवत् भक्ति के प्रचार होने पर हुआ है। अतएव वैदिक मंत्रों में नवधा भक्ति के सभी रूपों को खोजना असंगत है।(16)

इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मुंशीराम शर्मा का यह कहना कि वैदिक मंत्रों में नवधा भक्ति मिलना असम्भव है पूर्णतः सत्य नहीं है अन्वेषण करने के पश्चात् हम ये पाते हैं कि वैदिक मंत्रों में नवधा भक्ति सूत्र रूप में मिलती है जिसका परवर्ती काल में विकास किया गया है, प्रसंगत शास्त्रों में उपलब्ध नवधा भक्ति के स्थलों का वर्णन करना अनुचित न होगा। इसके साथ ही नवधा भक्ति में करपात्री जी के साम्यभाव भी हम देखते हैं -

श्रवण -

श्रवण का अभिप्राय भगवान की कीर्ति अथवा भगवत्चरित्रों को पुनः-पुनः सुनने से है। ऋग्वेद में मिलता है कि "चेतन जीव ध्यानगम्य परमात्मा को उसके यश, श्रवण द्वारा अभ्यास करे।(17) इस मत्रांश में भक्त के लिए ये निर्देश है कि वह अपने कानों से भगवद्यश का श्रवण करे। श्रवण की महिमा के संदर्भ में स्वामी करपात्री जी कहते हैं कि "भगवद् गुणगणालङ्कृत ग्रन्थों के श्रवण, मनन से भक्ति होती है साधन सम्पन्न होकर शुद्ध-बुद्ध मुक्तब्रह्म बोधक वेदान्त ग्रन्थों के श्रवण से ज्ञान होता है। भक्ति में प्राणि मात्र का अधिकार है।(18) श्रवण की महिमा का उल्लेख पुराणों में मिलता है -

संसारसर्प संदष्ट नष्ट चेष्टैकभेषजम्।

कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः।

स्वामी जी का विचार है - "कर्म, भक्ति, ज्ञान तीनों का मुख्य साधन श्रवण ही बतलाया गया है सभी कर्मकाण्ड का उपदेश बेद में है और वह वेद गुरूमुख से अधिकारानुसार यथाविधि श्रवण से ही प्राप्त किया जाना चाहिए। गुरूमुख द्वारा उच्चारित होने पर श्रवण किये जाने के कारण ही वेद के अनुश्रव, श्रुति आदि नाम है। नवविधि भक्ति साधनों में सर्वप्रथम श्रवण ही बतलाया गया है।

कीर्तन -

कीर्तन का अभिप्राय ईश्वर के गुणगान से है करपात्री जी का मन्तव्य है कि "पुरूषों का भगवन्नामादि संकीर्तनादि लक्षण भक्ति ही परमोत्कृष्ट धर्म है, जिससे अधोक्षज भगवान् में अहैतुकी

अप्रतिहता भक्ति होती है जिससे कि अन्तरात्मा का संप्रसाद होता है।" [19] "विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्[20] अर्थात् विष्णु की लीलाओं का प्रवचन करता हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर [21] भी ईश्वर का गुणगान मिलता है। कीर्तन की महिमा के सम्बन्ध में पुराण का एक कथन उल्लेखनीय है-

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरे अर्चयन्।

यदाप्नोति तदाप्तनोति कलौसंकीर्त्य केशवम्।।

स्वामी करपात्री जी की दीक्षा भले ही अद्वैत शंकर सम्प्रदाय में हुई हो किन्तु वे मन, वचन, कर्म एवं हृदय से भगवान राम के भक्त थे। "श्रीराम जय राम जय जय राम" नामक कीर्तन उन्हें अत्यन्त प्रिय था। वे तो इस कीर्तन को प्राचीन भारत का राष्ट्र गान तक कहते थे।

स्मरण -

स्मरण शब्द का अभिप्राय ईश्वर के स्मरण करने से है। स्मरण का संकेत भी उपलब्ध होता है-

"प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म" अर्थात् विष्णु भगवान के लिए मेरा मनन - स्मरण बल प्राप्त हो[22] स्वामी जी स्मरण को उपासना या भक्ति का साधन मानते हैं। उनका मत है कि नाम, रूप, लीला धाम कामी तात्पर्येण स्फुरण, श्रवण, स्मरण, कीर्तनादि भी भजन है[23] वे कहते है "जीवन का उद्गम स्थान समष्टि चेतन आत्मा या परमेश्वर है उसी के स्वरूप चिन्तन करने में ही जीवन की सार्थकता है। मंगलमय भगवान् के मंगलमय स्वरूप का प्रबोध एवं भगवत्प्राप्ति ही इस अशान्त भौतिक वातावरण में शान्ति का एकमात्र मूलमंत्र है। उसका विस्मरण होने से फिर अपार संसार सागर का पार-अपार कुछ भी नही विदित नहीं होता। सांसारिक अभ्युदय एवं सुख शान्ति भी उसी से मिलती है। अधिक क्या परम नि:श्रेयस अपवर्ग भी तदाश्रित ही है।[24]

पादसेवन -

पादसेवन का तात्पर्य चरणवन्दना से है। कहा कया है - "यस्य त्री पूर्णा मधुना

पदान्यक्षीयमाणास्वधया मदन्ति"(25) अर्थात् जिन भगवान की माधुरी से ओतप्रोत स्वयं अपनी दिव्य शक्ति से अक्षय तीन चरण-चरणों के तीन विन्यास- भक्त, आश्रित एवं सेवकों को आनन्दित करते हैं स्वामी करपात्री इसका समर्थन करते हैं उनका मत है "भजनं भक्तिः" इस व्युत्पति के अनुसार भजन या सेवन को ही भक्ति कहा जाता है। उस सेवन का अर्थ स्वामी जी केवल कायिक नहीं मानते हैं। वे इसका अर्थ करते हुए कहते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, मन तीनों से ही सेव्य की सेवा की जाती है, इतना ही नहीं महानुभावों ने मानसी सेवा को ही परा या मुख्या सेवा माना है।(26)

अर्चन -

अर्चन का अभिप्राय ईश्वर की पूजा अर्चना से है। वेदों में विष्णु भगवान की अर्चना को दर्शाया गया है। "आप सब लोग महान एवं शूरवीर भगवान विष्णु का अर्चन कीजिए।(27) अर्चन की महता को प्रतिष्ठापित करते हुए पुराणों का उदाहरण देते हुए स्वामी जी कहते हैं -

विष्णोः सम्पूजना न्नित्यं सर्व पापं प्रणश्यति।

वन्दन -

वन्दन शब्द का तात्पर्य यहां अपने आराध्य की वन्दना से है। वेदों में कहा गया है कि परब्रह्मा परमात्मा के रोचक विग्रह को मैं प्रणाम करता हूँ।(28) स्वामी करपात्री जी ने वन्दन प्रक्रिया को सदैव उच्च स्थान दिया। कोई राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि विविध सभाओं व गोष्ठियों में वे निम्न श्री मद् बाल्मीकि रामायण के श्लोक से ही मंगलाचरण करते थे उसके पश्चात् ही सभा का शुभारम्भ करते थे -

नमोस्तु रामाय सलक्ष्मणाय, देव्यै च तस्यैजनकात्मजायै।
नमोस्तु रूद्रेन्द्र यमानिलेभ्यो, नमोस्तु चन्द्रार्क मरूद्गणेभ्यः। (29)

वेदान्ताचार्य्यप्रवर भगवान् शंकराचार्य ने कहा है कि "वेदान्त, गुरू और श्री हरि इनका यावज्जीवन सदा ही वन्दन करना चाहिए।" (30)

दास्य -

दास शब्द का अभिप्राय उस भावना से है जिससे भक्त स्वयं को ईश्वर का दास मानता हुआ उसकी सेवा में तत्पर हो जाता है। जो सेवा करता है वही सेवक किंवा दास है। अतएव भक्ति में दास्य भाव प्रधान है अन्य सभी भावों में किसी न किसी अंश में सेवा का भाव अवश्य विद्यमान रहता है, और फिर दास्य भाव तो सेवा ही सेवा है। करपात्री जी भक्ति के इस अंग में अन्जनीनन्दन हनुमान जी को आदर्श मानते हैं जो वीर गर्जन के साथ बाल्मीकि रामायण में कहते हैं -

"दासो अहं कोसलेन्द्रस्य रामस्या क्लिष्ट कर्मणः।"

सख्य -

सख्य का अभिप्राय सखा भाव है। एक स्थान पर भगवान विष्णु को बन्धु कहा गया है।(31) इसके अतिरिक्त विष्णु भगवान से प्रार्थना की गई है कि आप मित्र के समान हमारे हितकारक होइये।(32) स्वामी जी ने भक्ति के इस अंग में अर्जुन और कृष्ण का सखा भाव आदर्श माना है।

आत्म निवेदन -

आत्म निवेदन का अभिप्राय भक्ति के उस अंग से है जिसमें भक्त ईश्वर के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। यहां पर पत्र, पुष्प, धनजन के साथ-साथ आत्मा का भी निवेदन अभीष्ट है। स्वामी करपात्री जी महाराज ने भक्ति के इस अंग में राजा बलि को आदर्श माना है जो भगवान त्रिविक्रम के चरणों में अपना सर्वस्व सहर्ष समर्पित कर देते हैं। भक्ति के इस अंग को शरणागत भी कहा जा सकता है।

भक्ति और पुराण -

ब्राम्हण ग्रन्थों के काल में यही भावना यज्ञ के माध्यम से विकसित हुई। विभिन्न यज्ञों का सम्पादन कर आहुतियों के माध्यम से आराध्य देव की उपासना करना इस काल का उद्देश्य रहा। शतपथ ब्राम्हणों में कहा गया है कि "पुत्रोत्पत्ति, कर्मसाधन और विद्या के द्वारा क्रमशः मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।(33)

अग्निदेव के माध्यम से वैदिक ऋणि देवताओं तक आहुतियों को पहुंचाते थे। देवताओं के प्रति भक्ति की यह भावना इतनी दृढ़ थी कि जिस देव को जो भोज्य पदार्थ प्रिय था उसी की आहुति दी जाती थी। यहां तक तो ब्राह्मण गन्थों में देवताओं के प्रति भक्ति की भावना मिलती है परन्तु बाद में कर्मकाण्ड इतना अधिक प्रबल हो गया कि वैदिक ऋषियों का सम्पूर्ण ध्यान इसी ओर केन्द्रित हो गया कि यज्ञ का विधान किस प्रकार किया जाये। इसी कारण भावना कम होकर कर्मकाण्ड की प्रधानता आ गई। लेकिन स्वामी करपात्री जी के अन्तर्मन में भक्ति भावना के प्रति कोई प्रश्न चिन्ह खड़ा नहीं कर सका। यद्यपि इस घोर कलिकाल में महान यज्ञों का अनुष्ठान उन्होंने करवाया था परन्तु वे केवल कर्मकाण्डी नहीं कहे जा सकते उनका मानना था कि भक्ति का वास्तविक स्वरूप उपनिषद में दृष्टिगोचर होता है। उपनिषद मात्र में कर्मकाण्ड का स्थान ज्ञान ने लें लिया और सही अर्थों में ईश्वरीय शक्ति का विवेचन हुआ है। आत्मा-परमात्मा, जीवन-मोक्ष आदि समस्त गंभीर विषयों की व्याख्या हुई। परन्तु इस युग में भी ज्ञान पक्ष की प्रधान्यता रही। भाव पक्ष कमजोर रहा जबकि भक्ति का सम्बन्ध भावना से ही है।

उपनिषद में यद्यपि विशेष रूप से आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में ही विचार किया गया है तथापि कतिपय प्रसंगों में भक्ति[34] और उपासना[35] की भी चर्चा की गई है। केन उपनिषद में कहा गया है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए सबको प्रयासरत् रहना चाहिए क्योंकि वे ही सबकी उपासना के मूल केन्द्र हैं।[36] सभी देव परमात्मा की उपासना करते हैं।[37] हृदयस्थ परमात्मा का ज्ञान उन्हीं की कृपा से होता है।[38] पमरेश्वर की शरण में आ जाने पर साधक सन्चित कर्मों से मुक्त हो जाता है।[39] परमात्मा की प्राप्ति न तो प्रवचन से होती है और न बुद्धि से। परमेश्वर ही कृपा कर जिसे स्वीकार कर लेते हैं उसी को परमेश्वर की प्राप्ति होती है उपासक के लिए परमात्मा अपना रूप व्यक्त कर देते हैं।[40]

आरण्यक ग्रन्थों में वैदिक ऋषियों ने अरण्य में जाकर ईश्वर चिन्तन किया। अरण्य के शान्त वातावरण में चिन्तन करके लिखे गये इन ग्रन्थों का नाम आरण्यक पड़ा इन ग्रन्थों में भी ब्रह्मतत्व का पूर्ण विवेचन किया गया।

पुराणों में भक्ति का नया ही रूप देखने को मिलता है। यहां इन ग्रन्थों में ईश्वर के स्वरूप की

विवेचना हुई साथ ही साथ मानवीय आचारों पर भी बल दिया गया। शुभ कर्मों के फलस्वरूप ईश्वर प्राप्ति का उल्लेख किया गया है। आचरणीय आचारों की व्याख्या की गयी है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि गुणों की विस्तृत विवेचना की गयी है। वेदों में जो नवधा भक्ति संक्षेप में मिलती है उसका पौराणिक ग्रन्थों में सविस्तार विवेचन मिलता है।

वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में भक्ति विषयक चिन्तन के पश्चात् स्वामी करपात्री जी रामायण, महाभारत जैसे धार्मिक महाग्रन्थों में भक्ति के विषय में कहते हैं कि रामायण, महाभारत ग्रन्थों में राकृष्ण विषयक भक्ति के दर्शन होते हैं। महर्षि बाल्मीकि ने रामायण में आराध्य राम के जिस स्वरूप की विवेचना की है वह आज भी सदहृदय भक्तों के लिए आदर्शभूत है जिसके अध्ययन मात्र से ही वे भाव-विभोर हो जाते हैं। मर्यादा पुरूषोत्तम राम के प्रति जो भक्ति उकनी लेखनी से उद्भूत हुई है वह तत्कालीन भक्तिभावना का परिचायक है, भक्ति रस की जैसी विवेचना बाल्मीकि रामायण में हुई है वैसा सहज व सरस विवेचन अन्य धार्मिक ग्रन्थों में अनुपलब्ध हैं। भगवान राम केवट की भक्ति के वशीभूत हो जाते हैं। गिद्धराज जटायु को हृदय से लगाकर भगवान अश्रुधारा प्रवाहित करते हैं। शबरी के जूठे बेरों का रसास्वादन कर उसके समक्ष नवधा भक्ति का विवेचन करते हैं।

भक्ति भावना की द्रृष्टि से जब हम महाभारत का अवलोकन करते हैं तो कृष्ण का विराट रूप हमारे नेत्रों के समक्ष चित्रित हो जाता है। महाभारत में देवकी पुत्र कृष्ण को योद्धा, योगी तथा परमज्ञानी के रूप में चित्रित किया गया है। गीता में भी कृष्ण विषयक भक्ति के दर्शन होते हैं। गीता भक्ति के सम्बन्ध में गीता में उल्लेख मिलता है कि भक्त भक्ति के माध्यम से सुगमता पूर्वक आराध्य भगवान को प्राप्त कर लेता है।

भगवान कृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है -

भक्त्या मामभि जानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।। (41)

अर्थात् जो भक्ति - भक्ति के द्वारा मैं जाने तथा जिस प्रभाव से युक्त हूँ भलीभांति जान जाता है वह तत्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रवेश पा जाता है अर्थात् अनन्त भाव से मेरे का प्राप्त हो जाता है।

आज्ञा प्राप्त होने पर तत्परता के साथ सुचारू रूप से उसका सम्पादन करना तथा आज्ञा कठोर है या सुगम, इस पर ध्यान नहीं देना चाहिए। भक्त को अपने स्वामी के प्रभाव पर दृढ़ विश्वास रखना

चाहिए और समझना चाहिए कि मैं तो निमितमात्र हूँ, स्वामी के प्रभाव से ही कार्य में सफलता मिलेगी।

देवर्षि नारद जी ने बताया है -

तदर्पिता खिलाचारिता तदविस्मरणे परमव्याकुलतेति।(42)

अर्थात् भक्त अपने सभी आचरणों को अपने इष्ट देव को समर्पित कर देता है, यदि प्रमादवश स्वामी और स्वामी के कार्य की विस्मृति हो जाय तो स्मरण होने पर अत्यन्त व्याकुलता का अनुभव करता है। वस्तुतः सेवक की कोई अपनी पृथक् इच्छा ही नहीं रहती। स्वामी की इच्छा ही उसकी इच्छा हो जाती है। इसके पश्चात् अन्य ग्रन्थों में भी भक्ति भावना परिलक्षित होती है।

भक्ति रस -

सामान्यतः विद्वानों ने नौ रसों की स्वीकृति दी है लेकिन कतिपय विद्वान रसों की संख्या 8 भी बताते हैं लेकिन स्वामी करपात्री जी महाराज ने भक्ति को रस के रूप में मान्यता दी।

भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में नवरसों की स्वीकृति दी है। फिर भी उन्होंने रसों की संख्या के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत व्यक्त नही किया है। नाट्य शास्त्रकार रसों की संख्या 8 मानने के पक्ष में है। रसों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही है।(44) सात्विक तथा संचारी भावों को भी रस कोटि में बिठाने की चेष्टा की गई है।(45) पर अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्नाथ आदि आचार्य रसों की संख्या नौ ही मानते हैं। नव रसों के अन्तर्गत भक्ति रस की गणना नही होती।(46)

रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्ति रसामृत सिन्धु'. तथा उज्जवल नीलमणि' नामक ग्रन्थों में भक्ति रस का प्रतिपादन बड़े विस्तार से किया है। साहित्य शास्त्रियों के समान देवता विषयक 'रति' को रूप गोस्वामी ने 'भाव' ही कहा है किन्तु भक्ति रस का स्थायी भाव केवल श्रीकृष्ण विषयक रति ही है। श्री कृष्ण देवता ही नहीं अपितु साक्षात् भगवान हैं अतः कृष्ण विषय रति देव विषय रति से सर्वथा भिन्न है। इसलिए भक्ति रस भाव के अन्तर्गत नही हो सकता वरन् इसको स्वतंत्र रस मानना होगा इस रस के आलम्बन कृष्ण है उद्दीपन है भक्तों का सामगम, तीर्थ भ्रमण, भगवान का भजन इत्यादि। ईश्वर भक्ति में कभी नग्न नृत्य, हंसना, रोना, गाना इत्यादि अनुभाव है। मति, ईर्ष्या, वितर्क आदि व्यभिचारी भाव है।

पद्माकर के निम्न पद में भक्ति रस का उदाहरण दिया जा सकता है -

ब्याधहुं ते बेहद असाधु हौं अजामिल लौ,
ग्राह ते गुनाही, कैसे तिनको गिनाओगे,
स्योरी हौं न शूद्र, नहीं केवट कही को त्यौं,
न गौतमी - तिया जापै पग धरि आओगे,
राम सौ कहत पद्माकर पुकारि पुनि,
मेरे महापापन को पार हू न पाओगे
झूठो ही कलंक सुनि सीता जैसी सती तजी नाथ,
हौं तो सांचों ही कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे।

भक्ति को रस की कोटि में प्रतिष्ठित करने का कार्य भक्ति सिद्धान्त के कतिपय आचार्यों ने किया। वैष्णव भक्तों ने विशेष रूप से चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों ने भक्ति को रस के रूप में स्थापित करने का भरसक प्रयास किया है। भक्ति की रसवत्ता पूर्णरूपेण अनुभवगम्य है और जब अनुभव गम्य है या अनुभव के आधार पर उसकी रसनीयता सिद्ध की जा सकती है तो शास्त्रीय विवेचन से भी उसको समर्थन मिलना चाहिए।

स्वामी करपात्री ने कहाकि भक्ति रस में अनवच्छिन्न-चिदानन्दघन भगवान की स्फूर्ति होती है अतः वह परमानन्द स्वरूप है। इसलिए जो लोग कृष्ण विषयक रति को रस रूप नही, भाव रूप ही मानते हैं, क्योंकि देवता विषयक रति भाव स्वरूपा ही होती है उनका मत ठीक नही है। क्योंकि कृष्ण भिन्न- देवता विषयक रति रस रूपा ही होगी, भावरूपा नही। बल्कि कान्तादि विषयक रति की वैसी रसता पुष्ट नहीं होती, जैसी भगवदविषयक रति की।"(47)

अभिनव गुप्त ने भक्ति रस का अन्तर्भाव शान्त रस में किया है। वे उसे रसत्व नही प्रदान करते।(48) विश्वनाथ (49) जगन्नाथ (50) आदि आचार्य उसे भाव कोटि में ही स्थान देते हैं।

अभिनव गुप्त के उक्त विचार से अधिकांश विचारक सहमत नही हैं। उनका कहना है कि शान्त रस का स्थायी भाव शम है जबकि भक्ति का स्थायी भाव भगवत् विषयक रति है।(51) शम

निवृत्ति मूलक है और रति प्रवृत्ति मूलक शम का आलम्बन संसार की असारता तथा ईश्वर चिन्तन है जबकि भक्ति का आलम्बन स्वयं भगवान है। भक्ति स्वयं में ही एक पुरूषार्थ है।(52) यहां यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि श्रृंगार वीर आदि अन्य रसों से भक्ति रस की श्रेष्ठता में कोई संदेह नहीं है, क्योंकि अन्य रसों के माध्यम से प्राप्त होने वाला सुख अत्यन्त सीमित है इसके विपरीत भक्ति परमानन्द रूप भगवान से संबंधित होने के कारण स्वयं चिदानन्दमय है। तुलसीदास जी ने भी भक्ति रस को सभी रसों में श्रेष्ठ बताया है। भक्ति के प्रवेश से एक साधारण कविता श्रेष्ठ कविता बन जाती है। वाणी की देवी भी राम नाम का विवेचन करते हुए कितनी राम के प्रति आकृष्ट हो जाती है इसका विवेचन तुलसी दास जी ने बड़े ही सुन्दर रूप से किया है।

रूप गोस्वामी ने भक्ति रस को दो भागों में विभक्त किया है - मुख्य तथा गौण। मुख्य के पुनः पांच भेद किये हैं - शांत, प्रीत, प्रेयान्, वत्सल और मधुर तथा गौण के सात भेद किये हैं - हास्य, अद्भुत, वीर, करूण, रौद्र, भयानक और वीभत्स।(53)

मधुसूदन सरस्वती के भक्ति रस के स्वरूप में थोड़ा अन्तर है वे रसों की संख्या सोलह मानते हैं।(54) उनके अनुसार शुद्ध भक्तिरस तीन है। सात मिश्रित भक्ति रस है। अवशिष्ठ छः भक्ति रसत्व के लिए अयोग्य है।(55)

मुख्य भक्ति रस तीन है - विशुद्ध भक्ति रस, वत्सल भक्ति रस और प्रेयान भक्ति रस।

मिश्रित भक्ति रस सात है - श्रृंगार, करूण, हास्य, भयानक, अद्भुत, युद्धवीर और दानवीर। इनके स्थायी भावों का भगवद् भक्ति के साथ मिश्रण हो सकता है, इसी कारण इन्हें मिश्र भक्ति रस कहते हैं।(56) भक्ति रसत्व के लिए अनर्ह रस निम्न हैं - शुद्ध रौद्र, रौद्र भयानक, वीभत्स, धर्मवीर, दयावीर और शान्त। ये इसलिए भक्ति रसत्व के अनर्ह हैं कि भगवान इनके स्थायी भावों का आलम्बन नहीं हो सकता।

स्वामी जी और भक्ति रस -

स्वामी जी की वाणी और लेखनी दोनों में ही धार्मिक जनता को आकृष्ट करने की अद्भुत शक्ति

है। वाणी का चमत्कार उनके प्रभावशाली भाषणों में श्रवणीय हैं। और उनकी प्रौढ़ लेखनी का प्रभाव उनके प्रमेय बहुल ग्रन्थों में अनेकशः अनुभूयमान है। यह तथ्य निःसंदेह सत्य है। शास्त्रीय तत्वों के विश्लेषण में उनकी वाक् शक्ति जितनी तर्क निष्ठ एवं युक्ति प्रवण है भक्ति रस के विवेचन में वह उतनी ही सरल सुबोध एवं आनन्द प्रवाहिनी है। रास पन्चाध्यायी के रहस्यों के उद्घाटन की ओर उनकी वाणी सहज ही प्रवृत्त हो जाती है। नये-नये भावों की व्यन्जना नवीन अर्थों की विवेचना, भगवत्लीला के अनेक नवीन आयामों की प्रचुर स्फूर्ति प्रदर्शित कर वह श्रोताओं के हृदय को भाव विभोर कर देती है। स्वामी जी शीलवत् भागवत् के अद्भुत व्याख्याकार हैं। नूतन गूढ़ भावों की सरल व्याख्या में उनकी लेखनी अत्यन्त निपुण है। रास पन्चाध्यायी की मनोहर कथा प्रतिवर्ष चातुर्यमास में वह अनेक स्थलों में कहा करते थे और नित नूतन कल्पना का वर्णन करते थे। राधामाधव की निकुन्जलीला में प्रवेश कर वे अपनी विलक्षण अनुभूति को श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत कर उन्हें रस निमग्न कर देते थे। उनके व्यक्तित्व में मस्तिष्क और हृदय दोनों की उदात्त वृत्तियों को सजग करने की अद्भुत प्रतिभा है।

श्री मद् भागवत् का गहन अनुशीलन शुष्क और अनुराग रहित हृदय में सरसता उत्पन्न करने में सर्वथा समर्थ है। इस विषय का कोई भी अपवाद नही है। यह कथन भी निसंदेह रूप से सत्य है कि श्रीमद् भागवत के कथन तथा मनन से भक्ति शास्त्र की पूर्ण प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। सुप्रसिद्ध विद्वान हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "स्वामी जी एक ओर त्यागी महात्मा हैं वही दूसरी ओर लोक संग्रह के लिए निरन्तर प्रयासशील कर्मयोगी भी हैं - उनका तीसरा रूप मुझे सबसे अधिक आकृष्ट करता है। वह है उनका भक्त रूप...। अपनी प्रगाढ़ विद्वता और अक्लान्त धर्म निष्ठा के आवरण में वस्तुतः स्वामी जी महान भगवद् भक्त हैं। भक्ति का कोई प्रसंग आते ही उनका यह प्रेमिक रूप सब कुछ पीछे छोड़ कर श्रोताओं को अभिभूत कर देता है...। भागवत् की कथा सुनाते समय वे प्रायः भगवान के प्रेमिक रूप में अपने आपको निमज्जित कर देते हैं। [57] उनकी इसी उच्च स्थिति का वर्णन करते हुए डा0 विद्या निवास मिश्र कहते हैं... "शास्त्र की मर्यादा का निरन्तर ध्यान रखने वाले स्वामी जी भक्ति की बात करते समय सब कुछ भूल जाते हैं...।"[58]

भक्ति रस का अभ्युदय विचार एवं विशेषण सब कुछ श्री मद् भावगत के व्यापक अनुशीलन का

परिणत फल है और इस महान कार्य के सम्पादन का श्रेय काशी के अद्वैतवेदान्त के मनीषियों को है जिनकी कृपा से भागवत् का गम्भीर अर्थ सर्व साधारण के लिए सुबोध बन गया।

17वीं शती में विद्यमान मधुसूदन सरस्वती केवल शुष्क ज्ञान मार्ग के अनुयायी अद्वैत वादी आचार्य ही नही थे, वरन् भक्ति रस के व्याख्याता एवं भक्ति स्निग्ध हृदय से युक्त एक महान साधक थे। अद्वैत सिद्धि जैसे अद्वैतज्ञान से युक्त ग्रन्थ के प्रणेता होने के साथ ही वे भक्ति रसायन जैसे भक्ति रस को शास्त्रीय प्रामाण्य देने वाले ग्रन्थ के रचयिता भी थे।

18वीं शती में विराजमान स्वामी नारायण तीर्थ ने जहां वेदान्त के मूर्धन्य ग्रन्थों का प्रणयन किया वहीं वे शाण्डिल्य भक्ति सूत्र की भक्ति चण्डिका व्याख्या लिखकर भक्ति के तत्व प्रकार तथा साधना को वेद मंत्रों द्वारा प्रतिष्ठित करने वाले व्याख्याकार थे। वे भी वाराणसी के ही सन्यासी सम्प्रदाय के ही अलंकार थे।

करपात्री जी महाराज भी काशी के इसी भक्तिमार्गीय भागवती अद्वैत सन्यासियों की परम्परा के मुकुटमणि हैं। "स्वामी जी पूर्णतः अद्वैतवादी हैं, वेदान्त सिद्धान्त के अधिकारी प्रवक्ता ही नहीं अपितु परम वीत राम और भगवान आद्यश्री शंकराचार्य के शांकर सिद्धान्त को जीवन में अक्षरशः उतारने वाले वेदान्त निष्ठ हैं, निर्मोही हैं, निर्म हैं, उन्हें वास्तव में कहीं लगाव नहीं है। वे बड़े कठोर हैं, परन्तु स्वामी जी वर्तमान समय में भक्ति रस के उतने ही मर्मज्ञ हैं जितने कि अपने समय में भगवान आद्य श्री शंकराचार्य जी महाराज थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में साहित्य विभागाध्यक्ष डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी का कथन है - साहित्य शास्त्र पर आपका ग्रन्थ है, 'भक्ति रसार्णवः' इसमें भजनीय तत्व के रूप में पहले आपने ईश्वर तत्व की सिद्धि की है इसे समझना साहित्यशास्त्र के सामान्य विद्वानों के लिए असम्भव है। सभी वादों को प्रस्तुत करते हुए रस को लौकिक और अलौकिक दो कोटियों में अवस्थित बताया है। अलौकिक रस भक्ति रस है और श्रृंगारादि रस उसके अंग हैं।(59)

भक्ति रसार्णवः का प्रणयन स्वामी जी ने देववाणी में कर भक्ति रस का गंभीर विवेचन शास्त्रीय पद्धति से किया है। भक्ति रस का गंभीर और विस्तृत विवेचन ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। स्वामी जी कहते हैं - "वैसे तो भक्ति सुरसरि में सभी अवगाहन के अधिकारी हैं, एक पतित भी और एक

मुक्त मुनीन्द्र भी। वस्तुतः भगवद् भक्ति से ही कर्मयोग, ज्ञान योग दोनों की ही सफलता होती है। उसके बिना किसी की भी सफलता नहीं। इसलिए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि भक्ति ही कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों का साधन है। अतएव देहली दीपक न्याय से दोनों का उपकार करने के लिए, कर्म और ज्ञान दोनों के मध्य में, भक्ति और उपासना की स्थिति होती है। साथ ही वह दोनों का फल भी है।" वही भक्ति दोनों की परिपुष्टि करके स्वयं ही दोनों के फलस्वरूप में भी व्यक्त होती है अर्थात् वही भक्ति परमात्म स्वरूप में श्रद्धा तथा प्रीति रूप में विराजमान होती है फिर परमात्म स्वरूप साक्षात्कार के अनन्तर परमात्म प्रीतिरूप भक्ति प्राप्त होती है परन्तु वह भक्तिजन्य नहीं है। नित्य प्रत्यक् चिदात्मा सदा निरतिशय, निरूपाधिक परप्रेम का आस्पद होता है, परन्तु वहां प्रेम और प्रेम का आश्रय एवं विषय पृथक-पृथक नहीं है तभी अत्यन्त अभेदवादी अद्वैतवादी वेदान्ती भी अपने निर्विशेष प्रत्यक् चैतन्या भिन्न परमात्म स्वरूप को समस्त प्राणियों के निरतिशय, निरूपाधिक, परप्रेम का आस्पद मानते हैं। अतः ज्ञान के अनन्तर आत्मरति रात्मक्रीड़;: 'यस्वात्मरतिरेष स्यादात्मतृत्तश्च मानव' - इत्यादि स्थलों में जो आत्म रति पद से कहा गया है, वह स्वात्म स्वरूप ही प्रेम है। भक्ति रसायनकार ने भी द्रवीभूत चित्त पर प्रादुर्भूत निखिल रसामृत मूर्ति भगवान को शुद्ध प्रेम कहा है -

'भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदा काररस तामेति पुष्कलाम्।।"(60)

स्वामी करपात्री जी जब भक्ति रस का विवेचन करते हैं तब चाहे दर्शन शास्त्र के प्रसंग हों या भक्ति रस के, उन्हें वे अपनी अद्भुत प्रतिभा से मनोहारी बना देते हैं। उन्होंने भक्ति रसार्णवः ग्रन्थ में भक्ति के सिद्धान्तों की विवेचना की है। ग्रन्थ का प्रारम्भ ही रामचन्द्र जी की स्तुति से है -

नमोस्तु रामाय सलक्ष्मणाय देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै।
नमोस्तु रूद्रेन्द्रय मानिलेभ्यो नमोस्तु चन्द्रार्कमरूद्गणेभ्यः।।(61)

भजनीय तत्व की विवेचना करते हुए ज्ञान को सब प्रकार के भेद से शून्य और प्रकाशवान बताया है उन्होंने लिखा है -

अद्वयं यज्ज्ञानं सर्वविधभेदशून्यं यत्स्वप्रकाशं ज्ञानं तदेव तत्वमिति तत्वविदो वदन्ति। तदेव

अद्वितीयत्वात् त्रिविधि परिच्छेदशून्यत्वेन अनन्तम, ज्ञानत्वाद वेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वात् स्वप्रकाशम्, अद्वितीयत्वादेव सर्वोपद्रव विवर्जितत्वात् परमानन्द रूपं त्रिकाला बाध्यत्वात् परमसत्यन्च। तदेव अनतिशयबृहत्वाद् ब्रह्मात्मनामपि आत्मत्वात् परमात्मा, अचिन्त्या नन्त भगैः कल्याण गुणगणैश्च भगवानित्यप्युच्यते।"(62)

रस के स्वरूप की विवेचना करते हुए उन्होंने रस की ब्रह्मरूपता का वर्णन किया है -

"रसो वै सः इति श्रुत्या रसस्य ब्रह्मरूपता उक्ता। तस्य चावेद्यत्वे सति अपरोक्षतया स्वप्रकाशत्वमेव, सहृदयानां नाट्यदर्शिनां प्रत्यक्षविषयता च। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवित', इति श्रुत्या निरतिशयपर प्रेमास्पदत्वेन आत्मनः परमानन्द रूपत्वम नुमातुं शक्यम्।"(63) स्वामी जी के अनुसार अप्राकृत रस नाट्य शास्त्र की दृष्टि से भाव कहलाता है और वही भक्ति रस है- "अप्राकृत एवं रसो नाट्यशास्त्ररीत्या 'भाव' इत्याख्यायते। स एव च भक्ति रसः। रसत्वण्यपदेशहे तोस्तादृशानन्दात्मकताया उभयत्र सत्वात्।"(64) विभाव अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरताचार्य के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए स्वामी करपात्री जी ने लिखा है -

'तत्र विमावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः इति भरताचार्यसूत्रम्। विभावयन्ति-आवि भवियन्ति, उद्बोधयन्ति प्रसुप्तं स्थायिनमिति विभावाः - आलम्बनानि, उद्दीपनानि च। तथा च विषयतासम्बन्धेन स्थायि विशिष्ट मालम्बनम्, स्वोद्बोधकता सम्बन्धेन स्थायिविशिष्ट मुद्दीपनम्। स्थायिकार्यत्वे सत्यालम्बन चेष्टारूपोनुभावः।(65)

भक्त रस परमानन्द स्वरूप है। जिसके श्रवाणि दे साधक रस की अनुभूति करता है -

भक्त रसे तु भगवान परमानन्द स्वभावः सर्वदा विद्यमान एवं आलम्बनविभावः, तस्य नित्यत्वात् सर्वगवत्वान्च। श्रवणादिना सगुणसाकाररूपेणापि रसिकानां हृत्सरोजे तत्प्रादुर्भाव स्मरणात्। तदुक्तम्-

त्वं भावयोग परिमावितहृत्सरोजे आस्से श्रुतोक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्वियात उरूगाय विभावयन्ति तत्तद्वापुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।।
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरूहम्।"(66)

रसिकों के हृदय में भगवान के गुणों का वर्णन श्रवण करने से भाव उत्पन्न होते हैं। भाव रूपी उपकरण से भगवान काल्पनिक रूप में प्रकट होते हैं। तत्पश्चात् विभावादि से अभेद बुद्धि उत्पन्न होती है और भावना के बल से विभावादि के साथ साधारणीकरण होने से भक्ति रस की अनुभूति होती है।(67)

सिद्धान्त रीति से अभिव्यक्त सुख को रस कहा गया है। सुख की रसवत्ता ही रस की व्यन्जकता है। विभावादि से रस की अभिव्यक्ति होती है। अनुभाव के सहयोग से रस प्रस्फुटित होता है और व्यभिचारी आदि के सहयोग से अभिव्यक्त सुख रूपी जो रस है उससे रसानुभूति होती है।(68)

भक्ति रस का विवेचन करते हुए श्रृंगारादि रस को आपने भक्ति रस के ही अंग के रूप में स्वीकार किया है। रति को उन्होंने स्नेह विशेष कहा है।(69) शुद्धि रति ही सात्विक भक्ति है।(70)

भक्ति रसार्णवः में समस्त रसों का विवेचन करते हुये भक्ति रस का स्थान दसवां है। "तत्र 1. इष्ट वस्तु समीहाजनिता मनोविकृति परिपूर्णा रतिः। मनोदनुकूलेष्वर्थेषु सुख संवेदनं तत्प्रकृतिकः श्रृंगाररसः। 2. अव्रीडादिभिश्चेतो विकासो हासः। तत्प्रकृतिको हास्यरसः। 3. रत्यनालिगिंतेष्ट विश्लेष जनितो मनोविकारः शोकः । तत्प्रकृतिको करूणरसः। रत्यालिंगि तस्तु विप्रलम्भः। तथैव यूनोरेकस्मिन् मृते प्रलापः करूण रसः जीवतोर्विश्लेषे प्रलापस्तु विप्रलम्भः।

4. अवज्ञादिकृतः प्रमोद प्रतिकूल मनोविकारः क्रोधः। तत्प्रकृतिको रौद्धरसः। प्रमोदानुकूलस्तु वीर रस एव।

5. शौर्य-दया-दानाद्यन्य तरकृत परिमितो मनोविकार उत्साहः। तत्प्रकृति को वीररसः।

6. रौद्र शक्त्या जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्। तत्प्रकृतिको भयानकरसः।

7. अहृद्यदर्शन-स्पर्शन-स्मरणजनितो परिपूर्णो मनोविकारो जुगुप्सा। तत्प्रकृति को वीभत्सरसः।

8. श्रृंगारादौ चमत्कार दर्शनजनित मनोविकृतेः यत्रांग तया भानं तत्र श्रृंगारादयः। यत्र प्राधान्येन भानं तत्र अद्भुत रस एव।

9. नवमस्तु शान्तोरसः।

10. दशमो भक्ति रसः शान्तस्य निवेदः स्थायिभावः, भक्ति रसस्य तु स्नेहः।(71)

ईश्वर को भाव स्वरूप कहा गया है भाव में ही उनकी सत्ता है और भाव से ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।

भावस्वरूपो भगवान्। भावे च तासामेव स्वत्वम्। तेन तद्दत एवं प्राप्यते। दानमपि न साक्षात्, किन्तु भावनाद्वारैव। तेन विधिवत् स्वसर्वस्वत्यागपूर्वक विरहाग्नितप्ता वह्निरूपा मनसि समानीय ध्येयाः। तास्वपि यस्तापात्मको भावों भ्रमरमीताद्युक्तः, स सर्वनैर पेक्ष्येण हृदि निधाय स्वास्थ्य हेतु निखिलं प्रभुसम्बन्ध्यपि परित्यज्य केवलं भावमेव भावयेत, न स्वरूपम्, न लीलाम्, न गुणान्वा। तदातेनैव भावेन तापात्मकेन शोषणम्। ततो नवपल्लवता वसन्ते धर्मेणेव वृक्षाणाम्। ततो नवदेहे भावस्य स्थैर्यम्। ततस्तद्वै चित्र्यं विकलत्वमस्वास्थ्यन्च। महासमुद्रनिमग्नस्येव भावरस सिन्धु निमग्ननस्य विकलत्वा स्वास्थ्ये। ततश्च अतिगाढभावे आनन्द मात्र करपादादि रूपे भावात्मक वह्नौं प्रवेशः। ततस्तद्रूपता। ततः कदाचिद्भक्ति दानार्थ तत् प्राकट्यम्। भावेन हृदये सर्वत्र तस्यैव प्रवेशात्।(72)

स्वामी जी मानते हैं कि रस हृदय में प्रतिष्ठित है, भाव स्वरूप है और भाव के माध्यम से ही रस की निष्पत्ति होती है -

रसस्तु रसवतां हृढि प्रतिष्ठितो भवति। भगवद्रूयो रसस्तु स्वाभिनीषु स्थितः। तेनैव तासां हृदयस्थः स्थायि भावात्मको रसः सत्तात्मको भावरूपः कृष्शब्दार्थः। तेन सदानन्दः 'कृष्ण' शब्दार्थः तत्रैव स्थितो रसानन्दस्तुण कारार्थः। तेन सदानन्दः कृष्ण शब्दार्थः सिद्धो भवति। त्रिकालाबाध्यासत्ता निरूपाधिक आनन्दश्च आनन्द भावरस स्वरूपे कृष्णेन्तर्भवति। रसो वै सः इति श्रुतिः परमात्मानं रसं वक्ति।(73)

स्वामी जी भक्ति रस का प्रवचन करते समय दर्शन शास्त्र अथवा वृन्दावनी भक्ति से ओत-प्रोत भक्ति रस का कोई भी प्रसंग हो वे अपनी अद्भुत मनोहर विद्वता के परिचय देते हैं - "नटवर वपु". की व्याख्या के समय श्री कृष्ण का सुधा श्रावी वपु (वं = अमृत बीजं, पुष्णाति) नट एवं वर दोनों के सदृश है 'नट' विप्रलम्भ श्रृंगार अर्थात् विरह का प्रतिनिधित्व करता है। 'वर' सम्भोग श्रृंगार अर्थात् मिलन के रस का प्रतिनिधित्व करता है। स्पष्ट है कि जो उस समय वहां नही है -शीतल मन्द सुगन्ध वायु, चन्द्रोदय आदि उद्दीपन तथा नायक - नायिका रूप आलम्बन अपने अभिनय के द्वारा उपस्थित कर देता है। सामाजिक का उस दृश्य से तादात्म्य हो जाता है अर्थात् स्थायिभावावच्छिन्न चैतन्य, आलम्बन

विभावावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न हो जाता है। रसानुभूति होने लगती है। 'वर' सम्भोग श्रृंगार अर्थात् मिलन के प्रतिनिधि के रूप में आता है और वह मिलन का रस अनुभव कराता है। श्रीकृष्ण आज नट एवं वर दोनों को ही प्रकट करके आ रहे हैं। क्या आश्चर्य है ? एक में ही मिलन एवं विरह दोनों का आनन्द।। हां तो यही वृन्दावन का मधुर रस है।"(74)

भक्ति रसामृत के रसिक अन्य महानुभावों ने भी कहा है - "कि मुक्त मुनि जिस फल को ढूंढ़ते-ढूढ़ते परेशान रहते हैं, उसी को देवकी ने फला, यशोदा ने उसी का पालन किया तथा गोपियों ने उसका उपभोग किया। यशोदा की मंगलमय गोद में नीलकमल के समान चिदानन्द सरोवर से श्याम तेज प्रकट हुआ। अन्य भक्त कहते हैं - वह ऐसा फल था, जिसका भृंगो ने आघ्राण नही किया, वायु ने जिसका सौगन्ध्य नहीं उड़ाया, जो जल में उत्पन्न नही हुआ, लहरियों के कण से जो टकराया नहीं और कभी किसी ने जिसे कहीं देखा नहीं। एक भक्त कहता है - निगम वन में फल ढूंढ़ते-ढूंढ़ते यदि नितान्त खेदयुक्त हो गये हों, तो इस उपदेश को सुनें - 'उपनिषदो के परम तात्पर्य का विषय प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमब्रह्म गोपियों के घर में उलूखल से बंधा पड़ा है। दूसरा भक्त कहता है - सखि। एक कौतुक की बात सुनो - श्रीमन्मन्द राय के प्रांगण में धूल धूसरित होकर वेदान्त सिद्धान्त थेई-थेई करके नृत्य करता हुआ मेरे द्वारा देखा गया है। एक अन्य भक्ति कवि ने कहा है कि श्यामल मोहमयी मूर्ति भगवान कृष्ण मानो गोपांगनाओं के पुन्जीभूत प्रेम ही है या यदुवंशियों के मूर्तिमान सौभाग्य है। अथवा श्रुतियों के गुप्तवित्त ब्रह्म हैं -

मुक्ति मुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा प्रकाममुपभुन्जते गोप्यः।।
"अनाघ्रातं भृगै रनपहृत सौगन्ध्य यनिलैरनुत्पन्नं नीरेष्वनु पहत मूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिव तदौजः समभवत्।
"परमिममुपदेशयाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तरवेद खिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु बल्लवीना - मुपनिषदर्थ मुलूरवले निबद्धम्।।"

"श्रुणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेतांगणे मया दृष्टम्।

गोधूलिधूसरितागो नृत्यति वेदान्त सिद्धान्तः।।"

पुन्जीभूतं प्रेमगोपांगनानां मूर्तीभूतं भागदेयं यदूनाम।

एकीभूत गुप्तवितं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म ये सन्निधत्ताम।।" (75)

निखिल रसामृत मूर्ति भगवान की सब अलंकारादि सामग्री रसस्वरूप ही है। सौरभ्य से उनका उद्वर्तन (उबटन), स्नेह से अभ्यन्जन (मालिश, माधुर्य अथवा स्नांग तेज से स्नान, लावण्य से मार्जन, सौंदर्य से अनुलेपन और गैलोक्य लक्ष्मी (शोभा) से अलंकार होता है। (76)

यहां यह कहा जा सकता है कि वेद एव शास्त्रों में भगवान राम, कृष्ण, शिव आदि जिन देवों की उपासना बतायी गयी है उन सबकी भक्ति रस स्वरूप ही है फिर भी सभी रस सरलता से साक्षात् कृष्ण में ही संगत है। यही कारण है कि भक्ति रसायनकार ने विशेषतया 'मुकुन्द' पद को लिया है - 'परमिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।"

कर्म, उपासना, ज्ञान, अवगम कराने वाले सभी ग्रन्थों का अभिप्राय अन्तःकरण शुद्धयर्थ मलविक्षेप निवृतिपूर्वक भगवदुपासना एव भगवत्स्वरूप ज्ञान द्वारा भक्ति में ही है। आनन्द से ही अखिल भूत निकाय का प्रादुर्भाव आनन्द से ही जीवन एवं आनन्द से ही उपसंहार होता है। (77)

भगवत्प्रेम प्राप्त करने वाले के लिए साधक को महापुरूषों की सेवा उनके धर्म में श्रद्धा भगवत्गुण श्रवण में रति स्वरूप प्राप्ति प्रेमवृद्धि भगवत्स्फूर्ति और भगवत्धर्म निष्ठा आदि अपेक्षित होती है आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम, महामुनीन्द्र भी भगवान को भजते हैं। (78)

स्वामी जी ने भक्ति के भेदों को निरूपण कराते हुए भक्ति शास्त्र में अनेक भेद कहे हैं। साधारणतया साधन शक्ति एवं साध्यशक्ति इसके दो भेद हो सकते हैं। चित्तद्रुति के कारण अनेक होते हैं उन्ही के भेद से भक्ति में भेद हो जाता है। (79)

भक्ति रस का विस्तृत तथा गंभीर विवेचन करने के पश्चात् कहा जा सकता है कि स्वामी जी ने भक्ति रस के व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों रूपों पर विचार है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि करपात्री जी द्वारा प्रणीत भक्ति सुधा और भक्ति रसार्णवः दोनों अनुपूरक ग्रन्थ हैं। भक्ति रसार्णवः

भक्ति का सैद्धान्तिक दर्शन प्रस्तुत करता है तथा भक्ति सुधा भक्ति के व्यावहारिक पहलू पर प्रकाश डालती है। यदि यह कहा जाये कि दोनों ग्रंथों में उपकार्योपकारक भाव विद्यमान है तो अतिशयोक्ति न होगी। "स्वामी करपात्री जी के भक्ति रस के अलौकिता पर अपनी लेखनी को धन्य करते हुए पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय जी कहते हैं "स्वामी जी के ये ग्रन्थ उनकी तप:पूत लेखनी को नि.सदेह अद्भुत चमत्कार है इसमें वर्णित तत्व नितान्त हृदयावर्जक, भक्ति रसान्वित तथा परमानन्दायक है। इन लेखों में स्वामी जी के गम्भीर अनुशीलन तथा प्रातिभ ज्ञान का परिचय पदे-पदे मिलता है। लिखने की शैली बड़ी ही रोचक, आकर्षक तथा हृदयानुरञ्जक है।"(79)

आध्यात्मिक तत्वों के विवेचन में लौकिक उदाहरणों का समावेश करके स्वामी जी ने गंभीर विषयों को सरलता प्रदान की है। जिसकी सहायता से श्रोता और वक्ता दोनों जी वर्णनीय विषय को सुगमता से हृदयंगम कर सकते हैं। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि करपात्री जी विमल वाणी से युक्त ऐसे मनीषी विद्वान हैं जिन्होंने गहन तथ्यों का वर्णन करके अपनी प्रतिभा से इसे वर्णित किया है। जिनकी कमनीय वाणी से भक्ति रस के समस्त बिन्दु प्रकाशित हुए हैं।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. तस्य ते भक्तिवांसः स्याम - अथर्ववेद 6/79/3

   भक्तिवानः श्रद्धावातः स्याम भवेम - अथर्ववेद 6/79/3 का भाष्य

   तस्यते भक्ति वानो भूस्याम - यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता - 1/5/3।

2. भक्तममत्तवो व्यन्तो अजरा। - ऋग्वेद 1/127/5

   भक्तं सेवमानं अभक्तं असेवमानं च। - ऋग्वेद 1/127/5 का सायण भाष्य

   अच्छामि सुम्नं देवभक्तं । - ऋग्वेद 10/45/9

   स्तुतिभिर्ह विर्भिश्च देवानां सेवितारं च यजमानं - ऋग्वेद 10/45/9 का सायण भाष्य,

3. आ न इन्दो वाजे भज।

   हे इन्दो सोम नः अस्मान् आ भज सर्वतः सेवस्व - ऋग्वेद 1/43/8 का सायण भाष्य

   स त्वं न इन्द्र सूर्ये सो अप्स्वनागास्त्व आ भज जीवंशसे- ऋग्वेद 1/104/6

   हे इन्द्र न. अस्मान् आदित्ये आ भज आभिमुख्येन भक्तान कुरू - ऋ0 1/104/6 का सा0 भाष्य

   आ तं0 भज...। - ऋ0 10/45/10

   आ भज अमीष्ट फल प्रदानेन सेवस्व - ऋ0 10/45/10 का सायण भाष्य

4. भजते वसूनाम् - ऋग्वेद 1/123/4

   भजते सेवते स्वीकरोतीत्यर्थः । - ऋग्वेद 1/123/4

5. भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठा। - ऋग्वेद 10/15/3

   भजन्ते सेवन्ते - ऋग्वेद 10/15/3 का सायण भाष्य

   गां भजन्त मेहनाश्वं भजन्त मेहना - ऋग्वेद 8/4/2।

   गां भजन्त असेवन्त - ऋग्वेद 8/4/2।

   गां भजन्त असेवन्त - ऋग्वेद 8/4/2। का सायण भाष्य

   बहिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त - यजुर्वेद 19/56

भजन्ते सेवन्ते - यजुर्वेद 19/56 का उव्वट भाष्य

भजन्त भजन्ते सेवन्ते - यजुर्वेद 19/56 का महीधर भाष्य

दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते - ऋग्वेद 1/125/6 का सायण भाष्य

दक्षिणावन्तः एवं अमृत जरामरण रहितं स्थानं भजनते सेवन्ते - ऋ0 10/125/6 का सा0 भाष्य

हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते - ऋ0 10/107/2

हिरण्यदा हिरण्यदातारः ते अमृतत्वं अमरणधर्मत्वं देवत्वं भजन्ते - ऋ0 10/107/2 का सायण भाष्य।

6. महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे - ऋग्वेद 1/156/3

हे विष्णो ! आ मजामहे, सेवामहे वयं यजमानाः।

-ऋग्वेद 1/156/3 का सायण भाष्य

7. ऋग्वेद - 1/77

8. " 5/81

9. " 4/48

10. अथर्ववेद काण्ड 12/1

11. अहं रूद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमा दित्यैरूत विश्व देवैः।

अहं मित्रावरूणोभा विभर्म्यहामेन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।।

ऋग्वेद - 10/12/1

12. डा0 मुंशी राम शर्मा भक्ति का विकास - चतुर्थ अध्याय

13. स्वामी करपात्री जी, भक्ति सुधा -राधाकृष्ण धानुका संस्थान, कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 315

प्रवोमह मन्दमानायान्ध सो असो अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे।

इन्द्रस्ययस्य सुभरवं सहोमहि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः।।

ऋग्वेद - 10/50/1

14. अरं दासो न मील हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णये अनागाः।

अचेतयद्चितो देवो अयो गृत्सं राये कवितरो जुनाति।

ऋग्वेद - 7/86/7

15. कल्याण, भक्ति अंग (32/1), पृष्ठ 42

16. डा0 शर्मा मुंशीराम, भक्ति का विकास, पृष्ठ 192

17. ऋग्वेद - 1/156/2

18. स्वामी करपात्री जी, भक्ति सुधा, श्रीराधा कृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 258

19. वही, पृष्ठ 241

20. ऋग्वेद 1/154/1

21. (क) तत्तदिदस्य पौस्यं गृणीमसीनस्य त्रातुरवृकस्य मीढुषः - ऋग्वेद 1/155/4
    (ख) तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद।' - ऋग्वेद - 1/156/3
    (ग) आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन - वही 1/156/3
    (घ) 'वर्धन्तु का त्वा सुष्टुतयो गिरो में' - वही 7/99/7
    (ड.) ध्रुवासो अस्य कीरयो जनासः - वही 7/100/4
    (च) तं त्वा गृणाभि तवसमतव्यान् - वही 7/100/5

22. ऋग्वेद - 1/154/3

23. शर्मा कृष्ण प्रसाद, 'अभिनव शंकर स्वामी करपात्री जी धर्मसंघ मेरठ, 1988, पृष्ठ - 228

24. वही, 231

25. ऋग्वेद 1/154/4

26. स्वामी करपात्री जी, भक्ति सुधा, श्री राधा कृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 238-239

27. 'महेशूराय विष्णवे चार्चत् - ऋग्वेद 1/155/1

28. 'नमो रूचाय ब्राम्हये - यजुर्वेद - 31/20

29. शर्मा कृष्ण प्रसाद, 'अभिनव शंकर स्वामी करपात्री जी धर्मसंघ मेरठ, 1988 पृष्ठ - 504

30. "यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरूरीश्वरः।
आदौ विद्या प्रसिद्धयर्थं कृतघ्नत्वापुनत्तये।।"

- स्वामी करपात्री जी, भक्ति सुधा श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 247

31. सहि बन्धुरित्था - ऋग्वेद - 1/154/5

32. भवामित्रो न शेव्यः - ऋग्वेद 1/156/1

33. मनुष्य लोकः पुत्रैणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको, विद्यया देवलोको, देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठतम स्तस्माद्विधां प्रशसन्ति - शतपथ ब्राह्मण 14/3/3/24

34. यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्येते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनाः।। - श्वेताश्वर 340/6/23

35. सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत - छान्दोग्य 340 3/14/1

36. तद्‌व न मित्यु पासितत्यम् - केन उप0 4/6

37. ऊर्ध्वं प्राणमुन्न यत्यपानं प्रत्यग स्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।। कठ0 उप0 2/2/3

38. अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितो अस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्।। - 2 वे0 3 प0 3/20

39. सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे न हिते पूर्व मक्षिपत्।। श्वेताश्वेत्तर/ 3 प0 2/6

40. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघया न बहुधा श्रुतेन
यमेवैष वृणुते तेन लम्यस्तस्यैष विवृणुते तनुं स्वाम्।। - मुण्डक 3 प0/3/2/3

41. भगवद् गीता - 18/55
42. नारद भक्ति सूत्र - 19
43. देव ए रामचन्द्र, हिन्दी सगुण भक्ति काव्य के दार्शनिक स्रोत, लोक भारती प्रकाशन - इलाहाबाद, 1988 पृष्ठ 38।
44. वही, पृष्ठ 38।
45. वही, पृष्ठ 38।
46. वही, पृष्ठ 38।
47. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, भक्ति सुधा राधाकृष्णा धानुका प्रकाशन कलकत्ता, 1964, पृष्ठ 264
48. देव ए0 रामचन्द्र, हिन्दी सगुण भक्ति काव्य के दार्शनिक स्रोत, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1988 पृष्ठ - 38
49. वही, पृष्ठ 38।
50. वही, पृष्ठ 38।
51. वही, पृष्ठ 38।
52. वही, पृष्ठ 38।
53. देव ए0 रामचन्द्र, हिन्दी सगुण भक्ति काव्य के दार्शनिक स्रोत, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1988, पृष्ठ 384
57. देव ए0 रामचन्द्र, हिन्दी सगुण भक्ति के दार्शनिक स्रोत, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1988, पृष्ठ 384
55. वही, पृष्ठ 384
56. वही, पृष्ठ 384
57. शर्मा कृष्णा प्रसाद, 'करपात्री एक अध्ययन', धर्मसंघ प्रकाशन स्वामी पाड़ा, मेरठ, 1982 पृष्ठ 225-226

58. वही, पृष्ठ 226

59. वही, पृष्ठ 226

60. वही, पृष्ठ 226

61. स्वामी करपात्री जी, भक्ति रसार्णवः, भक्ति सुधा साहित्य परिषद कलकत्ता, 1968 पृष्ठ-1

62. वही, पृष्ठ 1

63. वही, पृष्ठ 58

64. वही, पृष्ठ 58

65. वही, पृष्ठ 59

66. वही, पृष्ठ 68

67. रसिकानां हृदये भगवद् गुण गणवर्णन श्रवणादिभिः, भावराज्यस्या विर्भावो भवति। यत्रभावमयः सोपकरणो भगवान व्यज्यते यथायोग्यं विभावाद्यभेद बुद्धिरवि तत्र जायते। भावनाबलादेव विभावादीनां साधारण्यादिकम्। यद्यपि भक्ति आल्हादिनीशक्ति रूपा नित्या विभ्वी च तथापि सारश्रवण जनित द्रुत चित्त जनित वृत्तावेव अभिव्यज्यते इति तदर्थ वृत्तिरपेक्षिता।" स्वामी करपात्री जी, भक्ति रसार्णवः भक्तिसुधा साहित्य परिषद कलकत्ता, 1968, पृष्ठ 68

68. सिद्धान्तरीत्या तु तदभिव्यक्तं सुखं रसः। सुखस्य रसत्वमते रस व्यन्जकता। तस्या मतेरेव रसत्वे तु विभावानुभावव्यभिचारिभावस्थायि भावानां प्रत्येकं विज्ञानं रसस्वरूपाभिव्यक्तौ कारणम्। उभयत्र स्थायिभावो रस इति प्रयोगस्त लाक्षणिक एव।

तदुकम् - विभावैश्नुभावैश्च व्यभि चारिभिरप्युत

स्थायि भावः सुखत्वेन व्यज्यमानों रसः स्मृतः।

विशेषादामिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इब वारिधौ।।

ये तूपकर्तुमयान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्।

उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः।।

विभावैरोष प्रसभि व्यक्तिः, अनुभावैः स्फुटा, व्यभिचारिभिश्च स्फुटतरा। तेन विभावादि त्रितय सन्सृष्ट स्थायिभाववगाहि - समूहा लम्बनात्मक - सात्विक मत्यभि व्यक्त सुखरूपो रसः, ताहशी मतिरेव वा रसः, - स्वामी करपात्री जी, भक्ति रसार्णवः, भक्ति सुधा साहित्य परिषद कलकत्ता : 1968, पृष्ठ - 74

69. "वस्तुवस्तु - रतिरपि स्नेह विशेष एव/एवं सति श्रृंगारस्यैव रसत्वं न केवलं स्नेहस्येत्यत्र विनिगम काभावात् तदुभयोः पार्थक्येन रसत्वं स्वीकार्यम्। तथा च नायिकायां नायकस्य, तस्मिंश्च तस्या या रतिः सा श्रृंगारः। मात्रादीनां पुत्रादौ तेषां च तेषु या रतिः, स केवलः स्नेह रस इति सिद्धम।" वही , पृष्ठ - 80

70. "शुद्धरतिरेव सात्विक भक्तिः। तत्रानुपाधिः शुद्धा स्पात्। तदुक्तम् - अनुपाधिः परमानन्द महमिमैक निबन्धना।"

वही पृष्ठ - 83

71. वही, पृष्ठ - 96-97

72. वही, पृष्ठ - 99

73. वही, पृष्ठ - 105

74. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, 'भागवत सुधा', राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान कलकत्ता, 1984, पृष्ठ 16-17

75. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, भक्ति सुधा, राधा कृष्ण धानुका प्रकाशन, कलकत्ता, 1964, पृष्ठ 264-265

76. वही, पृष्ठ - 265

77. आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति।

- वही पृष्ठ, 267

78. आत्मा रामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतु की भक्ति मित्थं भूतगुणो हरिः।।

- वही पृष्ठ 267

पंचम अध्याय

स्वामी करपात्री जी की ईश्वर विषयक अवधारणा

ईश्वर धार्मिकता का मूलाधार है। धर्मविज्ञों के मतों पर दृष्टिपात करने से हम पाते हैं कि उनमें से अधिकतम विद्वानों के अनुसार ईश्वर की सत्ता है क्योंकि धर्म मीमांसा के क्षेत्र में ईश्वर धर्म का आवश्यक पहलू है। ईश्वर शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतएव उसका सभी धर्मों में स्थान संभव है। यदि यहां पर ईश्वर से हमारा तात्पर्य व्यक्तिपूर्ण सोपाधिक एवं सविशेष सत्ता से है तो हमारे समक्ष ऐसे भी कई धर्म हैं जिनमें सगुण ईश्वर का मानना आवश्यक नहीं है। वस्तुतः उसे किसी भी अर्थ में प्रयुक्त किया जाये ईश्वर शब्द में विश्वास एक अलौकिक सत्ता का अस्तित्व होना सिद्ध करता है।

स्वामी करपात्री जी का मत था कि "मन्द लोग संशय करते हैं कि ईश्वर है कि नहीं? उदयनाचार्य ने बड़ी सुन्दर-सुन्दर युक्तियों के द्वारा अपनी न्यायकुसुमांजलि में ईश्वर की सिद्धि की है। गंगेश उपाध्याय आदिकों ने तर्कों के द्वारा व्याप्ति बनायी। व्याप्ति के दूषणों पर विचार किया। हेत्वाभासो का विचार किया, हेतुओं का सांगोपांग विचार करके अनुमान की सारी सामग्री सुसज्जित की। फिर उसके द्वारा अनुमान किया, अनुमान के द्वारा अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नामक परमात्मा सर्वशक्तिमान परमेश्वर को सिद्ध किया।(1) परन्तु स्वामी जी का कहना था कि यदि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से प्रत्यगात्म-स्वरूप ब्रह्म का बोध हो जाये तो वेदों की प्रामाणिकता ही नष्ट हो जायेगी। प्रमाण वही होता है जो प्रमाणान्तर से अनधिगत एवं अबाधित वस्तु का असंदिग्ध बोध कराता है। परोक्ष, स्वर्गादि रूप फल, यज्ञ-यागादि धर्म के अनुष्ठान से कैसे मिलते हैं यह बात वेद शास्त्रों के अतिरिक्त और किसी प्रकार से नहीं जानी जा सकती।(2)

कहने का आशय यही है कि परमतत्व के सम्बन्ध में स्वामी जी ने एक मात्र शास्त्रों को ही प्रमाण माना।(3) स्वामी करपात्री जी के समाज दार्शनिक विचारों और विशेष रूप से ईश्वर विषयक विचारों का आधार शास्त्रों में प्रतिपादित ईश्वर विषयक विचार ही है। उसी को आधार बनाकर हमने स्वामी जी की ईश्वर विषयक अवधारणा का वर्णन, मूल्यांकन का प्रयास किया है। वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों , आरण्यक उपनिषदों, रामायण, महाभारत एवं भगवद्गीता में उद्धृत ईश्वर विषय-विचारों का स्पष्टीकरण

व्याख्या एवं सम्यक् मूल्यांकन के फलस्वरूप स्वामी करपात्री जी अपने विचारों को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। उनका मत है "तेज एक है। वही तेज जल आदि के क्रम से घट होता है। घट में जल एवं जल में सूर्य आदि रूप तेज का ही होता है। अनेक घटों में अनेक प्रतिबिम्ब तेज के होते हैं। उन प्रतिबिम्बों की अपेक्षा से ही तेज में बिम्बत्व की कल्पना होती है बिम्ब प्रतिबिम्ब की एकता समझना सुगम है, परन्तु घट, जल एवं तेज की एकता समझना कठिन है। इसी प्रकार आत्मा, परमात्मा की बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से एकता समझ लेना अनायास सिद्ध है। परन्तु, अचेतन रूप से प्रतीयमान प्रपन्च की परमात्मा से एकता अनुभव करना कठिन है। अतः प्रपन्च की परमात्मा से एकता का अनुभव करने के लिए वाध प्रक्रिया का आलम्बन लेना पड़ता है। वस्तुतः एक ही परमात्मा मायात्मक ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति आदि के योग से विविध नाम रूप का आधार बनता है। वही शिव विष्णु आदि भी होता है। वही अपनी अनिवर्चनीय शक्ति के द्वारा राम, कृष्ण आदि के रूप में भी प्रकट होता है। भक्तगण अपनी-अपनी भावना के अनुसार उसकी उपासना करते हैं। नाम अनेक होने पर भी, कल्पनायें अगणित होने पर भी, परमात्मा परमार्थतः एक ही है। जिस-जिस भाव से उसकी उपासना की जाती है, वही-वही होकर वह अनुभव का विषय होने लगता है। नाम रूपक्रिया की अनेकता होने पर भी परमात्मा में अनेकता की गन्ध भी नहीं है। वह एक है, अद्वितीय है, निर्गुण है। यह है श्री करपात्री जी महाराज की समन्वय दृष्टि जो श्रुति, स्मृति, पुराण के सर्वथा अनुरूप है और इस दृष्टि से शास्त्र का कोई भी अंश असंगत अथवा त्याज्य नहीं रहता है। अनिवर्चनीय माया सब भेदों का निर्वाह कर लेती है, परमार्थ तत्व ज्यों का त्यों निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष तथा निधर्मक ही रहता है।(4) इस प्रकार स्वामी करपात्री जी अद्वैत मत को ही मानते थे। ईश्वर विषयक स्वामी जी के विचार अधोलिखित चार कोटियों के अन्तर्गत वर्गीकृत करके स्पष्ट करने का प्रयास हमने किया है।

1. **निर्गुण निराकार** - इसके अन्तर्गत ब्रह्म के निर्गुण निराकार स्वरूप का विवेचन किया गया है।
2. **सगुण निराकार तत्व** - इसके अन्तर्गत स्वामी जी ने सगुण निराकार ईश्वर का वर्णन किया है।
4. **सगुण साकार तत्व** - इसमें करपात्री जी द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, त्रिदेवों का वर्णन प्राप्य है।
4. **सगुण साकार लीलावतारी तत्व-**

इस भाग के माध्यम से स्वामी जी का मत है कि जैसे परब्रह्म परमात्मा, अनिवर्चनीय माया शक्ति

के योग से विश्व का कर्ता, हर्ता होता है, वैसे ही अपनी स्वरूप भूत अनिवर्चनीय आल्हादिनी शक्ति के योग से लीला पुरूषोत्तम के रूप में अवतार भी लेता है। निर्गुण, निर्विकार होने पर भी आल्हादिनी शक्ति के द्वारा लीला होती है।(5) जिसके अन्तर्गत, राम, कृष्ण, मत्स्य, वराहाबतार, बामन, परशुराम, कल्कि, नृसिंहावतार, कूर्मावतार तथा बुद्ध के अवतार का वर्णन स्वामी जी ने अपनी अनुपम लेखनी द्वारा किया है।

निर्गुण निराकार ब्रह्म -

स्वामी जी ऋग्वेद में ब्रह्म के स्वरूप के वर्णन को यथारूप स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद में 'ब्रह्म' शब्द का विभिन्न रूपों एवं विभक्तियों की गणना करने पर 354 बार उल्लेख पाते हैं।(6) भाष्यकार सायण के मत से ऋग्वेद में नपुंसकलिंग में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द सूक्त, स्तोत्र(7) तथा महान(8) के अर्थ में और पुल्लिंग में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द मुख्यतः स्तोता ब्राह्मण (9) के अर्थ में आया है। ऋग्वेद में ब्रह्म (पुल्लिंग) शब्द क्रमशः स्रष्टा(10) और प्रजापति(11) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु दर्शन में नपुंसक लिंग, प्रयुक्त ब्रह्मन (ब्रह्म) शब्द पर ही विचार किया गया है।(12) अथर्ववेद में ब्रह्मान् शब्द परमेश्वर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।(13)

ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में परमेश्वर को अनन्तशिर, अनन्तनेत्र तथा अनन्तपाद वाला कहा गया है। उनकी अनन्तता का उल्लेख मंत्रदृष्टा ऋषि करते हुए कहते हैं कि वे सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर उससे भी दस अंगुल बड़े हैं।(14) वे इस संसार के बाहर तथा भीतर सर्वत्र व्याप्त हैं।(15) परमेश्वर अचल और एक होते हुए भी मन से अधिक तीव्र वेग वाले हैं उन्हें देव भी नहीं जानते। वे सभी शक्तियों का अतिक्रमण कर जाते हैं। वे चलते हुए भी नही चलते हैं तथा दूर होते हुए भी समीप में स्थित है।(16) ब्रह्म महान होते हुए भी दृष्टिगोचर नही होते क्योंकि वे बाल से भी अधिक सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं।(17) ब्रह्म भूत, भविष्य और सभी पदार्थों में व्याप्त हैं। वह दिव्यलोक का भी अधिष्ठाता है।(18)

अथर्ववेद के उच्छिष्ट सूक्त में कहा गया है कि दृश्य प्रपन्च का निषेध करने पर जो शेष बचता है, वही उच्छिष्ट ब्रह्म हैं। इस उच्छिष्ट ब्रह्म में पृथिव्यादि लोक समाहित है। इसी में स्वर्गपति

इन्द्र और पृथ्वीपति अग्नि स्थित है तथा इसी उच्छिष्ट ब्रह्म में अखिल जगत् स्थित है।[19]

आकाश पृथ्वी सम्पूर्ण जीव, जल, समुद्र और वायु आदि सम्पूर्ण देव भी इसी उच्छिष्ट ब्रह्म में समाहित हैं।[20] दृढ़ देह वाले देव, स्थिरीभूत लोक और वहां के प्राणी, विश्व के कारण रूप ब्रह्म, ये सब इस उच्छिष्ट ब्रह्म पर वैसे ही आश्रित रहते हैं जैसे रथ के सभी अंग रथ के चक्र की नाभि पर स्थित रहते हैं।[21] इस प्रकार स्वामी जी का ब्रह्म वेदों का ब्रह्म समान रूप है।

उपनिषदों में ब्रह्म की मीमांसा अत्यन्त वैज्ञानिक रूपेण हुई है। ब्रह्म को परम सत् माना गया है जो सदा अविचल और अपरिवर्तनीय रहता है।[22] ब्रह्म एक है उसमें स्वगत या परगत किसी भी प्रकार का कोई भेद नही है। ब्रह्म का शाब्दिक अर्थ है 'वृहत्'। अर्थात् वह सबसे बड़ा है। यह सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड ही ब्रह्मामय है। इस जगत् की उत्पत्ति इसी ब्रह्म द्वारा ही होती है, एवं पल्लवन भी इसी में तथा अन्त में इसी में इसका लोप हो जाता है। केन उपनिषद में ब्रह्म के विषय में बताया गया है कि ब्रह्म वह है जो मन से अर्थात् अन्तःकरण से नहीं समझा जा सकता, अपितु जिससे मन स्वयं ज्ञान प्राप्त करता है, वही ब्रह्म है। जिसका वर्णन वाणी द्वारा नही किया जा सकता वरन् ब्रह्म वह है जिसके द्वारा वाणी बोली जाती है। जो आंखों से नजर नहीं आता अपितु जिसके बल से आंखें दृष्टि प्राप्त करती हैं वही ब्रह्म है। जो कर्ण द्वारा नहीं सुना जा सकता अपितु जिसकी शक्ति से हमारे कानों को सुनने की शक्ति प्रदान होता, वही ब्रह्म है तथा जो प्राण के द्वारा चेतनायुक्त नही होता अपितु जिससे स्वय प्राण चेतनायुक्त हो जाता है, वही ब्रह्म है वह नहीं है जिसकी उपासना लोग किया करते हैं।[23]

तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है कि जिससे सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं, और पुनः जिसमें विलीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है।[24] छान्दोग्य उपनिषद में ब्रह्म कोतज्ज, तल्ल और तदन् कहा गया है। ब्रह्म तज्ज है, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों से युक्त जगत् उसी में उत्पन्न होता है, वह तल्ल है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् उसी में लय होता है और वही तदन् है, क्योंकि सभी प्राणी उसी से प्राणान् (श्वसन) क्रिया करते हैं।[25]

ब्रह्म जगत् का कर्ता होने के साथ ही उसका अभिन्न निमित उपादान कारण भी है।[26]

ब्रह्म से यह जगत् उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जैसे मकड़ी से उसका जाला, अग्नि से चिंगारियां, पृथ्वी से औषधियां और पुरूष से उसके केश तथा रोम उत्पन्न होते हैं।[27] ब्रह्म अकेला ही इस जगत् की सृष्टि करता है और उसका पालन-पोषण करता है।[28] यद्यपि ब्रह्म रंग और रूप से रहित होता है, तथापि वह सृष्टि के आरम्भ में नाना रंग-रूपों को धारण कर लेता है और सृष्टि के अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि को अपने में लीन कर देता है।[29]

यह जगत् प्रलयकाल में परमेश्वर में विलीन हो जाता है और सृष्टिकाल में पुनः विविध रूपों में प्रकट हो जाता है।[30] ब्रह्म अखिल विश्व का सृष्टा और अनेक रूपों को धारण करने वाला है।[31] ब्रह्म संसार के बन्ध, स्थिति और मोक्ष का हेतु है।[32]

अद्वैत दर्शन का विचार है कि आत्मा या ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नही है।[33] उपनिषदों में उल्लिखित ब्रह्म निर्गुण ही है सगुण नहीं। वही विज्ञान है।[34] वास्तव में ब्रह्म के सम्बन्ध में विशेषता आदि का प्रयोग असंगत[35] है। वह सर्वोपाधि रहित है। वह विशुद्ध ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही है। ज्ञाता-ज्ञेय आदि की भेद भावना का उसमें कोई अर्थ नही है।

ज्ञातृज्ञेय ज्ञान शून्यमनन्तं निर्विकल्पकम्
केवलाखंड चिन्मात्रं परं तत्वं विदुर्बुधाः।।[36]

ब्रह्म अनादि है इसलिए इसकी उत्पत्ति की जिज्ञासा अनुपपन्न है।[37] ब्रह्मसूत्रों में आकाश,[38] प्राण,[39] ज्योति,[40] छंद,[41] आनन्दमय,[42] वैश्वानर,[43] अक्षर,[44] अन्तर्यामी[45] आदि अनेक नाम एवं विशेषणों से इसे समझाया गया है।

शकराचार्य वेदान्तदर्शन के "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र के आधार पर ब्रह्म को जगत् के निमित और उपादान दोनों कारण मानते हैं।[46] सृष्टि रचना ब्रह्म के केवल ईक्षणमात्र से चलती है। यह ईक्षण[47] ब्रह्म के होने के कारण नित्य[48] है। वे ब्रह्म के साकार और निराकार दोनों रूप स्वीकार करते हैं परन्तु उनका मुख्य प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म ही है। वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार ब्रह्म आनन्द स्वरूप है।[49] पर आचार्य शंकर ब्रह्म के आनन्द स्वरूप को उसका पारमार्थिक रूप नहीं समझते। उनका कथन है कि आनन्द पांच कोशों में से एक है और कोष अविद्याकृत है।[50]

शंकर के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं - साकार और निराकार। साकार ब्रह्म उपाधियुक्त और निराकार ब्रह्म निरूपाधिक।(51) निर्गुण ब्रह्म अविद्या युक्त होने पर सगुण बन जाता है। परन्तु तब भी निर्गुण ब्रह्म अविकृत ही रहता है। इसलिए ब्रह्म को वास्तविक दृष्टि से निराकार समझना भी अभीष्ट है।(52) निर्गुण निराकार ब्रह्म त्रिगुणों के प्रभाव से मुक्त रहता है। वह विशुद्ध सत्य है। जगत् की सृष्टि आदि से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं, आचार्य शंकर सर्वत्र निर्गुण का ही समर्थन करते हैं।(53)

सत् शब्द भाव का वाचक है। जो नित्य शाश्वत् है, जिसका कभी क्षय नहीं होता और जिसका कभी किसी प्रकार की बाध नहीं किया जा सकता, वही सत् है।(54) इसी सत्-स्वरूप का विवेचन भगवान ने गीता के बारहवें अध्याय के तीसरे श्लोक में किया है।(55) ब्रह्म की सत्ता अत्यन्त विलक्षण है। वास्तव में तो ब्रह्म का स्वरूप सत्-असत् दोनों से विलक्षण है।(56) इस निर्गुण निराकार परमात्मा को ही परम अक्षर ब्रह्म के नाम से कहा गया है।(54) इस अक्षर ब्रह्म का ही नाम 'ओम' है। इसलिए अन्तकाल में ओंकार का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ, रूप मुझ सच्चिदानंद-घन निर्गुण निराकार ब्रह्म का चिन्तन करता हुआ जो मनुष्य देहत्याग करता है वह परमगति को प्राप्त होता है।(58)

निर्गुण - निर्विकार - निराकार - अद्वैत अखण्ड अनन्त परब्रह्म 'वृहि वृद्धौ' धातु का शब्द है।(59) ब्रह्म का अर्थ है - 'यद् बृहत्, तद् ब्रह्म'।(60) जो बृहत् है उसको ब्रह्म कहते हैं। यहां पर हमारी सीमित बुद्धि स्वयं ही प्रश्न कर बैठती है कि कितना बृहत् ? इसका उत्तर स्वामी जी ने दिया है कि वाचस्पति की मति भी जहां अतिशयता की कल्पना करते-करते थक जाय, ऐसे निरतिशय तत्व को ब्रह्म कहते हैं - 'निरतिशयं यद् बृहत् तद् ब्रह्म।(61) स्वामी करपात्री जी का ब्रह्म, भगवान तथा परमात्मा में कोई भेद नहीं है।(62) उनके अनुसार एक ही नित्य निरतिशय वृहत्तम ब्रह्म आत्माओं की भी आत्मा होने से परमात्मा और गुणगण सेव्य होने से भगवान कहा जाता है।(63) परमतत्व क्या है इस विषय में स्वामी जी अद्वैत वेदान्त का अनुसरण करते हुए कहते हैं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मं(64) अत्यन्त बाध्य - अखण्ड अनन्त स्वप्रकाश बोध ही परमतत्व है सत् - दृश्य प्रपन्चातीत है, देह प्रपन्चातीत है, देह इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि से अतीत, पन्च तन्मात्रा, अहंतत्व, महत्तत्व और

अव्यक्त से भी अतीत अर्थात् प्रकृति विकृति और सम्पूर्ण प्रपन्च से सर्वतोभावेन रहित अजर-अमर अनन्त अखण्ड बोधात्मा ही सत् है।(65) चित् माने अवेद्य होकर अपरोक्ष। जो अदृश्य हो, वेदन का गोचर न हो और अपरोक्ष व्यवहार योग्य हो, वह अखण्ड बोध है।(66) आनन्द वही सच्चित् अवेद्य और अपरोक्ष होते हुए सुखस्वरूप भी हो।(67) जो अनन्त आनन्द है वही अनन्त बोध और वही अनन्त सत्ता है।(68) अर्थात् ये अनन्त सच्चिदानन्द स्वरूप है, वेदों का परम तात्पर्य है। वस्तुतः वे ही निगमकल्पतरू के गलित फल हैं, साक्षात् - 'रस ही हैं।(69) उन्ही का प्रतिपादन श्री मद् भागवत् में हुआ है। यही कारण है कि प्रतिपाद्य परब्रह्म के अनुरूप ही - प्रतिपादक श्रीमद्भागवत को भी निगम कल्पतरू का गलित फल कहा गया। यद्यपि वेद उपनिषद और तदनुकूल गीतादि शास्त्रों का सार सर्वस्व मानकर ही श्रीमद् भागवत को निगम कल्पतरू का गलित फल माना गया है, तथापि इसमें 'परम सत्य' अर्थात् 'वास्तव-वस्तु' का सुस्वादु और सुस्फुट निरूपण होने के कारण ही इसे ये महत्व प्राप्त है।(70)

'सत्यं परं धीमहि'(71) में परम सत्य को ध्येय सिद्ध किया है तथा "उसी वास्तव वस्तु को वेद्य भी कहा गया है।(72) इसी परमब्रह्मा को 'गेय' और 'पेय' भी कहा गया है।(73) संसार की जिससे उत्पत्ति होती है, चराचर प्रपन्च जिससे उत्पन्न होता है तथा जिससे स्थिति व प्रलय होती है, क्योंकि वह सभी पदार्थों में है सभी पदार्थ उसमें है। जिसमें सद्रूप पदार्थ अनुगत हैं और जो असत् पदार्थों से पृथक् हैं। जड़ नही, चेतन है परतंत्र नहीं, स्वयं प्रकाश है।(74) जन्माद्यस्य यतो-अन्वयात् की भूमिका का अनुसरण किया है।(75) परब्रह्मा परमात्मा वास्तव में विच्छेद रहित है अतः उसका विच्छेद भी विकल्प से ही माना जाता है।(76)

कार्य स्थूल होता है, कारण सूक्ष्म होता है। पार्थिव प्रपन्च का मूल पृथिवी, पृथ्वी का मूल जल।(79) जल रूप अंकुर से उसके मूल तेज को ढूंढ़ो।(30) तेज रूप अंकुर से उसके मूल स्वप्रकाश रूप पर सत्ता का पता लगता है।(81) कोई अखण्ड स्वप्रकाश सत्ता है, जिसके द्वारा तेज बना। भगवतत्व का अनुसन्धान तैत्तिरीय शैली में भी स्वामी जी करते हुए आगे कहते हैं कि वायु का मूल आकाश है।(82) "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। ओषधीभ्योन्नम्। अन्नात् पुरूषः।(38) तत्पश्चात् स्वामी जी पैगलोपनिषद् पुराण और महाभारत की शैली में अनुसन्धान करते हुए अव्यक्त की उत्पत्ति व विलय भी

ब्रह्म से मानते हैं।(84) पुराण कहता है - उस अखण्ड अनन्त पुरूषोत्तम भगवान से अव्यक्त की उत्पत्ति हुई। अव्यक्त भी निर्गुण, निष्फल ब्रह्म में प्रविलीन हो जाता है।(85)

अव्यक्त से 'महतत्त' होता है। महत्व का अर्थ है समष्टि बोध से अहं उत्पन्न होता है। अहं के बाद इदं। इदं कोटि में पहला है आकाश। फिर आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथिवी।(86) श्रुतियां भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करती हैं।(87) तथा वाचस्पति मिश्र (भामतीकार) भी इसका समर्थन करते हैं।(88) परब्रह्म के निःश्वास भूत वेदों की अपौरूषयता का वृहराण्यकोपनिषद् के शब्दों में स्वामी जी समर्थन करते हैं।(89) यही साम्य भाव तुलसी की रामचरित मानस में भी उद्धृत है।(90)

कार्य ब्रह्म, कारण ब्रह्म और कार्य-कारणातीत ब्रह्म, ब्रह्म के भेद करते हुए स्वामी जी वस्तुतः एक ही ब्रह्म कार्य-कारणातीत ब्रह्म को अन्तिम, अद्वितीय अनन्त एवं शुद्ध बोधरूप मानते हैं। एवं कहते हैं कि इसका ही विवर्त समस्त चराचर है। स्थूल कार्य ब्रह्म के ऊपर सूक्ष्म कार्यब्रह्म उसके ऊपर कारण ब्रह्म तथा उस अव्यक्त कारण ब्रह्म के ऊपर कार्य-कारणातीत शुद्ध ब्रह्म स्थित है। यदि सर्वाधिष्ठान होने के कारण इसे सर्वधाम, सर्वनिवास स्थान भी कहते हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। श्रीमद् भागवत् में इसका स्पष्टीकरण किया गया है कि "एक अद्वितीय नित्य बोध ही भ्रान्तजनों को अविद्या प्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि आदि द्वारा शब्दादिधर्मक प्रपन्च रूप में भासित होता है।(91)

निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना के सम्बन्ध में स्वामी करपात्री जी कहते हैं कि निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना नही हो सकती क्योंकि जो उपासना के योग्य लक्ष्य बनाया जाता है वह किसी लक्षण या गुण के आधार के बिना नहीं हो सकता। ध्यान योग्य ध्येय तत्व चाहे कितना ही सूक्ष्मतम क्यों न बनाया जाय, वास्तव में निर्गुण निराकार निर्विरोध ब्रह्म का स्वरूप तो वस्तुतः उससे भी अत्यन्त विलक्षण है, किन्तु जब तक परमात्मा की प्राप्ति नही होती, तब तक उसकी प्राप्ति के लिए कुछ न कुछ लक्ष्य बनाकर ही उपासना की जाती है। कैसा भी सूक्ष्म से सूक्ष्म लक्ष्य क्यों न हो, बुद्धि की वृत्ति से जो लक्ष्य बनाकर ध्यान किया जाता है, वह बुद्धि विशिष्ट ब्रह्म का ही ध्यान होता है, निर्विशेष ब्रह्म का नहीं। उपर्युक्त उपासना का अन्तिम फल निर्गुण निराकार ब्रह्म है। उसी का मुक्ति, परमपद की प्राप्ति, निर्वाण, ब्रह्म की प्राप्ति शाश्वत् शान्ति आदि कहा है।

उपर्युक्त ब्रह्म के स्वरूप से जो भी निष्कर्ष निकलता है वह सभी बुद्धि विशिष्ट परमात्मा का ही स्वरूप है। ब्रह्म का निर्गुण, निर्विशेष स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होने पर ही समझ में आता है यह कथन संतुष्ट नहीं करता। परन्तु बिना कुछ कहे इसका वर्णन भी कैसे हो और वर्णन के बिना किस तरह काआधार प्राप्त न होने से साधक साधना भी कैसे करे। इसलिए शास्त्रों में ब्रह्म विषयक समस्त कथन साधकों के कल्याणार्थ साधन विषयक ज्ञान कराने के लिए ही कहा गया है। वस्तुतः ब्रह्म अनिवर्चनीय, अगोचर, निर्गुण, अचिन्त्य, बुद्धि, मन, इन्द्रियों का अविषय है।

निर्गुण और सगुण ?

उपनिषदों में बह्म को कही निर्गुण और निराकार बतलाया गया है और उसके विभिन्न मुखों, नेत्रों और पादों का उल्लेख किया गया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है कि उसके अनेक मुख, नेत्र, बाहु और पाद हैं।(92) वह ब्रह्म सब जगह हाथ पैर वाला, सब जगह आंख, सिर और मुख वाला तथा सभी स्थानों पर कर्णेन्द्रियों से युक्त है।(93) दूसरे प्रसंग में ब्रह्म को पाणिपाद चक्षु आदि से रहित बतलाया गया है।(94) ब्रह्म निर्गुण और निराकार होने के साथ-साथ सगुण और साकार भी है। वह ज्ञान, बल और क्रिया रूप अनेक स्वाभाविक शक्तियों से युक्त होता है।(95)

शास्त्रों को प्रमाण मानने स्वामी करपात्री जी शास्त्रों के अनुसार ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार जो निर्गुण हैं वे तो निराकार ही है, सगुण के दो भेद स्वीकार किये हैं - सगुण निराकार और सगुण साकार।(95) इन तीन रूपों का वर्णन करते हुए स्वामी जी लिखते हैं - 'स्वयंत्व साम्यातिशयस्त्रधीशः' से निर्गुण, निराकार, निर्विकार रूप तथा 'स्वाराज्य लक्ष्म्याप्त समस्तकामः से अनन्त कल्याण गुणगुण निलय सगुण निराकार रूप कहा गया है।

अनन्त कोटि कन्दर्पदर्पदमन पटीयान, अनन्त कल्याण गुणगण निलय, मधुर, मनोहर, सौन्दर्य सुधा सिन्धु भगवदीय मंगलमय सगुण साकार विग्रह के लिए क्या कहा जाये। ये रूप सगुण साकार लीलावग्राही रूप का प्रतिपादन करते हैं कि परमहंस महामुनीन्द्रो को 'श्री परमहंस बनाने के लिए भगवान का

अवतार लेते हैं।[97] इस रूप को तो भक्त जैसा चाहे बनाते हैं भक्त लोग अपने चित्त से जिस-जिस रूप की भावना करते हैं, भगवान भक्तों पर अनुग्रह करके वही रूप धारण कर भक्तों को दर्शन देते हैं। एक सगुण साकार रूप से भगवान बैकुण्ठधाम में विराजते हैं। उस स्वरूप के अनन्त गुणाश्रयत्व एवं महामहिम ऐश्वर्य सम्पन्नत्व का वर्णन (बलिं हरद्भिश्चिर लोकपाल किरीटीडितपाद पीठः से किया गया है।[98] और सगुण साकार सच्चिदानन्द और निर्गुण - निराकार परत्पर ब्रह्म में सगुण साकार की उपासना से निर्गुण-निराकार की भी उपलब्धि संभव है।[99]

ब्रह्म जीवों के कर्मानुसार नाना प्रकार के भोगों का निर्माण करता है और प्रलय काल में जब सभी प्राणियों का निद्राकाल होता है, वह जागृत बना रहता है।[100]

मुण्डकोपनिषद में बताया गया है कि परमेश्वर न तो बहुत प्रबचन से प्राप्त होता है और न बुद्धि से। वह जिसे स्वीकार कर लेता है, उसे ही प्राप्त हो जाता है। वह अपने उपासकों के लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर लेता है।[101] ब्रह्म के चार पाद बताये गये हैं[102] (1) वैश्वानर[103] (2) तैजस[104] (3) प्राज्ञ[105] (4) निर्गुण निराकार निर्विशेष रूप अद्वैत तत्व।[106] ब्रह्म भूमा हे (महान है) जो महान है वही सुख का रूप है। जो अल्प है, वह सुखहीन है। अतः हमें भूमा की ही जिज्ञासा करनी चाहिए।[107]

स्वामी करपात्री जी के जो भगवान जीव के राखा हैं, स्नेही हैं, अत्यन्त निकट हैं, अनात्मक वर्ग से अलिप्त हैं वे प्राकृत गुणगण हीन होने के कारण निर्गुण है और अचिन्त्य दिव्य कल्याण गुणगणों के होने के कारण भगवान सगुण है।[108] ब्रह्म नित्यों का भी नित्य और चेतनों का भी चेतन है। वह सम्पूर्ण जीवों का कामनाओं को पूरा करता है।[109]

यह जगत् ऊपर की ओर गूलवाला और नीचे की ओर शाखावाला रानातन पीपल का वृक्ष है। ब्रह्म इस जगत का गूल है।[110] परमेश्वर के भय से अग्नि और सूर्य प्रज्वलित होते हैं, और इसी भय से इन्द्र, वायु और मृत्यु आदि देवता अपने अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं।[111] ब्रह्म अज्ञेय और अग्रहणीय है। वह नित्य और सर्वव्यापी है।[112] वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से परे है।[113] ब्रह्म मन और वाणी का विषय नही है।[114] वह मन का मन, प्राणों का प्राण, वाक् इन्द्रिय का वाक् श्रोत्रेन्द्रिय का श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय का चक्षु है।[115]

ब्रह्म इन सभी का प्रेरक है।[116] वह सब कुछ जानता है, किन्तु उसे सम्यक् रूप से कोई नही जानता।[116] देवों को भी परमात्मा से ही शक्ति प्राप्त होती है।

स्वामी जी ब्रह्म को निर्गुण भी मानते हैं और सगुण भी। उनके अनुसार उपासना भेदभावना तथा अभेद भावना दोनों प्रकार से हो सकती है।[118] जिस प्रकार चतुर नायिका प्रियतम के साथ एकमेल होकर भी व्यवहार में अपने प्रियतम को चैलान्चल के व्यवधान (घूंघट पट की ओर) से ही देखती है।[119] उसी प्रकार ज्ञानी यद्यपि अपने निरतिशय निरूपाधिक प्रत्यक् चैतन्याभिन्न भगवान के साथ सवर्था एकमेक ही रहते हैं, तथापि व्यवहार में भेद भावना से ही अपने भगवान की भक्ति करते हैं। अन्त में स्वामी जी ये निष्कर्ष निकालते हैं कि ज्ञानी और उपासकों से भिन्न साधारण अज्ञ प्राणियों के निःश्रेयस के लिए निर्गुण निराकार निर्विकार ब्रह्म का सगुण रूप में प्राकट्य होता है।[120]

उपनिषदों में ब्रह्म के इसी प्रकार के विरोधी गुणों का उल्लेख पाया गया है कि वह चलता है और चलता भी नही है। वह दूर से भी दूर है और समीप से भी समीप है वह जगत् के भीतर व्याप्त है और समस्त जगत् के बाहर भी है।[121] वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और महान से भी महान है।[122] उससे बढ़कर न तो कोई वस्तु सूक्ष्म है और न कोई वस्तु उससे बढकर महान ही है।[123] अतएव ये नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मत के निर्गुण निर्विशेष स्वरूप में वह परमानन्द है ही नहीं जो कि उनकी सगुण मूर्ति मे है। स्वामी जी अन्ततः सिद्ध करते हुए कहते हैं कि श्रुतियां सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं निर्गुण का नही क्योंकि 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते'[125] ये परमात्मा का लक्षण हैं। सम्पूर्ण प्रपन्च प्राणिवर्ग का जो अभिन्न निमितोपादान कारण है वही परमेश्वर है। वामिनी, भामिनी, ये सब उसके गुण हैं। इसलिए भगवान सगुण है। उन्ही का प्रतिपादन श्रुतियां करती हैं, लेकिन उनका पर्यवसान निर्गुण में है। इसलिए कहते हैं - 'नेति-नेति'।[126] ऐसा स्वामी जी का मत है।[127]

अस्तु ब्रह्म के निर्गुण, निराकार जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं जो सदा ही माया और माया के कार्य ससार से अतीत है एवं जो अनन्त एव अनादि है।[128] तथा सगुण स्वरूप जो माया विशिष्ट ईश्वर, महेश्वर सृष्टिकर्ता, परमेश्वर प्रभृति अनेक नामों से श्रुति स्मृतियों में वर्णित है। वस्तुतः

विज्ञानानन्दघन निराकार ब्रह्म और महेश्वर सगुण ब्रह्म सर्वथा अभिन्न है। परमात्मा के जिस अंश में सत्व-रज-तम त्रिगुणमय संसार है, श्रुति-स्मृतियों ने उसको सगुण ब्रह्म और जहां त्रिगुणमयी प्रकृति और संसार का अत्यन्त अभाव है, उसको गुणातीत विज्ञानानन्दघन नाम से वर्णन किया है। वास्तव में "परमात्मा" शब्द से सगुण-निर्गुण दोनों मिलकर समग्र ब्रह्म ही समझना चाहिए। यद्यपि सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध में भी दो भेदों की कल्पना की गई है। एक निराकार सर्वव्यापी सृष्टिकर्ता ईश्वर और दूसरा साकार ब्रह्म का अवतार। यहां सर्वव्यापी निराकार सगुण ब्रह्म में और अपनी लीला से साकार रूप में प्रकट होने वाले अवतार रूपी भगवान में कोई भिन्नता नहीं है। जिस प्रकार व्यापक निराकार अव्यक्त अग्नि तथा किसी स्थान विशेष में प्रज्वलित व्यक्त अग्नि में वस्तुतः कोई भेद नहीं है, एक ही अग्नि के दो रूप हैं, इसी प्रकार निराकार और साकार परमात्मा को समझना चाहिए। साधनों द्वारा सर्वव्यापी परमात्मा का सब जगह व्याप्त रहते हुए ही प्रज्वलित अग्नि की भांति प्रकट हो जाना शास्त्रसम्मत और युक्तियुक्त ही है। गीता में कहा गया है कि "मैं अविनाश स्वरूप अजन्मा होने पर भी तथा सब भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योगमाया से प्रकट होता हूं।[129]

सगुण निराकार तत्व - ईश्वर

सच्चिदानन्द निर्गुण पूर्वब्रह्म परमात्मा के किसी एक अंश में प्रकृति है, उस प्रकृति से युक्त होने से ही उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को सगुण सृष्टिकर्ता ईश्वर कहते हैं, वही आदि पुरूष पुरूषोत्तम मायाविशिष्ट ईश्वर आदि से पुकारा जाता है। ये सगुण निराकार परमात्मा अविद्या से अति परे, अत्यन्त शुद्ध, नित्यमुक्त, बोध स्वरूप, कैवल्यरूप, सर्वत्र परिपूर्ण, स्वयं प्रकाश, अद्वितीय, अखण्ड, अतिर्दिव्य, मंगलस्वरूप, सच्चिदानन्दमय है तथा क्षमा, दया, शान्ति, समता, सन्तोष सरलता, ज्ञान आदि अनन्त असीम अलौकिक अप्राकृत दिव्य चिन्मय गुणों से सम्पन्न है। वे ईश्वर निराकार रूप से सारे संसार में व्यापक है। भगवान ने गीता में कहा है कि "मुझ निराकार परमात्मा से यह सब जगत् (जल से बर्फ की भांति) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्प के आधार स्थित हैं, किन्तु वास्तव में मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।"[130] इसी स्वरूप का वर्णन गीता में परम दिव्य पुरूष के नाम से किया है। जो पुरूष सर्वज्ञ अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण पोषण करने वाले, अचिन्त्य

स्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्या से अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वर का स्मरण करता है, वह भक्ति-युक्त पुरूष अन्तकाल में भी योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परमपुरूष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।[(131)]

प्रकृति को लेकर ही उसमें समस्त जीवों की स्थिति है प्रकृति उस परमात्मा की एक अलौकिक दिव्य शक्ति है। उस शक्ति को लेकर ही परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन पालन और संहार किया करते हैं वे ही मायापति परमात्मा परिपूर्ण सर्वान्तिर्यामी सच्चिदानन्द स्वरूप होते हुए भी वस्तुओं में अस्ति भांति और प्रियरूप से प्रतीत होते हैं।

अग्नि की सत्ता सभी जगह सामान्य रूप से विद्यमान है, परन्तु उसमें दाहिका और प्रकाशिका शक्ति विद्यमान रहते हुए भी समय-समय पर ही प्रकट होती है। काठ दियासलाई आदि सबमें एक ही सत्ता प्रतीत होती है, चन्द्रमा में सत्ता और प्रकाश दोनों प्रत्यक्ष दिखते हैं और सूर्य में सत्ता, प्रकाश तथा दाह तीनों प्रकट रूप से दिखते हैं। उसी प्रकार भूत, भौतिक, जड़, चेतन, स्थावर, जंगम - सभी में परमात्मा की सत्ता तो सामान्य रूप से प्रतीत हो रही है, पर चित्त शक्ति का प्रकाश विशेषता से प्राणियों में ही देखा जाता है, जड़ चीजों में नहीं एवं आनन्द की प्रतीति तो ज्ञानी महात्माओं में ही विशेष रूप से प्रकट है, अन्य जगह वह लुप्त ही है। तमोगुण के कार्य जड़ पदार्थों में भी सत्ता तो प्रकट है, किन्तु तमोगुण की अधिकता होने के कारण वहां चिदंश और आनन्दांश तिरस्कृत है तथा सजीव प्राणियों में सत्ता और चेतनता प्रत्यक्ष दिखते हुए भी अज्ञतारूप तमोगुण और चन्चलता रूप रजोगुण की अधिकता के कारण वहां आनन्दांश तिरस्कृत है। जहां साधन के द्वारा रजोगुण - तमोगुण अंश दूर कर दिये गये हैं वहां महात्मा पुरूषों में सत्, चित्, आनन्दघन परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप प्रकट रूप से विद्यमान है।

अस्ति-तत्व -

स्वामी जी के मतानुसार संसार में जो जड़ पदार्थों की सत्ता दिख रही है, उनका होना सिद्ध हो रहा है, वह उसी परमात्मा से है। उनको द्योतन करने वाला सत् तत्व ही पदार्थों के सम्बन्ध से 'सत्' की अपेक्षा स्थूल होने से अस्तिस्वरूप कहा जाता है।

संसार में जितनी भी जड़ वस्तुएं हैं, वे सब उत्पन्न होती है, बीच में सत्ता रूप से दिखती है, बढ़ती है, परिवर्तित होती है, क्षीण होती है, और नष्ट हो जाती है। उन उत्पति विनाशशील सम्पूर्ण वस्तुओं में जो एक सत्ता प्रतीत होती है, वही अस्ति रूप से कही जाती है। जब किसी एक पदार्थ को लेकर उसकी उत्पति के बाद जो उसका अस्तित्व दीखता है, वह तो उस पदार्थ के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह विकार है। पर उन पदार्थों के अभाव हो जाने पर भी सब वस्तुओं में सामान्य पदार्थों के अभाव हो जाने पर भी सब वस्तुओं में सामान्य रीति से जो एक होना प्रतीत होता है, वह होना पना ही अस्ति स्वरूप है। वह अस्ति स्वरूप नित्य विद्यमान रहता है। जैसे 'यह मनुष्य है', 'यह पक्षी है, 'यह देश है' - इन सभी में 'है' अनुस्यूत है। वस्त्र में धागा सर्वत्र एक है। मिट्टी के बर्तनों में मिट्टी सबमें एक है। इसी तरह अस्तित्व सबमें अनुस्यूत है। यह सर्वत्र व्यापक है, परिपूर्ण है। जब घड़ा फूट जाता है तो घड़े का अभाव होने पर भी उसके टुकड़े तो रहते ही हैं। ऐसे ही पदार्थों का अभाव होने पर भी उनका रूपान्तर में अस्ति पना वैसे ही वर्तमान रहता है।

इसलिए जो उत्पत्ति विनाश वाली वस्तुएं हैं, उन सबमें जो सत्ता प्रतीत होती है, वह वस्तुतः उन चीजों का आधार है, पर दीखने में ऐसा प्रतीत होता है कि वह चीज पहले है और बाद में उसकी सत्ता है। यही वो परमात्मा की दिव्य प्रकृति की अविद्या मायाशक्ति का विलक्षण पर्दा है।

भाति तत्व -

स्वामी जी के मतानुसार जो सम्पूर्ण वस्तुओं की प्रतीत होती है, वस्तुएं दिखती हैं, उनका अनुभव होता है - यह भाति है। भूत, भविष्यगत्, वर्तमान सबमें सत्ता प्रतीत हो रही है। एक पदार्थ का होना सत्ता है और उसका दीखना अनुभव होना भाति है। विदेश की वस्तुएं यहां नहीं दिखती, पर 'वहां वह वस्तु है' इस प्रकार सामान्य भाव में तो बुद्धि में आता ही है तथा साथ ही उन वस्तुओं को न जाना जाना भी प्रतीत हो ही रहा है। जिससे सम्पूर्ण वस्तुओं की प्रतीति होती है, वस्तुएं प्रकाशित होती है, उसे भाति तत्व कहते हैं। यह परमात्मा का निर्गुण चित् तत्व ही माया के सम्बन्ध से प्रकाश रूप से प्रतीत हो रहा है। यह प्रकाश महत् तत्व के मिश्रण से सामान्य ज्ञान स्वरूप है जिसमें कि घट-पटादि

समस्त पदार्थों का भान हो रहा है। पदार्थों का ज्ञान-अज्ञान, लौकिक प्रकाश और अन्धकार का ज्ञान, वस्तुओं का भाव-अभाव, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन अवस्थाओं का ज्ञान-अज्ञान ये सभी जिस एक बुद्धि तत्व से प्रकाशित हो रहे हैं, समझने में आ रहे हैं, वह निर्गुण परमात्मा का चित्-तत्व ही महत्व को लेकर भाति रूप से कहा जाता है। वह भातितत्व महत्तत्व का सम्बन्ध होने के कारण चित् तत्व की अपेक्षा स्थूल है।

इसमें भी अस्ति की भांति वस्तुओं का ज्ञान वस्तुओं के बाद प्रतीत होता है, पर वास्तव में वस्तुओं के ज्ञान और अज्ञान दोनों को ही यह भाति-तत्व सामान्य रूप से निरन्तर प्रकाशित कर रहा है। यही सगुण परमात्मा का भाति रूप है।

प्रिय तत्व -

स्वामी के मतानुसार संसार के पदार्थ मन को अच्छे लगते हैं, यह अच्छा लगना ही 'प्रिय' है। वस्तु मात्र में ही एक प्रियता प्रतीत हो रही है, क्योंकि उपयोगी होने के कारण वह किसी न किसी के लिए प्रिय है ही। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, चाहे वह निकृष्ट ही क्यों न हो, जो किसी एक की प्रिय न हो। पदार्थों में जो यह सुन्दरता, प्रियता और आकर्षण है, वह सब वास्तव में परमात्मा से ही है, परन्तु दिखता पदार्थों में है। यही माया शक्ति के आवरण की विलक्षणता है। वस्तुतः पदार्थों में सुन्दरता, प्रियता और आकर्षण नहीं है। सारे पदार्थ उस परमात्मा में ही अध्यारोपित है और उस परमात्मा का आनन्द स्वरूप ही माया शक्ति के साथ मिला हुआ होने से पदार्थ मात्र में प्रिय रूप अनुभूत होता है।

अस्ति, भाति, प्रिय की एकता - संसार में यावन्मात्र जो भी वस्तुएं प्रतीत हो रही है, उनमें परस्पर भेद होने पर भी अस्ति, भाति, प्रिय रूप का उनमें एक रूप से अनुभव हो रहा है। वस्तुगत भेद होने पर भी अस्ति, भाति, प्रिय तत्व का भेद नहीं है। वस्तुगत अस्तितत्व ही प्रतीत हो रहा है और वास्तव में वही प्रिय रूप है और भाति यानि प्रतीति मात्र में जो आनन्द को अनुभूति होती है, यही प्रियता है। वहां भी अस्तित्व तो है ही। जहां प्रियता है, वहां भी प्रतीति और अस्तित्व मौजूद ही है। अतः अस्ति, भाति, प्रिय - ये तीनों कोई अलग-अलग विशेषण या शक्ति विशेष नहीं है, किन्तु वह सच्चिदानन्दधन परमात्मा ही प्रकृति को लेकर अस्ति, भाति, प्रिय रूप से प्रतीत हो रहा है। इसके

अंतर्गत दीखने वाले नाम रूप आकार वाले संसार की अपेक्षा करके इसके आधार स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा की उपासना करने से साधक कृतकृत्य हो जाता है -

सर्वतः पाणिपाद ततं सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वभावृत्य तिष्ठति।।

सगुण साकार तत्व -

परमात्मा का जो दिव्य गुणों से सम्पन्न सगुण साकार स्वरूप है, वह चिन्मय है। इसी प्रकार भगवान का परमधाम भी दिव्य चेतन है। गीता में भगवान अपने सर्वव्यापी स्वरूप का वर्णन करते हुए अपने को ही उत्पन्न, पालन - संहारकर्ता बतलाते हैं।(132) स्वामी जी के अनुसार ज्ञानवान इच्छावान, क्रियावान परमात्मा सगुण है क्योंकि जिस प्रकार मिट्टी के घड़े का निर्माता कुम्भकार निर्गुण नहीं हो सकता यदि वह ज्ञानवान, इच्छावान और क्रियावान गुणों से युक्त न हो घड़ा नहीं बन सकता। इसी प्रकार लोहे के विविध यंत्र बनाने वाला वैज्ञानिक ज्ञानवान, इच्छावान, क्रियावान ही होता है। अतएव चन्द्रमण्डल, भूमण्डल, गगन, सागर, पर्वत का निर्माण करने वाला परमात्मा ज्ञानवान, इच्छावान, क्रियावान है। ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया सभी गुण हैं अतएव परमात्मा सगुण है।(133)

तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत् की जिससे सृष्टि होती है, जिसमें स्थिति है और जिसमें प्रलय होती है वही ब्रह्म है (134) उसी को प्रमाण मानते हुए स्वामी करपात्री जी कहते हैं कि "विशेष रूप से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति में कार्योत्पत्ति के लिए प्रकाशात्मक सत्व, चलनात्मक रज तथा अवष्टम्भात्मक तम की अपेक्षा होती है। तद्‌गुणों की प्रधानता से ब्रह्म ही रज के सम्बन्ध में ब्रह्मा, तम के सम्बन्ध से रूद्र एवं सत्व के सम्बन्ध से विष्णु बन जाता है। प्रकारान्तरण उत्पादिनी शक्ति विशिष्ट ब्रह्म ब्रह्मा, संहारिणी शक्ति विशिष्ट ब्रह्म शिव अथवा रूद्र तथा पालिनी शक्ति विशिष्ट ब्रह्म, विष्णु शब्द से व्यवहृत होता है।(135)

ब्रह्मा- सम्पूर्ण वेद समाज में त्रिदेवों की प्रधानता है। इन्हें क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, महेश की संज्ञा से अभिहित किया गया है। वह सत्-असत् से परे, स्वतंत्र, स्वयंभू स्वयंसं वेद्य ईश्वर निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी, अनन्त, सच्चिदानन्द, सकलैश्वर्य सम्पन्न, एकमेषा द्वितीय है। संक्षेप में वह 'अणोरणीयान्महतो महीयान' सब कुछ है वही परमेश्वर जब नानाविधि सम्पन्न रजोगुण से प्रेरित वही परब्रह्म सगुण होकर

हिरण्यगर्भ के रूप में प्रकट होता है।[136] स्वामी करपात्री जी कहते हैं कि 'ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ को स्वतः ज्ञान नहीं है उसकों भी ज्ञान परमेश्वर के द्वारा होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद में कहा गया है कि जो सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और उसके लिए वेदों का दान करता है, आत्मबुद्धि को प्रकाशित करने वाले उस देव की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।[137] जो ब्रह्मा को बनाता है, उसने ब्रह्मा के हृदय में वेदों को प्रेरित किया। विद्यमान वस्तु को प्रेषण हो सकता है। वेद विद्यमान है, अनादि काल से। अनादि वेद को भगवान ने ब्रह्मा के हृदय में प्रेषित किया इसलिए ब्रह्मा का ज्ञान परमेश्वरानुग्रह सापेक्ष है।[138]

वृहद्देवतात्रयी आदिदेव ब्रह्मा का सर्वप्रथम स्थान है, सभी मांगलिक कार्यों के पूजन में प्रारम्भ में इनका स्मरण-पूजन का विधान है। वेदों में ब्रह्मणस्पति, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, प्रजापति तथा विश्वकर्मन ये सभी नाम सृष्टिकर्ता [139] देवता के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। उनका आविर्भाव सर्वप्रथम माना गया।[140] ब्रह्मा ने रूद्र, मनु, दक्ष, मरीचि आदि को प्रकट किया, मरीचि से कश्यप हुए और कश्यप से इन्द्रादि देवताओं की उत्पत्ति हुई।[141] इसलिए ब्रह्मा को पितामह कहा गया। ब्रह्मा ने मौलिक सृष्टि की कामना की, इसलिए ये 'क' कहलाये।[141] भगवान विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न होने के पश्चात् विष्णु की प्रेरणा से ही सरस्वती ने प्रकट होकर उनके चारों मुखों से वेदों का उच्चारण करके समस्त ज्ञान राशि का विस्तार किया।[143] स्वामी जी ने भी ब्रह्मा' की उत्पत्ति विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से मानी है।[144] ब्रह्मा जी के चारों मुखों से चार वेद, उपवेद - आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, स्थापत्य वेद, न्यायशास्त्र, होता, उग्दाता और अध्वर्यु आदि ऋत्विज् प्रकट हुए। इनके पूर्ण मुख से ऋग्वेद दक्षिण मुख से यजुर्वेद, पश्चिम मुख से सामवेद तथा उत्तर मुख से अथर्ववेद का आविर्भाव हुआ।[145] इतिहास पुराण रूप पन्चम वेद का भी उनके मुख से आविर्भाव हुआ। अग्नि पुराण में बताया गया है कि ब्रह्मा जी चतुर्मुख, चतुर्भुज एवं हंस पर आरूढ रहते हैं। उनकी लम्बी दाढ़ी, सिर पर जटायें, उदर मण्डल विशाल है। वे दाहिने हाथों में अक्षसूत्र और स्रुवा एवं बायें हाथों में कुण्डिका और आज्यस्थाली धारण करते हैं। उनके वामभाग में सरस्वती और दक्षिण भाग में सावित्री हैं।[146]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भगवान ब्रह्मा वेद ज्ञान राशिमय, शान्त, प्रसन्न और सृष्टिकर्ता, त्रिदेवों में सर्वप्रथम परिगणित, ज्ञान विद्या, धर्म यज्ञ, समस्त शुभकर्मों के प्रतीक रूप लोक पितामह है।

ब्रह्मा, ब्रह्मचारी, ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मविद्या एवं गो ब्राह्मणादि समस्त सात्विक जीवों के सजातीय सम्बन्धी होकर उनके मूल विषयों के प्रदाता ओर विधाता होने से इनका 'यथानाम तथा गुणः' परमार्थतः पूर्णतया सत्य ही है।

विष्णु -

व्यात्प्यर्थक 'विष्लृ' धातु से विष्णु शब्द की निष्पति होती है।(147) सर्वव्यापक परमात्मा ही भगवान विष्णु हैं उनकी दिव्य व्यापकता जिस प्रकार निर्गुण निराकार रूप में है, उसी प्रकार सगुण साकार रूप में भी है। वे निर्गुण भी हैं और सगुण भी तथा निर्गुण-सगुण से विलक्षण भी है। स्वामी करपात्री जी भगवान विष्णु को विश्व का पालनकर्ता(148) मानते हैं और उनकी इस पालन शक्ति का नाम धरित्री है एवं वही शक्ति नीति है।(149) वैदिक पुरूष सूक्त में जिस परमात्मतत्व का निरूपण किया गया है, वह विष्णुतत्व ही है। श्रुतिसार, सर्वस्व, भक्त वान्छा कल्पद्रुम, भगवान श्री हरि की महिमा का सभी शास्त्रों में वर्णन है।(150) नरसिंह पुराण में भी उनके स्वरूप वर्णित है कि जो सदा उन विश्व रूप, आदि अन्त से रहित, सबके आदिकारण, स्वरूपनिष्ठ, अमल एवं सर्वज्ञ भगवान विष्णु को ध्यान करता है वह मुक्त हो जाता है।(151) अनन्त ब्रह्माण्ड नायक भगवान ही 'विष्णु', 'पदम्' आदि पुराणों में विष्णु, 'रामायण', 'भारत' आदि में राम-कृष्ण आदि रूप में गाया गया है।(152) जगत के पालन में सर्वातिशायी ऐश्वर्य की अपेक्षा होती है, अतः विष्णु भगवान में परमेश्वर्य का अस्तित्व है। समग्र ऐश्वर्य, संसग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समय ज्ञान समग्र वैराग्य जिसमें हो वही भगवान है। विश्व मात्र का फलित प्रफुल्लित करना, अनेक ऐश्वर्य से पूर्ण करना पालक का कार्य है इसलिए विष्णु भगवान में पराकाष्ठा का ऐश्वर्य पाया जाता है। यद्यपि परमविष्णु साक्षात् चैतन्य-घन ही है, तथापि उपासना में उनकी पदादि अंग (153) उपांग गरूणादि आयुध सुदर्शनादि, आकल्प कौस्तुभादि की कल्पना की जाती है। श्रीमद् भागवत में भी वर्णन है कि कौस्तुभमणि भगवान के गले में जीव-चैतन्य रूप आत्म ज्योति की प्रतीक है।(154)

भगवान विष्णु के रूप का वर्णन करते हुए करपात्री जी कहते हैं कि माया, सूत्रात्मा, महान, अहंकार, पन्चतन्मात्रा ग्यारह इंद्रियां पन्चमहाभूत इन षोडश विकारों के साथ महाविराट भगवान का स्थूल रूप है। भगवान के उसी सात्विक रूप में तीनों भुवन प्रतिभासित होते हैं। यही पौरूष का रूप है।

भूलोक ही इस पुरूष का पाद है, धौलोक ही सिर है, अन्तरिक्ष लोक ही नाभि है, सूर्य, नेत्र, वायु, नासिका, दिशाएं, कान, प्रजापति, प्रजनेन्द्रिय, मृत्यु पायु (गुदा) लोकपाल बाहु, चन्द्रमा, मन और यम ही भगवान की भृकुटी है। उत्कृष्टता के अभिप्राय से धौलोक को सिर कहा गया है, गम्भीरता के अभिप्राय से अन्तरिक्ष को नाभि कहा गया है, प्रतिष्ठा के अभिप्राय से भूलोक को पाद कहा गया है, नेत्रनुग्राहक तथा सर्वप्रकाशक होने के कारण सूर्य को चक्षु कहा गया है। लज्जा भगवान का उत्तरोष्ठ है (लज्जा से जैसे प्राणी उन्मुख न होकर अवनतानन हो जाता है, तद्वत् उत्तराधर अवनत ही रहता है। और लोभ अधरोष्ठ है, ज्योत्स्ना दन्त है, माया ही मन्द हास है, सम्पूर्ण भूरूह (वृक्षादि), लोभ है, मेघ मूर्धज (केश) है। जैसे सप्त वितरित (3।। हाथ) का यह व्यष्टि पुरुष है, वैसे ही अपने मान से समष्टि पुरूष से भी सप्त वितस्ति है - 'सप्तवितस्तिकामः।' परमेश्वराधिष्ठित होने से वैराजरूप की उपासना होती है। इसीलिए पुरूषसूक्त में तथा अन्यत्र पुराणों में उपर्युक्त सभी अंग प्रत्यंगों की भावना भगवान विष्णु में की गयी है। वैसे तो भगवान विष्णु का अखण्ड सच्चिदानन्द ही स्वरूप है, तथापि भक्तानुग्रहार्थ भगवान विशुद्ध तथा नवनीलनीरदश्यामल या नीलकमलकान्ति भगवान का सगुण साकार स्वरूप है।(150) श्रीमद् भागवत् में भगवान विष्णु के स्वरूप का वर्णन हुआ है कि श्री विष्णु अपनी सत्वरज आदि गुणों वाली माया को वनमाला के रूप में अपने कण्ठ में धारण करते हैं।(156) श्री विष्णु अ, उ, म - इन तीन मात्रा वाले प्रणव को यज्ञोपवीत के रूप में धारण करते है।(157) श्री नारायण की स्वीकृति है कि मेरी चार भुजाएं धर्म, अर्थ काम और मोक्ष रूपी चार केयूरों से विभूषित है।(158) वेद को ही उनका पीताम्बर कहा जाता है।(159)

सांख्य एवं योग को भगवान ने मकाराकृत कुण्डल के रूप में कानों में धारण किया है।(160) पारमेष्ठय पद ही भगवान का मुकुट है।(161) अनन्त नाक अव्याकृत ही भगवान का आसन है।(162) चतुर्वर्गप्रद, चतुर्वेदात्मा, चतुर्युग चतुरस्त्र भगवान की चार भुजाएं हैं। जलतत्व को शंख के रूप में(163) तेज तत्व को सुदर्शन के रूप में दो हाथों में धारण रखा है।(164) ओज, बलादियुक्त, प्राणतत्व ही भगवान की गदा है।(165)

आकाशतत्व को ही तलवार एवं अन्धकार को ही चर्म (ढाल) के रूप में, काल को शांर्गधनुष के रूप में, कर्मों को ही निषंग के रूप में भगवान ने धारण किया है।(166) एक हाथ में धर्मज्ञानादियुक्त

सत्वमय पद्म् को धारण किये है।(167) चिद्रूया भागवतीशक्ति ही भगवत्प्रिया लक्ष्मी है।(168) मेरू पर्वत के पूर्व भाग में लवण समुद्र के मध्य में सलिलान्तः संस्थित विष्णुलोक अपने ही प्रकाश से विभासित है। उसमें भगवान वर्षा ऋतु के चार मासों में लक्ष्मी द्वारा सेवित होकर शेष पर्यंक पर शयन करते हैं।(169) पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में भगवान के सिंहासन का वर्णन है।(170)

जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण में कटक, मुकुट, अंगदादि अनेक भेद होते हैं अथवा जैसे समुद्र जल में स्थूल सूक्ष्म तरंग है, फेन, बुद्बुदादि भेद होते हैं, भूमि में पर्वत, वृक्ष तृण, गुल्म लतादि - अनन्त वस्तुभेद होते हैं उसी प्रकार अद्वैत परमानन्द ब्रह्म में बैकुण्ठादि भेद उत्पन्न हो जाते हैं। वस्तुतः तो भगवान तुर्य एवं तुर्य्यातीत रूप से निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय, निराश्रय, निरतिश या द्वैत परमानन्द स्वरूप है।(171)

शिव -

'शीड्स्वप्ने' धातु से 'शिव' शब्द की सिद्धि है। 'शेरते प्राणिनो यत्र स शिवः' - शिव वही तत्व है जो समस्त प्राणियों के विश्राम का स्थान है अर्थात् अनन्त पाप तापों से उद्विग्न होकर विश्राम के लिए प्राणी जहां शयन करे, उसी सर्वाधिष्ठान सर्वाश्रय को शिव कहा जाता है। इन्हें शिव, ईश्वर(172) महेश्वर,(173) रूद्र,(174) शंकर,(175) महादेव,(176) शम्भू,(177) इत्यादि नामों से मुख्य रूप से जाना गया। श्री शिव के सगुण रूप का मनोहारी वर्णन करते हुए श्री करपात्री जी कहते हैं "भगवान की तेजोमयी दिव्य, मधुर मनोहर विशुद्ध सत्वमयी, मंगलमयी मूर्ति को देखकर स्फटिक, शंख, कुन्द, दुग्ध कर्पूरखण्ड, श्वेतादि, चन्द्रमा सभी लज्जित होते हैं। अनन्तकोटि चन्द्रसागर के मन्थन से समुद्र-भूत, अद्भुत अमृतमय, निष्कलंक पूर्णचन्द्र भी उनके मुखचन्द्र की आभा से लज्जित हो उठता है।

मनोहर त्रिनयन, बाल चन्द्र एवं जटामुकुट पर दुग्धघटा स्वच्छाकृति गंगा की धारा हठात् मन को मोहती है। हरित शुण्ड के समान विशाल भूतिभूषित, सुडोल, गोल, तेजोमय, अंगद-कंकण शोभित भुजा, मुक्ता-मोतियों के हार, नागेन्द्र हार, व्याघ्रचर्म, मनोहर, चरणारविन्द और उनमें सुशोभित नखमणि चन्द्रिकाएं भावुकों को अपार आनन्द प्रदान करती हैं। हिमाद्रि के समान धवलवर्ण स्वच्छ नन्दीगण पर विराजमान सदाशक्तिरूपा श्री उमा के संग श्रीशिव ठीक वैसे ही शोभित होते हैं, जैसे धर्मतत्व के ऊपर

ब्रह्म विद्या सहित ब्रह्म विराजमान हों, किंवा माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति के साथ मूर्तिमान होकर परमानन्द रसामृत सिन्धु विराजमान हो। आपका वाहन नन्दी है।(178) डमरू सदैव उनके हाथ में रहता है - 'अ इ उ ण।' ऋलृक् ए ओङ् ऐ औच' ये सब सूत्र भगवान भूतभावन सदाशिव के डमरू से निकले हैं।(179) इन्हीं सभी को धारण करने के कारण वे गगाधर, चन्द्रशेखर, त्रिलोचन, पन्चववक्त्र, नीलकण्ठ, कृतिवास, व्याधचर्मासन, त्रिशूलधारी, वृषमध्वज, साम्ब, सदाशिव कहलाये।(180) रामचरित मानस में तुसलीदास जी ने कहा है कि शिव आराधना के बिना इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती।(181) क्योंकि स्वामी जी के अनुसार शिव को शिवस्वरूप, कल्याणदाता, मोक्षदाता कहा गया है।(182)

इस प्रकार हम त्रिदेवों के स्वरूप पर विचार करते हुए जब परमात्मा के वास्तविक स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि वह देवाधिदेव ब्रह्म माया के जाल से तथा सत्-असत् दोनों से परे निर्गुण-निराकार, सर्वव्यापी, अनन्त तथा सच्चिदानन्द ही है।

उपनिषदों के अनुसार वह सगुण होकर भी निर्गुण है साकार होकर भी निराकार है। 'अपाणिपाद' होकर भी ग्रहण और गमन करने वाला है। वह 'सर्वेन्द्रियगुणाभास' होने पर भी 'सर्वेन्द्रियविवर्जित' है। निर्विकल्प होकर भी सविकल्प है, दूर हो कर भी समीप है। इतना ही नहीं वह अवांग मनसगोचर' होकर भी बुद्धिगान है। संक्षेप के वह 'अणोरणीयान्महंतो महीयान' सब कुछ है। इस प्रकार परस्पर विरोधी वर्णन करने पर यद्यपि परमेश्वर में अलौकिकत्व तो सिद्ध हो जाता है, तथापि यह उसका सर्वांगीण वर्णन नहीं है। क्योंकि अनित्य शब्द उस नित्य का निर्वचन कर ही नहीं सकते। इसी से अन्त में नेति-नेति कहकर उसे अनिवर्चनीय कहा गया है।

यही परब्रह्म जब सगुण होकर हिरण्यगर्भ के रूप में अवतरित होता है जिससे त्रिगुणात्मक प्रकृति में सृष्टि प्रवाह होता है। इसी क्रम में वही ब्रह्म सत्वगुण प्रधान होने पर विष्णु रूप में सृष्टि का पालन तथा तमोगुण प्रधान शिवरूप में प्रकट होकर संहार करते है।

महाकवि कालिदास ने अपनी एक स्तुति में ब्रह्मा विष्णु और शंकर - इन तीनों देवताओं को तत्वतः एक ही बताया है -

नगो विश्वसृजे पूर्व विश्वं तदनुबिभ्रते

अथ विश्वस्य संहर्त्रे तु त्रेधास्थितात्मने।।

सृष्टि, स्थिति, संहाररूप कार्य करने से ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप से स्थित हे परमात्मन्। तुम्हें नमस्कार है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के एकत्व विषयक रहस्य को सुस्पष्ट करते हुए श्रीमद् भगवत पुराण में भगवान ने स्वयं कहा है - "मैं ही जगत् का प्रथम एवं परम कारण तथा ब्रह्मा और महादेव हूँ। मैं सबकी आत्मा ईश्वर, साक्षी स्वयं प्रकाश एवं उपाधि शून्य हूँ। अपनी त्रिगुणात्मिका माया को स्वीकार करके मैं ही जगत् की रचना, पालन और संहार करता रहता हूँ और मैंने ही उन्ही कर्मो के अनुरूप ब्रह्मा विष्णु तथा शंकर - ये नाम धारण किए हैं। ऐसा जो भेद रहित, विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप में है, उसी में अज्ञानी पुरूष ब्रह्मा, रूद्र तथा अन्य समस्त जीवों को विभिन्न रूप से देखता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने सिर, हाथ आदि अंगों में 'ये मुझसे भिन्न है ऐसी बुद्धि कभी नहीं करता, उसी प्रकार मेरा भक्त प्राणिमात्र को मुझसे भिन्न कभी नही देखता। हम ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर - तीनों स्वरूपतः एक ही है और हम ही संपूर्ण जीवरूप है, अतः जो हममें भेद नहीं देखता वही शांति प्राप्त करता है।(183)

सगुण साकार लीलावग्राही -

निर्गुण-सगुण सच्चिदानन्दधन सर्वव्यापी पूर्ण ब्रह्म परमात्मा वास्तव में जन्म-मृत्यु से सर्वथा रहित होने पर भी जब आवश्यकता समझते हैं, तब अपनी दिव्य प्रकृति को लेकर सगुण साकार रूप से प्रकट होते हैं। गीता में कहा गया है कि हे भारत। जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूप को रचता हूँ, साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ।(104) मैंने यह अविनाशी योग सूर्य भगवान को दिया' -

'इमं विवस्वतै योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्" - गीता में श्रीकृष्ण का यह कथन स्वाभाविक रूप से शंका उठती है कि या तो यह कथन ही मिथ्या है अथवा भगवान के शब्दों में कोई गुह्य रहस्य छिपा हुआ है। अतः अर्जुन सीधा प्रश्न करता है कि आपका जन्म तो बाद का है और भगवान सूर्य का बहुत

पहले था। तब मैं कैसे यह विश्वास करूं कि इसे आपने सूर्य को दिया।(185) तब श्रीकृष्ण ने शंका समाधान करते हुए कहते हैं कि 'हे परंतप, तुम्हारे और मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ किन्तु तुम नहीं जानते।(186) तथा यद्यपि मैं अजन्मा, प्राणियों का ईश्वर और अविनाशी - स्वरूप हूं, तथापि अपनी प्रकृति को वश में करके अपनी माया से अपने आपको प्रकट करता हूँ।(187)

इन उदाहरणों को देखते हुए एक तार्किक मस्तिष्क को दिव्य अभिव्यक्ति की तर्कसंगता में सदेह हो सकता है, उनकी शंका हो सकती है कि यदि किसी एक विशिष्ट आकार को भगवान का नित्य स्वरूप माना जाय, तो उस आकार को निर्विकार मानना होगा, परन्तु किसी साकार को नित्य कहना दुर्घट ही है, अतः व्यावहारिक जगत् में विभिन्न दैहिक अवतार में भगवान का अवतार असमंजस है। यह धारणा कैसे कर सकते हैं कि भगवान उनके स्वभावगत नित्य, नये-नये आकारों को ग्रहण किया करते हैं? सर्वशक्तिमत्ता के परस्पर भिन्न और अपक्षयादि से युक्त पाये जाते हैं, अतः अपने नित्य रूप के साथ ही भगवान का जगत् में अवतरण होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता।' इस जिज्ञासा को शान्त करते हुए स्वामी करपात्री जी कहते हैं कि "सर्वशक्तिमान भगवान एक रूप या अनेक रूप से भिन्न-भिन्न काल में या एक काल में प्रवृत्त हो सकते हैं। उनके आविर्भाव-तिरोभाव को ही अज्ञ लोग उत्पत्ति और नाश मान बैठते हैं। भगवान के शरीर में किसी भी तरह का विकार नहीं माना जा सकता। जैसे मायावी के अंग में माया से अनेक विकारों का स्फुरण हो सकता है वैसे ही भगवान में भी कल्पना की जा सकती है। भगवान का स्वाभाविक पारमार्थिक स्वरूप निराकार, निर्विकार है फिर भी भगवान अनन्त ब्रह्माण्डोत्यादिनी अनिवर्चनीय महाशक्ति के आधार पर होने से सगुण और कारण है। उसी शक्ति के योग से भगवान सगुण, साकार, एकरूप, अनेकरूप होते हैं। यह बात "अजायमानो बहुधा व्यजायत", 'इन्द्रो माया भिः पुरूरूप ईयते', अर्थात् परमात्मा अज होकर भी अनेक रूप से जापमान होता है, इन्द्र परमात्मा माया से अनेक रूप होकर व्यतीत होता है, इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है।"(188)

अवतार शब्द 'अब' उपसर्गपूर्वक 'तृप्लवनतरणयोः' धातु से धत्र ·प्रत्यय का योग करने पर निष्पन्न होता है। अवतार शब्द धातुगत अर्थ है, 'उतरकर नीचे आना।(189) अब धातु से अच् प्रत्यय का योग करने पर अव शब्द बनता है। अव् धातु अनेकार्थक है।(190) अव् धातु के मुख्य अर्थ ग्रहण करने पर 'अवतार' शब्द का अर्थ होगा, करूणावरूणालय(191) भगवान का भक्तों से प्रेम होने का

कारण उनकी रक्षा के लिए बैकुण्ठ से उतर[192] कर मृत्यु लोक में जन्मधारण करना। भगवान का अवतार उनकी इच्छा से होता है।[193] भगवान के अवतार ग्रहण करने का एक प्रयोजन लीला का विस्तार करना भी बतलाया गया है।[194] भागवत्कार के अनुसार भगवान जीवों का कल्याण करने के लिए अवतार धारण करते हैं।

भारतीय धार्मिक वाडमय में भगवान् के अवतारों की दो परम्पराए दृष्टिगत होती हैं, प्रथम दशावतार और द्वितीय चौबीस अवतार की परम्परा। महाभारत और गीतगोविन्द में भगवान के दशावतार, की तथा भागवत् में चौबीस अवतार की परम्परा का उल्लेख मिलता है।[195] महाभारत के अनुसार भगवान के दस अवतार हुए थे[195] - (1) हंस, (2) कूर्म, (3) मत्स्य, (4) वराह, (5) नृसिंह, (6) वामन, (7) परशुराम, (8) राम, (9) कृष्ण, (10) कल्कि। इस सूची में बुद्ध का नाम नही है। इससे प्रतीत होता है कि दशावतार की कल्पना बुद्ध से पहले की है[196] बाद में दशावतार में बुद्ध को भी सम्मिलित कर लिया गया है। गीत गोविन्द में कहा गया है कि जगदीश (कृष्ण) ने पृथ्वी का उदार करने के लिए निम्नांकित दस अवतार धारण किये थे[197] - (1) मत्स्य, (2) कच्छप, (3) शूकर, (4) नृसिंह, (5) वामन, (6) परशुराम, (7) राम, (8) बलराम, (9) बुद्ध, (10) कल्कि।

भागवत में भगवान के चोबीस अवतारों का उल्लेख किया गया है[198] - (1) चतु:सन (2) शूकर, (3) नरनारायण, (4) कपिल, (5) दत्तात्र्येय, (6) यज्ञ, (7) ऋषभ, (8) मत्स्य, (9) कच्छप (10) पृथु, (11) धन्वन्तरि, (12) नृसिंह, (13) वामन, (14) परशुराम, (15) ध्रुवप्रिय, (16) हयग्रीव, (17) गजेन्द्र उद्धारक (18) हरि, (19) राम, (20) कृष्ण, (21) बलराम, (22) व्यास, (23) बुद्ध, (24) कल्कि।

स्वामी करपात्री जी के अनुसार यद्यपि वैदिक संहिताओं में 'अवतार' शब्द का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है, तथापि ऋग्वेद में अव+तृ से बनने वाले 'अवतारी'[199] शब्द का उल्लेख हुआ है। भाष्यकार सायण के मत से वेदोक्त अवतारी शब्द का अर्थ विघ्न[200] है। इसी प्रकार अथर्ववेद में अवत्तर[201] शब्द का उल्लेख है, जो रक्षक का वाचक [202] है, ऋग्वेद और यजुर्वेद में

अवतर[203] शब्द आया है, जिसका अर्थ आगमन[204] होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परवर्ती पोराणिक साहित्य में अति प्रसिद्ध अवतार शब्द के अर्थ का मूल स्त्रोत वैदिक साहित्य में हमें यत्र-यत्र प्राप्त हो जा रहा है।

मत्स्यावतार -

शतपथ ब्राह्मण में मनु के उद्धारक के रूप में मत्स्य की कथा आयी है। खण्ड प्रलय के समय जब जल प्लावन में मनु की नौका डूब रही थी तब मनु ने मत्स्य के सींग में नौका बांध दी थी। इस प्रकार मत्स्य ने मनु की रक्षा की थी।[205] स्वामी जी ने इस अवतार का वर्णन अपने अद्वितीय ग्रन्थ रामायण मीमांसा में किया है।

कूर्मावतार -

शतपथ ब्राह्मण में कूर्म का उल्लेख है[206] महाभारत में कूर्मावतार का वर्णन है 'देवताओं की प्रार्थना से उस कूर्म ने अपने पृष्ठ पर मन्दराचल को धारण किया था जिसको मन्थान दण्ड बनाकर देवताओं एवं असुरों ने समुद्र मन्थन किया।[207] तैत्तिरीय आरण्यक में कूर्म का सहस्रशीर्षा पुरूष से तादात्म्य स्थापित किया गया है।[208] रामायण मीमांसा में स्वामी जी ने भी कूर्मावतार का वर्णन किया है।[209]

वराहावतार -

अथर्ववेद में कहा गया है कि प्रजापति ने वराह का रूप धारण कर जल के भीतर निमज्जन किया और वे पृथ्वी को नीचे से ऊपर ले आये।[210] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पृथ्वी के स्वागी प्रजापति वराह का रूप धारण कर पृथ्वी को नीचे से ऊपर ले आये।[211] तैत्तिरीय ब्राह्मण वराह ने पृथ्वी का उद्धार किया।[213] स्वामी करपात्री जी रामायण मीमांसा में वराहकार को मान्यता देते हैं।[214]

वामनावतार -

ऋग्वेद में उल्लेख है कि विष्णु ने वामनावतार में तीन लोकों को नापा था उन्होंने तीन बार पद

निक्षेप किया था।[215] उन्होंने अकेले ही अतिविस्तीर्ण लोकत्रय संहिता में वामन द्वारा तीन पगों से तीनों लोकों को जीत लेने का उल्लेख हुआ है।[217] शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण और उनको यज्ञ में प्राप्त होने वाली भूमि का उल्लेख हुआ है।[218] स्वामी जी इन सभी का उल्लेख करते हुए वामनावतार की समर्थन करते हैं।[219]

परशुराम -

महाभारत में परशुराम के अवतार का उल्लेख किया गया है। स्वामी जी इसका समर्थन करते हुए रामायण मीमांसा में परशुराम का वर्णन करते है।[220]

कल्कि -

कल्कि अवतार को भी स्वामी जी ने मान्यता दी है।[22]

नृसिंहावतार -

तैत्तिरीय आरण्यक में बज्रनरव और तीक्ष्ण दांतों वाले नृसिंह का उल्लेख हुआ है।[222] स्वामी जी ने भागवत् सुधा में प्रहलाद चरित्र के अन्तर्गत नृसिंहावतार का बडा मनोरम चित्रण किया है।[223] कवितावली में गोस्वामी तुलसीदास जी ने नृसिंहावतार पाषाण द्वारा बतलाया है।[224]

रामावतार -

ऋग्वेद में दु:शीम, वेन और पृथवान के साथ-साथ एक प्रतापवान ऐश्वर्यशाली नृप के रूप में श्रीराम का भी उल्लेख मिलता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहता है कि जैसे सब देवता पांच सौ रथों में घोड़े जोतकर यज्ञ में जाने के लिए राजमार्ग में जाते हैं, वैसे ही मैंने दु:शीम, पृथवान, वेन और बली राम आदि धनवान राजाओं के समीप उनके प्रशसायुक्त स्त्रोत का पाठ किया है[225] यही अनिवर्चनीय ब्रह्म राम भक्तों, धेनुओं और विप्रों की हितकामना के कारण मानव रूप धारण करते हैं। राम ज्ञान, गिरा, इन्द्रिय आदि के लिए अगोचर सच्चिदानन्द है उन्होंने अपनी दया के कारण ही मानव रूप को ग्रहण किया है। तुलसी दास के रामचरित मानस में राम को सच्चिदानन्द बताया गया है।[226]

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी राम का उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में अंशुग्रह यज्ञ के सम्बन्ध में

उपतस्विनि के पुत्र औपतस्विनि राम के मत का उल्लेख किया गया है।(227) ऐतरेय ब्राह्मण में श्यापर्ण कुल के ब्राह्मण मार्गविथ राम का उल्लेख है।(228) जैमिनीय ब्राह्मण में शंख शात्यायनि आत्रेय के शिष्य और शख ब्राभव्य के शिक्षक तथा क्रतुजात एवं व्याध्रपद् नामक आचार्यों के वशज क्रातुजातेय वैयाध्र पद्य राम का एक दार्शनिक के रूप में उल्लेख हुआ है।(229) तैत्तिरीय आरण्यक में भी राम शब्द का उल्लेख पाया गया है।(230) किन्तु भाष्यकार सायण के मत से यहां 'राम' शब्द का अर्थ 'रमणीय पुत्र' है।(231)

किन्तु मेरे मतानुसार ब्राह्मण ग्रन्थों एवं तैत्तिरीय आरण्यक में जिस औपतस्विनि राम, मार्गविय राम और क्रातुजातेय राम का उल्लेख है उस राम का रामकथा के नायक दशरथपुत्र राम से कोई सम्बन्ध नही है। जिसका वर्णन तुलसीदास जी अपने रामचरित मानस में करते हुए राम को सत्य बताया है।(232) उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता अतएव वह नित्य (233) और शाश्वत्(234) है और वे राम के समान राम की भक्ति भी शाश्वतिक या पारमार्थिक है।(235) ऐसा मानते हैं।

शुद्ध चेतन तत्व के रूप में भी तुलसीदास राम की परिकल्पना करते हैं। राम स्वयं चिन्मय है।(236) जगत और जीवन उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशित होता है।(237)

स्वामी करपात्री जी रामावतार को मानते हुए कहते हैं कि वेदान्तवेद्य पूर्णतम पुरूषोत्तम 'श्रीराम चक्रवर्ती नरेन्द्र दशरथ महाराज के ऊपर अनुग्रह करके भगवान परब्रह्म राघवेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए।(238) श्रीमद् भागवत् में लिखा है -

'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान स्वयम् (239)

अन्य जितने भी अवतार हैं, सब भगवान के अंश हैं, कला है और कृष्ण स्वयं भगवान है।' यहां 'च' है। 'च' कहता है कि 'रामचन्द्रोपि', अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णतम् पुरूषोत्तम परब्रह्म है, वैसे ही श्री रामचन्द्र भगवान भी परात्पर परब्रह्म है(240) श्रीमद् वल्लभाचार्य कट्टर श्री कृष्ण भक्त हुए हैं उन्होंने रामावतार के सम्बन्ध में माना है -

स यैः स्पृष्टो अभिदृष्टो वा संविष्टो अनुगतो अपि वा।
कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिन.।(241)

स्वामी जी के अनुसार दुनियां में भगवान राम के अवतार के समान कोई भी अवतार नही हुआ।(242) पूर्णतम् पुरूषोत्तम वेदान्त वेद्य भगवान का ही श्री रामचन्द्र रूप में प्राकट्य होता है तभी तो उनके दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, अनुगमन मात्र से प्राणियों की परमगति हो जाती है।(243) उनके श्रीराम आदिकर्ता स्वयं प्रभु है।(244) श्री वल्लभाचार्य जी कहते हैं, "जो सारस्वत कल्प के पूर्णतम पुरूषोत्तम कृष्ण है, वही श्रीराम है।(245) बाल्मीकि रामायण में ब्रह्मा जी कहते हैं - "आप भोक्ता और भोग्यरूप सकल प्रपन्च के आश्रम साक्षात् नारायण है, सुदर्शन चक्रधारी श्री विष्णु है, एक श्रृंग वराह तथा भूत और भव्य सकल शत्रुओं के विजेता है। आप ही आदि चतुर्भुज विष्वक्सेन, शार्गधन्वा, सर्वेन्द्रिय नियामक, हृषीकेष पुरूष एवं पुरूषोत्तम है। आप ही अजित खड्गधर विष्णु वृहद्बल कृष्ण हैं।(246) स्वामी जी के परमतत्व को ही रामावातार मानते हैं जो परमतत्व विषय, करण, देवताओं तथा जीवनी को भी सत्ता स्फूर्ति प्रदान करने वाला है, वही श्री रामचन्द्र के रूप में प्रकट होता है - "विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक सन् एक सचेता सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।(247) "समष्टि-व्यष्टि, स्थूल-सूक्ष्म, कारण समस्त प्रपन्चमय क्षेत्र के कूटस्थ निर्विकार भासक ही राम है - "जगत् प्रकाश्य प्रकाशक राम।"

जिसके अनुग्रह से एवं जिसमें सब रमण करते हैं और जो सर्वान्तरात्मा रूप से सबमें रमण करता है वही मर्यादापुरूषोत्तम रामचन्द्र है। जिस आनन्द सिन्धु सुखराशि के एक तुषार से अनन्त ब्रम्हाण्ड आनन्दित होता है वही जीवों के जीवन, प्राणों के प्राण, आनन्द के भी आनन्द भगवान 'राम' हैं।(248)

राम साक्षात् मूर्तिमान धर्म थे। श्री भागवत् आदि में मनुष्यों को धर्म की शिक्षा देकर लोकानुग्रह करना ही राम के अवतार का मुख्य प्रयोजन कहा गया है-

गर्त्यावतारस्त्विह गर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभो :।"

अनवाप्तगवातव्यं न ते कि विद्यते।

लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः।।

उपर्युक्त श्लोक में महाकवि कालिदास जी रामावतार के प्रयोजन को स्पष्ट करते हैं। गीता में भी लोक-शिक्षा एवं लोकानुग्रह के लिए भगवान राम का अवतार एवं कर्म है ऐसा बताया है -

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।।(249)

राम का चरित्र मंत्र रामायण, पूर्वोत्तरतापनीयोपनिषद, रामरहस्योपनिपद तथा मुक्तिकोपनिपद आदि में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। सत्य स्वरूप श्रीराम के वचन है - संसार में सत्य ही ईश्वर है, सत्य में धर्म सदा प्रतिष्ठित है। वेद भी सत्य ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित पर्यवसित है, अतः सत्यनिष्ठ होना आवश्यक है।(250) आप नारायन चतुर्भुज, सनातन देव है। अप्रमेय अव्यय प्रभु राक्षसों को मारने के लिए श्रीराम के रूप में उत्पन्न हुए हैं। समय-समय पर नष्ट धर्म को व्यवस्थित करने के लिए प्रजाहितार्थ आप प्रकट होते हैं। हे शरणागत वत्सल। आप दस्यु लोगों के वधार्थ अवतीर्ण होते हैं।"(251)

अन्त में विचार करने पर हम देखते हैं कि अवतार काल में भी ब्रह्म एक देश में सीमित नही हो जाता। जैसे सूर्यमण्डल उतना लघु नहीं है जितना कि हम अपने लघु नेत्रों से देखते हैं, वह तो अकेला ही समस्त ब्रह्गाण्ड को प्रकाशित करता रहता है, उसी तरह ब्रह्मा का एक देश में प्रतीत होना भी अपना भ्रम ही मानना चाहिए वहां भी वह सर्वदेशीय ही है, एक देशीय नही है।

रविमण्डल देखत लघु लागा

उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।

यहां पर प्रश्न उठ सकता है कि निर्गुण सगुण कैसे होता है इसके लिए हम जल का उदाहरण देते हैं कि जल बर्फ के रूप में परिणत होकर भी जल ही रहता है, उसमें कोई विकृति नहीं आती है उसके शरीर धारण करने पर शका समाधान हेतु कह सकते हैं कि वास्तव में यहां देह-देही का कोई भेद हे ही नहीं इसीलिए उनके देह को भी सच्चिदानन्दधन विग्रह कहा जाता है।

कृष्णावतार -

वैदिक साहित्य में कृष्ण नामक तीन व्यक्तियों का वर्णन है - (1) असुर कृष्ण, (2) मंत्रद्रष्टा कृष्ण, (3) देवकी पुत्र वासुदेव कृष्ण।

असुर कृष्ण - ऋग्वेद में मिलता है कि असुर कृष्ण अंशुमती नदी के तट पर विचरण किया

करता था।[252] उसकी सेना में दस हजार सैनिक थे, जिनका इन्द्र ने ब्रहस्पति के सहयोग से असुर कृष्ण की सेना का विनाश किया।[253] और उसकी त्वचा[254] उखाड़ अंशुमती नदी के तट पर उसका संहार किया था।[255]

मन्त्रदृष्टा कृष्ण - ऋग्वेद में कृष्ण नामक एक मन्त्रदृष्टा ऋषि का स्पष्ट विवरण मिलता है, जो ऋग्वेद 8/85, 8/86, 8/87, 10/42, 10/43 और 10/44 के मंत्र-दृष्टा है। अनुक्रमणीकार और भाष्यकार सायण इन मन्त्रदृष्टा कृष्ण को आंगिरस कृष्ण कहते हैं।[256] मन्त्रदृष्टा कृष्ण सोमपान के लिए अश्विद्वय को आमंत्रित करते हैं।[257] ऋग्वेद में कृष्ण के विश्वक नामक पुत्र का भी उल्लेख है, जो कृष्ण के साथ ऋग्वेद (8/86) का मन्त्रद्रष्टा है। कृष्ण पुत्र ऋषि विश्वक अपने पुत्र विष्णाप्व की स्तुतियों का उल्लेख करता है।[258] अश्विनी कुमारो ने विश्वक के नष्टपुत्र विष्णाप्व की रक्षा की थी और उसके पिता विश्वक से उसे मिलवाया था।[259] ऋग्वेद के अन्य मंत्रों में भी विष्णाप्व का उल्लेख है।[260] कौशतकि ब्राह्मण में आंगिरस कृष्ण का उल्लेख हुआ है।[261]

वासुदेव कृष्ण - पूर्वोक्त विवरणों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि इस असुर कृष्ण का तथा मन्त्रदृष्टा या आंगिरस कृष्ण का वासुदेव कृष्ण से कोई सम्बन्ध नही है। तैत्तिरीय आरण्यक में वासुदेव (कृष्ण) का उल्लेख किया गया है।[262] डा0 मुशीराम शर्मा का मत है कि छान्दोग्य उपनिषद [263] और गीता [264] में उल्लिखित शिक्षा के साम्य से यह सिद्ध होता है कि छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित देवकी पुत्र कृष्ण गीता के प्रवचनकर्ता वासुदेव कृष्ण ही है।[265]

ऋग्वेद में कृष्ण के साथ अर्जुन का उल्लेख हुआ है।[266] किन्तु यास्क[267] और सायण[268] के मतानुसार यहां कृष्ण का अर्थ रात्रि और अर्जुन का अर्थ दिन है। ऋग्वेद में गायों के साथ जिनके बड़े-बड़े सीग हैं, विष्णु के परमधाम का उल्लेख हुआ है।[269] इसी के साथ ब्रज,[270] यमुना,[271] राधा,[272] और गोपी[273] अर्थात् गोपाल (गोपालक) का भी वर्णन आया है।

पाणिनि ने वासुदेव और अर्जुन आदि संज्ञाओं से भक्ति[274] के अर्थ में वुञ प्रत्यय का विधान किया है। उनके मतानुसार वासुदेव का उपासक वासुदेवक [275] कहलाता है। वासुदेवक और अर्जुनक आदि शब्दों पर विचार करते हुए महाभाष्यकार पतंजलि का मत है कि ये शब्द **'वुञ'**[276] प्रत्यय से ही बन सकते थे अतएव वासुदेवक और अर्जुनक शब्द बनाने के लिए महर्षि पाणिनि ने एक नये सूत्र की

रचना क्यों की, फिर स्वयं ही पतंजलि शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि वासुदेव क्षत्रिय संज्ञा नहीं है, अपितु यह पूज्य भगवान की संज्ञा है। इसीलिए, पाणिनि को एक नये सूत्र की रचना करनी पड़ी।(277) कैयर(278) और तत्वबोधिनीकार(279) के मत से यहां वासुदेव से परमात्मा का अर्थ ग्रहण किया है।

उपर्युक्त विवरण यह प्रमाणित करता है कि पाणिनि के समयाकाल में वासुदेव कृष्ण ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।(280)

स्वामी करपात्री जी भगवान श्रीकृष्ण को अवतार के रूप में प्रतिष्ठापित करते हुए कहते हैं - "वही परात्पर परब्रह्म प्रभु श्रीकृष्ण चन्द्र परमानन्द कन्द मदनमोहन ब्रजेन्द्र नन्दन के रूप में प्रकट हुआ।(181) 'कृष' भूवाचक है। भू माने सत्ता है। सत्ता का तात्पर्य भाव है। भाव से यहां स्थायी भाव से आशय लिया गया है। वह सत्ता महासत्ता रूप है जिसके बिना सब असत् है, उसी स्वप्रकाश सत् से सबकी सत्ता है, वही 'कृष्ण' है।(282) स्वामी करपात्री जी शंकराचार्य जी को मायावादी नहीं कहते वे उनके इस कथन को पूर्ण मान्यता देते हैं जिसको भगवान शंकराचार्य ने स्वयं लिखा है, कि "जिन्होंने ब्रह्मा जी को अनेक ब्रह्माण्ड, प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अलग-अलग अति अद्भुत ब्रह्मा वत्सों सहित समस्त गोपों तथा भिन्न ब्रह्माण्डों के समस्त विष्णु दिखाये और जिनके चरणोदक को शंकर अपने सिर पर धारण करते हैं वे श्रीकृष्ण त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भिन्न कोई अविकारिणी सच्चिदानन्दमयी नीलिमा है।(283) जो ज्ञान स्वरूप, सच्चिदानन्द, प्रकृति से परे परमात्मा सब भूतों में अन्तर्यामी रूप से स्थित है, यह यदुकुल भूषण श्रीकृष्ण वही तो है।(284)

यद्यपि यदुनाथ श्रीकृष्ण साकार है ओर एकदेशीय से दिखाई देते है, तथापि ये सर्वव्यापी, सर्वात्मा और सच्चिदानन्द ही हैं।(285) उपर्युक्त समस्त विचार स्वामी जी को मान्य है।(286) कृष्ण की लीला भूमि को त्रिभुवन के समस्त स्थानों में सर्वाधिक महत्व प्राप्त है, कृष्ण महाविष्णु के अनेक अवतारों में सर्वश्रेष्ठ है।(287) विष्णु की सम्पूर्ण कलाओं का प्रस्फुरण केवल कृष्ण में ही हुआ है।(288) उनके मंगलमय अधरोष्ठ ही अचिन्त्य, अनन्त, सुधा-समुद्र, परात्पर, परब्रह्म का सार-सर्वस्व है। निर्गुण, निराकार, निरूपाधिक परब्रह्म वेदान्तवेद्य है। सगुण साकार सच्चिदानन्दघन अनन्त सौन्दर्य माधुर्य - सौरस्य, सौगन्ध्य परिपूर्ण है। श्रीकृष्ण परमात्मा पूर्णब्रह्म सनातन है। भागवत् सिद्धान्त है,

'यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्मं सनातनम् (10.14 32) ब्रजवासियों का परम मित्र श्रीकृष्ण ही पूर्ण ब्रह्म सनातन है।[189] स्वामी जी की दृष्टि में केशव साधारण केशव नहीं, अपितु ब्रह्मा, विष्णु और महेश को वश में करने वाला केशव - (कः ब्रह्मा, ईः विष्णु, शः शिव, तानण्शयतीति केशवाः) हैं। भगवद्तारों में कोई अंशावतार, कोई कलावतार और कोई आवेशावतार होते हैं। परन्तु पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम अवतार पूर्णतम पुरूषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र आनन्दकन्द यशोदानन्दन का ही हुआ है।[290]

अन्ततः हम देखते हैं कि राम या कृष्ण कोई भी अवतार हो वस्तुतः है उसी एक ब्रह्म के रूप जो कि लोक कल्याण हेतु अवतरित होते हैं।

बुद्धावतार -

स्वामी करपात्री जी बुद्धावतार का वर्णन करते हुए कहते हैं कि बुद्धदेव महाविरक्त और सिद्ध थे। उन्होंने अपने चमत्कारों से उन असुर स्वभाव वालों के मन को मोह लिया था। करपात्री जी का तात्पर्य था कि जैसे वैदिक धर्म में अधिकारियों की प्रवृत्ति न होना दोष है, वैसे ही अनधिकारियों की प्रवृत्ति होना भी दूषण ही है और जैसे अधिकारियों को कर्मों में प्रवृत्त करना आवश्यक है वैसे ही अनधिकारियों की निवृत्ति भी आवश्यक है। ये दोनों ही कर्म दुष्कर है। आज जो पुराणश्रवण और मंदिर शिखर दर्शन से ही कृत कृत्य हो सकते हैं वे ही नव्य लोगों के बहकाने में आकर शास्त्रमर्यादा के विपरीत वेदाध्ययन तथा मंदिर प्रवेश चाहते हैं, और हितैषियों के समझाने से भी नहीं मानते हैं। किसी समय ठीक ऐसी ही स्थिति हो गयी थी। वेदाध्ययन तथा तदुक्त अग्निहोत्रादि कर्म के अनधिकारी देवताओं का अभिनव करने की दृष्टि से इन कर्मों में प्रवत्त हो गये और यज्ञव्याज से पशुवध तथा सुरापान का विस्तार करने लगे। शास्त्रों में यज्ञ के अंगरूप से यद्यपि पशुवध अनुमोदित है तथापि यज्ञ-ब्याज से उदर पोषणार्थ पशुवध पाप ही है। इस तरह धर्म की ओट में अधर्म का प्रचार होने लगा। उस समय किसी के समझाने बुझाने से भी उनकी उन कर्मों से निवृत्ति असम्भव थी। ऐसी स्थिति में उन्हें उन कर्मों से निवृत्त करने के लिए भगवान को उनके श्रद्धेय बनकर प्रकट होने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी प्रयोजनार्थ बुद्धावतार हुआ।[291]

इष्टदेव -

भागवत-सुधा, भक्ति सुधा, भक्ति रसार्णव जैसे ग्रन्थ ये अपने आपमें एक प्रमाण हैं कि स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती जी भगवद् भक्ति से ओत-प्रोत थे। उनकी दीक्षा यद्यपि अद्वैत शंकर साम्प्रदाय में हुई थी परन्तु वे मन, कर्म, वचन तथा हृदय से श्रीराम को ही अपना इष्टदेव मानते हैं।

राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि किसी भी प्रकार की सभा या गोष्ठी होने पर वे श्रीमद् बाल्मीकि रामायण के श्लोक से ही शुभारम्भ करके मंगलाचरण करते थे -

नमोस्तु रामाय सलक्ष्मणाय, देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै।
नमोस्तु रूद्रेन्द्र यमानिलेम्यो, नमोस्तु चन्द्रार्क मरूद्गणेभ्यः।।

स्वामी जी को राम-नाम कीर्तन अत्यन्त प्रिय था। किसी भी सभा या गोष्ठी के आरम्भ में "श्रीराम जय राम जय-जय राम" का ही संकीर्तन करवाते थे उनके अनुसार वह कीर्तन प्राचीन भारत का राष्ट्रगान है। उन्होंने अपने धर्मसंघ में सर्वप्रथम राममंदिर का निर्माण करवाया था।

भगवान राम के आदर्शों को समाज में उतारने के लिए राजनीति में कूद गये। 'मार्क्सवाद और रामराज्य' नामक ग्रन्थ में आधुनिक प्रचलित सभी प्रकार के उन राजनैतिक सिद्धान्तों को आध्यात्मिकता के आधार पर खण्डन करके समाज में भी रामराज्य को प्रतिष्ठित करने का अथक प्रयास किये। उसके अंतर्गत उन्होंने राजनैतिक दल की आवश्यकता पड़ने पर राजनैतिक दल का नाम भी 'रामराज्य परिषद' रखा।(292)

सनातन धर्म के कट्टर समर्थक स्वामी जी ने यदि कहीं भी किसी भी प्रकार से राम के उनके अवतारों के अथवा उन पर लिखे गये शास्त्रों के विरूद्ध कोई भी विचार या ग्रन्थ पाया तो उसका तुरन्त सक्रिय विरोध किया। 'रामायण मीमांसा' जैसा महाग्रन्थ इसका प्रमाण है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

1. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, भागवत सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1984, पृष्ठ 34
2. " पृष्ठ 5
3. भागवत सुधा - पृष्ठ 5
4. भागवत सुधा - पृष्ठ 1
5. " पृष्ठ 9
6. ऋग्वेद संहिता - पंचम भाग - सूची खण्ड - पृष्ठ 407-408
7. स नायते गोतम इन्द्र नव्यमत क्षद्ब्रह्म हरियोजनाय।

   गोतमः गोतमस्य ऋषेः पुनः नोधाः ऋषिः नव्यं

   नूतनं ब्रह्म एतत्सूक्तरूपं स्तोत्रं अतक्षत् अकरोत्।

   - ऋग्वेद 1/62/13
8. सुमारूतं न ब्रह्मणमर्हसे गणमस्तोष्येषां न शोभसे। सु मारूतं शोभनानां मरूतां ब्राह्मणं महन्तम्।

   - ऋग्वेद 10/77/1 का सायण भाष्य
9. अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राणा तमवन्ति देवाः। - ऋग्वेद 4/20/9

   ब्रह्मणे ब्राह्मणाय वा। - ऋग्वेद 4/50/9 का सायण भाष्य

   तव प्रशास्त्रं त्वमहवरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्चनो दम। - ऋग्वेद 2/1/2

   ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंस्यपि। - ऋग्वेद 2/1/2 का सायण भाष्य
10. य कामये तंतुमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्मणं तमृषिं तं सुमेधाय। - ऋग्वेद 10/125/5

    ब्राह्माणं स्रष्टारं करोमि। - ऋग्वेद 10/125/5 का सायण भाष्य
11. आदित्यान्विष्णुं सूर्यं ब्रह्मणं च ब्रहस्पतिम्। - ऋग्वेद 10/141/3

    ब्राह्मणं प्रजापतिम्। - ऋग्वेद 10/141/3 का सायण भाष्य
12. ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व - डा0 गणेश दत्त शर्मा, पृष्ठ 113

13. यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति
स्वर्यस्य च केवल तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।। - अथर्ववेद 10/4/8/1

14. सहस्त्रशीर्षा पुरूषः सहस्त्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठछशांगुलम्।। - ऋग्वेद 10/90/1
स पुरूषो भूमिं सर्वतो परिवेष्ट्य दशांगुलं दशांगुलपरिमितं
देशमत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः।
दशांगुल मित्युपलक्षणं ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्याव स्थित इत्यर्थः।
- ऋग्वेद 10/90/1 का सायण भाष्य

15. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य वाह्यतः।। - यजुर्वेद 40/5

16. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोअन्या नत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नापो मातरिश्वा दधाति।। - यजुर्वेद 40/4

17. बाला देकमणीयस्क मुतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्व जीयसी देवता सा मम् प्रिया।।
- अथर्ववेद 10/4/8/25

18. यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।। - अथर्ववेद 10/4/8/1

19. उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्।। अथर्ववेद 11/4/7/1

20. उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्दमा वात आहितः।। - अथर्ववेद 11/4/7/2

21. दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवेताः श्रिताः।। - अथर्ववेद 11/4/7/4

22. वृहदारण्यक 2.1.20 ऐतरेय : 1.6.2

23. यद्वाचानभ्युहितं मेन वागभ्युधते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेद यदिदमुपासते।।

यन्मनसा न मनुते येना दुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेंद यदिददमुपासते।।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेंद यदिदमुपासते।।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेंद यदि ददमुपासते।। - केन उपन्षिद 1/4-8

24. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिर्संविशन्ति तद्विजिज्ञासस्वतद् ब्रहमेति। - तैत्तिरीय उपनिषद 3/1/1

25. सर्वं खल्विदं ब्रह्मं तज्जलानिति शान्त उपासीत् - छान्दोग्य उपनिषद 3/14/1

26. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सद्जायत। तदात्मानं स्वयमकुरूत।
तत्मात्तत्सुकृतमुच्यत् इति। - तैत्तिरीय उपनिषद 3/7/1

27. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्या मोषधयाः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरूषात्केश लोभानि तथा क्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।। - मुण्डक उपनिषद 1/1/7

28. य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लो कानीशत ईश्नीभिः
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुर मृतास्ते भवन्ति।। - श्वेताश्वरेतर उपनिषद 3/1

29. य एको अवर्णो बहुधा शक्ति योगाद् वर्णान नेकान् निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु।। - श्वेताश्वतर उपनिषद 4/1

30. यो योनिं योनिमधि तिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्। - श्वेताश्वतर उपनिषद 4/11

31. सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति।। - श्वेताश्वतर उपनिषद 4/14

32. संसार मोक्षस्थितिबन्ध हेतुः। - श्वेताश्वतर उपनिषद 6/26

33. नहि आत्मनो अन्यत, ब्र0भा0 2.1.7.

34. वृहद् : 3.9.28 : विवेक चूड़ामणि : 239

35. विवेक चूड़ामणि : 255

36. वही, 241

37. सन्मात्रं हि ब्रह्म, न तस्य सन्मात्रा - देवोत्पत्ति : संभवति स असत्यतिशये प्रकृति विकार भावनुपपत्तेः। ब्रह्म सूत्र भाष्य 2.3.9.

38. आकाश स्तल्लिंगात् (ब्र0सू0) 1.1.22

39. प्राणस्तथानुगमात् " 1.1.28

40. ज्योतिश्चरणामिधानात् " 1.1.24

41. छंदोभिधानान्नेति " 1.1.25

42. आनन्दमयोअभ्यासात् " 1.1.12

43. वैशानरः साधारणः " 1.2.24

44. अक्षर ... वही 1.2.10

45. अन्तर्या... ब्र0सू0 1.2.18

46. ब्रह्मसूत्र भाष्य 1.1.2

47. छान्दोग्य उपनिषद 6.2.3.

48. ब्रह्म सूत्र भाष्य 1.2.5.

49. वृहद् 3.9.28

50. तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य 2:3:1.

51. ब्रह्म सूत्र 1.1.12

52. ब्र0 सू0 भाष्य 3.2.20 पर शंकर

53. ब्र0 सू0 भाष्य 3.2.14

54. ना सतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोअन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः।। - गीता 2/16

53. ये त्वक्षरम निर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।

सर्वत्रगम चिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवमं।। - गीता 12/3

56. न सत्त न्नासदुच्यते - गीता 13/12 का चौथा चरण

57. 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' - गीता 8/3 का प्रथम पाद

58. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। - गीता 8/13

59. श्री हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी) महाराज, भागवत सुधा, चतुर्थ पुष्प, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता 1984 - पृष्ठ 133

60. वही, चतुर्थ पुष्प, पृष्ठ 133

61. वही, चतुर्थ पुष्प पृष्ठ 133

62. (क) श्री हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी) महाराज, भक्ति सुधा कलकत्ता 1964 पृष्ठ 272

(ख) वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञान मद्वयम्

ब्रह्मोति परमोत्मेति भगवानिति शब्द्यते।। - श्रीमद् भागवत 1/2/11

63. वही, पृष्ठ - 274

64. तैत्तिरीयोपनिषद शंकर भाष्य 2.1.1

65. श्री हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी) महाराज, भागवत सुधा, पंचम पुष्प, पृ0 187

66. वही, पृष्ठ - 187

67. वही, पृष्ठ - 187

68. वही, पृष्ठ - 187

69. विज्ञानमानन्द ब्रह्म - वृहदारण्यकोपनिषत् - 3.9.28

रसो वै सः - तैत्तिरीयोपनिषद - 2.7.

सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति - कठोपनिषद् - 1.2 15

वेदैश्च सर्वेर हमेव वेद्यः - भगवद् गीता 15.15

प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता- 1984, पृष्ठ - 29

71. श्रीमद् भागवत् (1.1.1)

72. वेद्य वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् - श्रीमद् भागवत् (1.1.2)

73. शुकमुखाद मृत द्रव संयुतम् पिबत भागवतं रसमालयं - श्रीमद् भागवत् (1.1.3)

74. पूज्यपाद स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी) महाराज, भागवत्-सुधा प्रथम पुष्प राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान कलकत्ता, 1984 पृष्ठ 23

75. जन्माधस्य यतोअन्वपादि तश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदाय आदि कवये मुह्यन्ति यत् सूरय.।

तेजोवारि मृदां यथा विनियमो यत्र त्रिसर्गो मृषा।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुह कं सत्यं परं धीमंहि।। - श्रीमद् भागवत् (1/1/1)

76. पूज्यपाद स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी) महाराज, भागवत् सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता 1984 - पृष्ठ - 168

78. सोम्यान्नेन शुंगेनापो मूलमन्विच्छादिभः सोम्य
शुंगेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुंगेन
सम्मूलमन्विछ सन्मूलाः सोन्येमाः सर्वाः प्रजाः
सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा।। - छान्दोग्योपनिषद् 6/9/4

79. स्वागी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी) महाराज, भागवत सुधा, प्रथम पुष्प, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान कलकत्ता, 1984, पृष्ठ - 23

80. 'अद्भिः सोम्य शुगेन तेजो मूलमन्विच्छ'। - छान्दोग्य उपनिषद 6/9/4

81. 'तेजसा सोम्य शुगेन सन्मूल मन्विच्छ' (छान्दोग्य उपनिषद 6/9/4)

82. भगावत् सुधा प्रथम पुष्प पृष्ठ 24

83. त्वैत्तिरीयोपनिषद 2/1

84. महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च - (भगवद् गीता 13/5)

भू भिरापोअनलो वायु : रवं मनोबुद्धिरेव च

अहंकार इतीयं मे मिन्ना प्रकृतिरष्टधा - (भगवद् गीता 7/4)

85. 'तस्माद व्यक्तमुत्पन्न त्रिगुणं द्विज सत्तम्' - (महाभारत शान्ति पर्व 334/31)

तस्मात् प्रधानमुद्भूतं ततश्चापि महानभूत

सात्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान।।

अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधान कृषि सत्तमैः।

प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ।। - विष्णु पुराण 2/1/19

86. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज, भागवत् सुधा, प्रथम पुष्प, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान कलकत्ता 1984 पृष्ठ 24-25

87. सर्वाणि भौतिकानि कारणे भूतपन्चके संयोज्य भूमिं जले जलं वन्हौ वहिंन वायौ वायुमाकाशे चाकाशमहंकारे चाहंकारं महति महद व्यक्ते अव्यक्तं पुरूषे क्रमेण विलीयते। -

(पैंगलोपनिषद् 3/1)।

88. निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षित मेतस्य पन्चभूतानि।

स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः। - (भामती 2)

89. अस्य महतो भूतस्य निःश्वासितमेतद्य दृग्वेदः - (वृहदारण्यकोपनिषद् 4/5/11)।

90. जाकी सहज स्वास श्रुति चारी

सो हरि पढ़ यह कौतुक सारी (रामचरित मानस 1/204)

91. ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियं ब्रह्म निर्गुणम्।

अवभात्यर्थ रूपेण भ्रान्त्या शब्दादि धर्मिणा।। - (भागवत् 3/22/28

92. विश्वतश्चक्षुरूत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरूत विश्वत्स्पात्।

सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक।। - श्वेताश्वतरोपनिषद 3/3

93. सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमातृत्य तिष्ठति।। - श्वेताश्वतरोपनिषद 3/16

94. अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यक्षुः स श्रृगोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रंचं पुरूषं महान्तम्।। श्वेताश्वतरोपनिषद 3/19

95. परास्य शक्तिर्विविद्यैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च। श्वेताश्वतरोपनिषद 6/8

96. शर्मा कृष्ण प्रसाद, 'करपात्री एक अध्ययन', धर्म संघ प्रकाशन 304, स्वामी पाड़ा मेरठ, 1982 पृष्ठ - 232

97. शर्मा कृष्ण प्रसाद, "करपात्री एक अध्ययन", धर्मसंघ प्रकाशन 304, स्वामी पाड़ा मेरठ, 1982 पृष्ठ 232

98. वही, पृष्ठ 232

99. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री जी (महाराज) 'भागवत सुधा - पंचम पुष्प, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान 1984, पृष्ठ - 192

100. य एज सुप्रेषु जागर्ति कामं पुरूषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत्।। - कठोपनिषद 2/2/8

101. नयगात्मा प्रवचनेन लम्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लम्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।

- मुण्डाकोपनिषद 3/2/3 - कठोप निषद 1/2/23

102. सर्व ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोअयमात्मा चतुष्पात्। - माण्डूक्य उपनिषद - 2

103. वैश्वानरः प्रथमः पाठ - माण्ड्क्य उपनिषद - 3/

104. तैजसो द्वितीयः पाठ - गाण्डूक्य उपनिषद - 4/

105. प्राज्ञस्तृतीय पाठ - माण्डूक्य उपनिषद - 5/

106. प्रपंचोपशमं शान्तं विशमद्वैतं चतुर्थं मन्यते - माण्डूक्य उपनिषद- 7/

107. यौ वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। -

- छान्दोग्य उपनिषद 7/23/1

108. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज, भागवत् सुधा, चतुर्थ पुष्प राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता 1984, पृष्ठ - 131

109. नित्यो नित्यानां चेतनश्चतनानामेको

बहूनां यो विदधातिकामान्। - कठोपनिषद 2/2/13

110. ऊर्ध्वगूलोअवाक्शाख एषोअश्वत्थः सनातनः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।। - कठोपनिषद 2/3/1

111. भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपित सूर्यः।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः

112. यत्तदद्रेश्यम ग्राह्यम गोत्र वर्णम चक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूत योनिं परिपश्यन्ति धीराः।।

- मुण्डोकोपनिषद 1/1/6

113. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्

अनाधनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाप्प तन्मृत्युगुखात् प्रमुच्यते।। - कठोपनिषद 1/3/15

114. यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणों विद्वान न विभेति कदाचनेति। (कुतश्च नेति) - तैत्तिरीय उपनिषद 2/4, 2/9

115. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। - केन उपनिषद 1/2

116. से वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता। - श्वेताश्वतर उपनिषद 3/19

117. तस्मै तृणं निद्धावेतदद्हेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुम।। -

- केन उपनिषद 3/6

तस्मै तृणं निदधावेत दादत्स्वेति। तदुप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुम। - केन उपनिषद 3/10

118. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज, भक्ति सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता 1980, पृष्ठ - 614

119. बहुरि बदन बिधु अंचल ढाकी
पिय तनु चितै भौंह करि
खंजन मंजु तिरीछे नयनानि
निज पिय कह्यो तिनहिं सिय सैननि।।

स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज, भक्ति सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन, संस्थान, कलकत्ता 1980, पृष्ठ - 614

120. विश्वेश्वरो अपि सुधिया गलिते अपि भेदे,
भावेन भक्ति सहितेन समर्चनीयः।
प्राणे श्वरश्चतुया मिलिते अपि चिते
चैलान्च लव्यव हितेन निरीक्षणीयः।।

वही,... 1980, पृष्ठ - 615

121. तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके
तन्दतरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः
- ईशावस्य उपनिषद /5

122. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीत शोको धातु प्रसादान्महि मानमात्मनः।। - कठोपनिषद 1/2/20

वृहत्व तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
इरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव मिहितं गुहायाम्।। - मुण्डकोप निषद 3/1/7

123. यस्मात् परं नापरमस्ति किन्चिद्
यस्मान्नणीयो नाज्योयोस्ति कश्चिद्। - श्वेता0 उप0 3/9

124. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती 'भक्ति सुधा', राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान कलकत्ता, 1980 पृष्ठ - 614

125. तैत्तिरीयोपनिषद 3/1

126. नेयि नेति जेहि वेद निरूपा। निजानन्द निरूपाधि अनूपा।। - रामचरित मानस 1/143/2

127. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, 'स्वामी करपात्री जी महाराज', 'भागवत सुधा, चतुर्थ पुष्प, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता 1984, पृष्ठ 131

128. सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' - तैत्तिरीय उपनिषद 2/1

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ0 3/9/28)

'आनन्दो ब्रह्मेति' तैत्तिरीयोपनिषद 3/6

'रसो वै सः' - तैत्तिरीयोपनिषद 2/7

'एकमेवाद्वितीयम्' (छा0 6/2/1) छान्दोग्य उपनिषद 6/2/1

'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पत्.....

ऐपो अस्य परम आनन्दः' (बृ0 4/3/32)

129. अजो अपि सन्नव्ययात्मा भू तानाभीश्वरोपि सन्

प्रकृतिं स्वामीधष्ठाय सम्भवाम्यात्ममा यया।। - भगवद् गीता 4/6

130. मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना

मत्स्थानि सर्वभूतानि चाहं तेष्ववस्थितः।। गीता - 9/4

131. कविंपुराणमनुशासितार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णे तमसः परस्तात।।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणभावेश्य सम्यक् स तं परं पुरूषमुपैति दिव्यम्।। - गीता 8/9-10

132. अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।। - भगवद्गीता - 16

133. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, स्वामी करपात्री जी महाराज, भागवत् सुधा, प्रथम पुष्प, राधाकृष्ण धुनका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1904 पृष्ठ - 3।

134. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,
येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिं संविशन्ति।' - तैत्तिरीयोपनिषद 3/1

135. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज भक्ति सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता 1969, पृष्ठ 649-122

136. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् - यजुर्वेद 23/1
- ऋग्वेद संहिता - 10/121/1

137. श्वेताश्वतरोपनिषद 6/18

138. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री जी कहाराज भागवत् सुधा, राधाकृष्ण संस्थान प्रकाशन कलकत्ता 1984, पृष्ठ 48-49

139. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री जी महाराज भक्ति सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन, कलकत्ता 1964, पृष्ठ - 122

140. ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव
विश्वस्यकर्ता भुवनस्य गोप्ता (मुण्डकोपनिषद 1/1)

141. महाभारत आदिपर्व - 1/32-33

142. ऋग्वेद 10/121 सायण भाष्य, ऐत0 ब्राह्मण 3/21

143. प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती सती स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत किलास्यतः स में ऋवीणामृषभः प्रसीदताम्। - श्रीमद् भागवत् 2/4/22

144. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज भक्ति सुधा राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान कलकत्ता 1964, पृष्ठ - 114

145. ऋग्वेद पूर्ववदनं यजुर्वेदस्तु दक्षिणम्। पश्चिमं सामवेदः स्यादाथ वर्णमथोत्तरम्।। (विष्णु धर्मोत्तर पु0 3/46/8-11, 17-18

146. अग्निपुराण 49/14-15

147. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज, भक्ति सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1964 पृष्ठ 74

148. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज, भागवत् सुधा, राधाकृष्ण धानुका संस्थान प्रकाशन कलकत्ता, 1984, द्वितीय पुष्प - पृष्ठ 55

149. वही, पृष्ठ 55

150. वेद रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते। - (हरिवंश0 3/132/45)

151. यस्तं विश्वमनाद्यन्तमाद्य स्वात्मनि संस्थितम्।
सर्वज्ञममलं विष्णुं सदा ध्यायन् विमुच्यते।। - नरसिंह पुराण 16/17

152. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज, भक्ति सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता - 1964, पृष्ठ - 76

153. भक्ति सुधा - पृष्ठ 76

154. कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योति र्विमर्त्यजः (श्रीमद् भागवत- 12/11/10)
कौस्तुमारव्यमभूद् रत्नं पद्मरागो महोदधेः।
तस्मिन् हरिः स्पृहां चक्रे वक्षोलंकरणे मणौ।। - श्रीमद् भागवत 8/8/5

155. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती श्री करपात्री जी महाराज, भक्ति सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान कलकत्ता, 1964, पृष्ठ - 77

156. (क) वही पृष्ठ - 78
(ख) स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत् - श्रीमद् भागवत 12/11/11

157. (क) वही, पृष्ठ - 78
(ख) धर्मार्थैकाम केयूरैर्दिव्यै र्दिव्ययेरितैः।
- गोपालोत्तरवापनी योपनिषद - 27

158. वही, पृष्ठ - 78

159. 'वासश्छन्दोमयं पीतम' - श्रीमद् भागवत् - 12.11.11

160. भक्ति सुधा, पृष्ठ - 78

विभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले (श्रीमद् भागवत् 12/11/12)

161. भक्ति सुधा, पृष्ठ - 79

163. अपां तत्वं दरवरम् - श्रीमद् भागवत् 12/11/14

164. भक्ति सुधा - पृष्ठ 79

- तेजस्वत्वं सुदर्शनम् - श्रीमद् भागवत् 12/11/14

165. आद्या विद्या गढा वेद्या सर्वदा में करे स्थिता। - गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद 26

- ओजः सहोबल युतं मुख्यतत्वं गदां दधत्। श्रीमद् भागवत् 12/11/14

- दधार तां गदामादौ देवैरूक्तो गदाधरः। वायुपुराण 109/12

- भक्ति सुधा - पृष्ठ 79

166. भक्ति सुधा - 79

- 'चर्मतमोमयम्' - श्रीमद0 12/11/15

- 'कालरूप' धनुः शार्गम्' - 12/11/15

- आद्या माया मवेच्छार्गम् - गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद 26

167. पदम् विश्वं करे स्थितम् - गोपालो. - 26

- भक्ति सुधा - 79

168. - भक्ति सुधा - 79

- एवं यदा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः।

अवतारं करोत्येषा तदा श्रीस्तत्सहायिनी।। - विष्णु पुराण 1/9/142

169. विष्णु धर्मोत्तर पुराण - (1-6/30) -

तत्र स्वपिति धर्मान्ते देवदेवा जनार्दनः

लक्ष्मीसहायः सततं शेषपर्यंकमाश्रितः।।

170. ईश्वर्या सह देवेशस्त्रत्रासीनः परः पुमानः

इन्द्रीवरदलश्यामः कोटिसूर्य प्रकाशवान - (पदम पुराण, उत्तर 228/26)

171. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, 'करपात्री जी महाराज, भक्ति सुधा', राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता 1980, पृष्ठ - 80

172. ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशे अर्जुन तिष्ठति

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्।" भक्ति सुधा पृष्ठ 45

173. 'महेश्वरस्त्र्यम्बक् एवं नापरः' भक्ति सुधा, पृष्ठ 45

174. एको रूद्रो न द्वितीयोवतस्थे - भक्ति सुधा, पृष्ठ 46

175. शंकर भक्ति सुधा, पृष्ठ 50

176. 'महादेव महादेव महादेवेति यो वदेत् भक्ति सुधा, पृष्ठ 50

177. एकेन मुक्तिमाप्नोति द्वाभ्यां शम्भू ऋणीभवेत।" भक्ति सुधा 50

178. भक्ति सुधा - पृष्ठ 48

179. भागवत् सुधा द्वितीय पुष्प - पृष्ठ 68-69

180. "नान्तः प्रज्ञं न वहिः प्रज्ञं।"

प्रपन्चोपशयं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते

तमीश्वराजां परमं महेश्वरं, क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरम्।'

'तमीशानं वरद समीगयम्।"

'मायिनं तु महेश्वरम्।" - भक्ति सुधा - 68

181. जनक सुकृत मूरति वैदेही। दशरथ सुकृत रामु धरे देही।।

इन्ह सम काहुं न शिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल साधे।।

(रामचरित मानस 1/309/1,2)

182. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज, भक्ति सुधा, श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता, 1980, पृष्ठ - 73

183. अहं ब्रह्माच शर्वश्च जगतः कारणं परम्। आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंद्वगविशेषणः।।
आत्ममायां समाविश्य सोहं गुणमयीं द्विज। सृजन रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्।।
तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि। ब्रह्मरूद्रौ च भूतानि भेदेना ज्ञो अनुपश्चति।।
यथापुमान्न स्वागेषु शिरः पाण्यादिषु क्वचिद्। पारक्यबुद्धिं कुरूते एवं भूतेषु मत्परः।
त्रयाणामेक भावानां यो न पश्यति वै भिदाम। सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्मिधिगच्छति।।
(4/7/50-54)

184. यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। - भगवद् गीता 4/7

185. अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्तवतः।
कथमेतद्वि जानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।। (4-4)

186. बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्यं परंतप।। (4-5)

187. अजो अपि समव्ययात्मा भूताना मीश्वरोपिसन्।
प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवाभ्यात्ममागय।। (4-6)

188. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज भक्ति सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता 1964, पृष्ठ - 20

189. अवेतृस्त्रोर्धन् - अष्टाध्यायी 3/3/120 अवतारः कूपादेः

190. अव् रक्षणगि कान्ति प्रीति तृप्त्यवगम प्रवेश श्रवण स्वाभ्यर्थयाचन क्रियेच्छादीप्त्यवाप्स्यालिंग न हिंसादान भागवृद्धिषु। सिद्धान्त कौमुदी - धातु संख्या 600

191 मुख्यं तस्यहि कारूण्यंम्। - शाडिल्य भक्ति सूत्र - 49
तादृश करूणा जन्येच्छायां तु फलेच्छा न हेतुः - भक्ति चन्द्रिका पृष्ठ 126

192. अवतारो नाम वैकुण्ठस्थानादिहागमनम्। - तत्वार्थदीपनिबन्ध, पृष्ठ 238

अवतरणमवतारः व्यापि वैकुण्ठात् भगवतः आगमनम्।

- भागवत् 1/3/1 पर वल्लभाचार्य कृत सुबोधिनी व्याख्या

193. इच्छागृहीताभियतोरूदेह स्संसाधिता शेष जगद्दितो यः। - विष्णु पुराण 6/5/84

194. लोकवतु लीला कैवल्यम्।

लीलानाम विलासेच्छा। आनन्दे तदुल्लासेन कार्यं जननी सदृशीक्रिया क्वीचदुत्पद्यते। - भागवत् तृतीय स्कन्ध की सुबोधिनी व्याख्या।

195. (क) विभर्शि रूपायण्वबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।

सत्वोपपत्रानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्।। - भागवत् 10/2/29

(ख) हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावो द्विजोत्तम।

वाराहो नर सिंहश्च वामनो राम एव च

रामा दा शरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च।।

- महाभारत शान्तिपर्व / 339/101

196. मध्य कालीन धर्मसाधना - पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - 42

197. केशव। धृतमीनशरीर, जय जगदीश हरे - गीत गोविन्द 1/1

केशव । धृत कल्कि शरीर, जय जगदीश हरे - गीत गोविन्द 1/10

केशव । धृतद शविधरूप, जय जगदीश हरे - गीत गोविन्द 1/11

198. भागवत् - 2/7

199. अभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीरायमि विश्वोवतारीर्दासी - ऋग्वेद 6/25/2

200. यज्ञादि कर्मकृते यजमानायावतारीः विनाशाय। - ऋग्वेद 6/25/2 का सायण भाष्य

201. उपद्यामुप वेदसम् अवत्तरो नदीनाम्। अथर्ववेद 18/3/5

202. अवत्तरः अधिशयेन अवत् रक्षण समर्थः सारभूतांशो विद्यते। अवत्तर इति अब रक्षणे इत्यस्मात् लट् शत्रादेशः। ततः प्रकर्षार्थोतरप्। - अथर्ववेद 18/3/5 का सायण भाष्य

203. अवतरमव क्षुद्रमिव स्रवेत। - ऋग्वेद 1/129/6

उप ज्यन्नुप वेतसेअवतरः नदीष्वाः। - यजुर्वेद 17:6

204. पृथिव्यामुपावतर आगच्छ । - यजुर्वेद 17/6 का महीधर भाष्य

205. मनवे ह वै प्रातः। अवनेज्यमुद कमाजहुर्ययेदं तस्यानवेनि जानस्य मत्स्यः पाणी आपादे।...

... मनुरेवैकः परिशिशिषे।। - शतपथ ब्राह्मण 1/8/1/1-6

- रामायण मीमांसा, अष्टम अध्याय, पृष्ठ - 249

206. स यत् कूर्मो नाम - 7/5/1/5

207. ऊवृश्च कूर्मराजा नमकूपारे सुदासुराः।

अधिष्ठानं गिरेरस्य भवान् भवितुमर्हति।।

कूर्मेण तु तथेत्युक्त्वा पृष्ठमस्य ... निधिमप्भसाम्

(म0भा0 1/18×11-13)

208. अन्तरतः कूर्मभूतः तमब्रवीत् मम वै त्वङ्. मांसात् समभूत। नेत्यब्रवीत पूर्वभेवाह मिहासम्। इंति तत्पुरूषस्य पुरूषत्वम्। स सहस्रशीर्षा पुरूषः सहस्राक्षः सहस्रपाद् भूत्वोद तिष्ठत्। - तैत्तिरीय आरण्यक - 12/3/3

209. रामायण मीमांसा, अष्ठम् अध्याय - पृष्ठ 249-250

210. वराहेण संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय - अथर्ववेद 12/1/48

211. इतीयती हवा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जद्यान। सोअस्याः पतिः।

शतपथ ब्राह्मण 14/1/2/11

212. स वराहो रूपं कृत्वा अप्सुन्यमज्जत्। स पृथ्वीमधः आर्च्छत्। - तैत्तिरीय ब्रा0 1/1/6

213. उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना

भूमिर्धेनुर्धरणी लोकधारिणी इति। - तैत्तिरीय आरण्यक - 1/1/30

214. रामायण मीमांसा -. अष्ठम् अध्याय - पृष्ठ 250

215. त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाम्यः। - ऋग्वेद 1/22/18
यदाते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे। ऋग्वेद - 8/12/27

216. प्रविष्णवे शूषमेतुमन्म गिरिक्षित उरूगायाय वृक्षे।
य इदं दीर्घ प्रयतं संघस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः।।

- ऋग्वेद - 1/154/3

217. तैत्तिरीय संहिता ।1/1/3/1

218. वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वैनोदुर्येनो यज्ञ सम्मित दुरिति।

- शतपथ ब्राह्मण - 1/2/3/5

219. रामायण मीमांसा - अष्ठम् अध्याय - पृष्ठ 251
भागवत् सुधा, सप्तम पुष्प - पृष्ठ 250-251

220. त्रेतायुगे भविष्यामि रामोभृगु कुलोद्वहः।
क्षत्रं चोत्सादियिष्यामि समृद्ध बलवाहनम्।।...
अतिक्रान्ता पुराणेषु श्रुतास्ते यदि वा क्वचित।" - म0भा0 12/339/84-89, 100-105

221. रामायण मीमांसा, अष्टम् अध्याय - 250

222. बज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णद्रष्ट्राय धीमहि तन्नो नरसिंह : प्रचोदयात्।

- तैत्तिरीय आरण्यक 1/2/31

223. भागवत् सुधा, षष्ठम् पुष्प, पृष्ठ 213

224. सेवक एकते एक अनेक भये तुलसी तिहु ताप न डाढ़े
प्रेम बंदौ प्रहलादहिं को जिन पाहन ते परमेश्वर काढ़े।।

(कवितावली - 127)

225. प्रतद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मधवस्तु।
ये युक्त्वाय पंचशतास्मयु पथा विश्राव्येषाम्।। - ऋग्वेद 10/93/14

226. - ज्ञान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार

- शुद्ध सच्चिदानन्द कंद भानु कुल केतु

ब्रह्म सच्चिदानन्द धन रघुनायक जहं भूप।

- रामचरित मानस बालकाण्ड 8/25

227. तदु होवाच राम औपतिस्विनिः। काममेव प्राण्यात्काम मदु न्याद् यद् वै तूष्णीम् जुहोति तदेवैनं प्रजापतिं करोतीति। - शतपथ ब्राह्मण - 4/6/1/7

228. अयमहमस्मि वो वीर इति होवाच रामो मार्गवियः।

रामो हास मार्गवियोनूचानः श्यापर्णी यस्तेवां। -ऐतरेय ब्राह्मण 35/1/27

229. जैमिनीय ब्राह्मण 3/7/3/2 एवं 4/9/1/1

राम कथा, उत्पत्ति और विकास, पृष्ठ - 2-3

230. संवत्सरं न मां समश्नीयात्। न राममुपेयात्। न मृण्मयेन नास्य राम उच्छिष्टं पिबेत्। तेज एवं तत्संश्याति। - तैत्तिरीय आरण्यक 5/8/56

231. प्रवंर्ग्यानुष्ठायी संवत्स मात्रं मांसं न भक्षयेतुं। स्त्रियं न नोपेयात्। मृण्मयेन कारकादिना जलं न पिबेत्। अस्य यजमान स्योच्छिष्टं रामो रमणीयः पुत्रो ने पिबेत्। तत्तेन नियमे न स्वकीयं तेज एवं सम्यत्तीक्ष्णी करोति। तै0आ0 5/8/46 का सायण भाष्य

232. यत्सझत्वादभृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः - मानस-1 1. श्लोक 6

233. मानस - 6.4.9.

234. विनय पत्रिका - 56.6., 55.9

235. सखा परम परमारथ ऐकू। मन क्रम वचन रामपद नेहू।

मानस - द्वितीय 93.3.

236. 'राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी' - मानस, प्रथम 120.1.

231. सब कर परम् प्रकाशक जोई, राम अनादि अवधपति सोई।

जगत् प्रकाश्य प्रकाशक रामा। मायाधीश ज्ञान गुन धामा।।

मानस - प्रथम, 117.3.4.

238. भागवत् सुधा, अष्टम् पुष्प, पृष्ठ - 261.

239. भागवत् 1.3.28

240. स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती, भागवत् सुधा, अष्टम् पुष्प, पृष्ठ 261

241. भागवत् 9.11.22

242. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, भागवत् सुधा, अष्टम् अध्याय, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता - 1984, पृष्ठ - 261

243. " " " 261

244. " " " 263

245. भगवान नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।

246: एकश्रृंगो वराहस्त्वं भूतभत्य सपलजित्।।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भजः।।
सार्गधन्या हृषीकेषः पुरूषः पुरूषोत्तमः।
अजितः खग-धृग् विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः।। बाल्मीकि रामायण - 6.177. 13-15

247. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज 'भक्ति सुधा', राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता 1964, पृष्ठ - 333.

248. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, भक्ति सुधा, पृष्ठ संख्या 333

249. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, रामायण मीमांसा, श्री काशी विश्वनाथ कर्णघण्टा, वाराणसी - 1964, पृष्ठ - 5

250. 'सत्य मेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः' (वा.रा. 2/109/13)
'वेदाः सत्य प्रतिष्ठा नास्तस्मात् सत्यपरो मवेत' (वा.रा. 2/209/14)

251. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, रामायण मीगांसा पृष्ठ - 14.

252. द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वारे नद्यो अंशुमत्याः।

नभांनकृष्णमवतस्थिवांसमिश्यामि वो

वृष्णो युध्यताजौ।। - ऋग्वेद 8/96/14

253. अव द्रप्सो अंशुमती मतिष्ठदियानः कृष्णों दशभिः सहस्त्रैः।

आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहिती नृमणा अद्यत्त।।

-ऋग्वेद 8/96/13

254. मनवे शासद व्रतान्त्वचं कृष्णामरन्धवत्। - ऋग्वेद 1/130/8

2255. अधद्रप्सो अंशुमत्या उपस्थेधारयत्तन्वं तित्विषाणः।

विशो अदेवीरभ्या चरन्तीर्बृहस्यतिना युजेन्द्रःससाहे।। - व0 8/96/15

256. कृष्ण आंगिरसः - अनुक्रमणिका

कृष्ण नामागिरस ऋषिः ।- ऋग्वेद 8/85 के सायण भाष्य का उपोद्घात

257. अयं वां कृष्णो अश्विना ध्वते वाजिनीवसू।

महवः सोमस्य पतिये।। - ऋग्वेद 8/85/3

श्रृणातं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा

मध्वः सोमस्य पीतये - ऋग्वेद 8/85/4

258. युवं हि व्या पुरूभुजेममेधतुं विष्णाप्वे ददथुर्वस्य इष्टये।

तावां विश्वको हवते तनूकथे मानो वियौष्टं संख्या युमोचतम्।

- ऋग्वेद 8/86/3

259. कमद्युवं विमदायोह थुर्यवं विष्णाप्वं विश्वकायाव सृजथः - ऋग्वेद 10/65/12

260. युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय - ऋग्वेद 1/117/7

पशुं न नष्टमिव दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय - ऋग्वेद - 1/116/23

261. कृष्णो ह तदांगिरसो ब्राह्मणान् छन्दसीय तृतीयं सवनं ददर्श - कौशतकि ब्राह्मण 30/9/7

262. नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णु प्रचोदयात्।

- तैत्तिरीय आरण्यक 10/1/6

263. अथ यत्तपो दान मार्जवमहिंसा सत्य वचन मिति ता अस्य दक्षिणाः

- छान्दोग्य उपनिषद 3/17/4

264. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात ज्ञानयज्ञः परन्तप - गीता 4/33

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तृप आर्जवम्। - गीता 16/1

265. डा0 मुंशी राम शर्मा, भारतीय साधना और साहित्य पृष्ठ 139

266. अदृश्च कृष्णमहरर्जुनन्च विवर्तेते राजसी वेद्यामिः ऋग्वेद 6/9/1

267. कृष्णं रात्रिः शुक्लं चाहरर्जुनम् - निरूक्त 3/6/3-4

268. कृष्णं कृष्णवर्णं एतत्सामानाधि करण्यादहः शब्दों रात्रिवचनः

तमसा कृष्णवर्णा रात्रिः च अर्जुनं च सौरेण तेजसा शुक्लवणं अहः दिवसश्च - ऋग्वेद 6/9/1 का सायण भाष्य।

269. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः अत्राह तदुरूगायस्य वृष्णः परमं परमव भाति भूरि। - ऋग्वेद 1/154/6

270. गवामपब्रजं वृधि - ऋग्वेद 1/10/7

271. यमुनायामधि - ऋग्वेद 5/52/17

272. मृजे निराधो - ऋग्वेद 5/52/17

273. विष्णुगौपा अदाम्यः - ऋग्वेद 1/22/18

274. भक्तिः।

सोअस्येत्यनुवर्तते। भज्यते सेव्यते भक्तिः। अष्टाध्यायी

275. वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन

वासुदेवकः अर्जुनकः -अष्टाध्यायी - 4/3/98

276. गोत्रक्षत्रिया ख्येभ्यो बहुलं वुन्। - अष्टाध्यायी 4/3/99

277. किमर्थं वासुदेव शब्दाद् वुन्विधीयते न 'गोत्र क्षत्रिया ख्येम्यो बहुलं वुन' (4/3/99)

इत्येव सिद्धम ? न ह्यस्ति विशेषो वासुदेव शब्दाद् वुजो वा वुनो वाः तदेव रूपं स एव स्वरः। इदं तर्हि प्रयोजनं वासुदेव शब्दस्य पूर्वनिपातं वक्ष्यामीति। अथवा नैषा क्षत्रिसाख्या। संज्ञैषा तत्रभगवतः। - अष्टाध्यायी 4/3/98 का महाआष्य

278. नित्य परमात्मदेवता विशेष इह वासुदेवो गृह्यते इत्यर्थः।

- अष्टाध्यायी 4/3/98 पर कैय्यट की व्याख्या

279. 'सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।

ततो असौ वासुदेवेति विद्भिद्भिः परिगीयते।'

इति स्मृतेः वासुदेवः परमात्मा एव। - तत्वबोधिनी टीका

280. डा0 अग्रवाल वासुदेव शरण, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ - 350

281. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, भागवत सुधा, अष्टम पुष्प, 269

282. " " " अष्टम पुष्प, पृष्ठ 270

283. ब्रह्मण्डानि बहूनि पंकजभवान्प्रत्यण्ड मत्यद् भुतान्।

गोपान् वत्सयुतान दर्शयदजं विष्णून शेषांश्च यः।

शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्,

कृष्णो वै पृथगस्ति कोअप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा।।

- आदि शंकराचार्य, प्रबोध सुधाकर 242

284. भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।

प्रकृतेः परः परमात्मा यदुकुल तिलकः स एवायम्।।

- प्रबोध सुधाकरः 195

285. सत्य ज्ञानानन्तानन्द मात्रैकरसमूर्तयः।

अस्पृष्ट भूरिमाहात्भ्या अपि ह्युपनिषद दृशाम्।। - भागवत् 10/13/45

186. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वाती, भागवत् सुधा, अष्टम् पुष्प, 275

288. श्रीमद् भागवत् - 2.7

288. वही, 10, 3: 8, 9, 10

289. प्रवचन अनन्त श्री करपात्री जी - संकलन श्रीमती पदमावती झुनझुन वाला, भ्रमरगीत पृष्ठ - 81

290. स्वामी करपात्री जी, भक्ति सुधा - 990

291. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, करपात्री जी महाराज, भक्ति सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन, संस्थान कलकत्ता, 1964, पृष्ठ 145

292. शर्मा कृष्ण प्रसाद, अभिनव शंकराचार्य स्वामी करपात्री जी, धर्मसंघ प्रकाशन मेरठ 1988, पृष्ठ-504.

षष्ठम अध्याय

स्वामी जी का आत्म विषयक विवेचन

स्वामी जी के आत्मा सम्बन्धित मन्तव्य

आत्मा -

आत्मा धर्म-दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। विश्व के सभी धर्म आत्मा की सत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। बौद्धों का नैरात्मवाद भी इसका अपवाद नहीं है क्योंकि यह सिद्धान्त आत्मघाती होने के साथ-साथ न तो सर्वमान्य है और न ही अद्यतन। फिर, आत्मा की अमरता के बारे में भले ही विवाद हो, इसकी सत्ता को अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। जैसा कि डेकार्ट और शंकराचार्य ने दर्शाया है, इसके निषेध में ही हम इसकी सत्ता स्वीकार कर लेते हैं। दर्शन के कोरे विवाद कुछ भी हो, धर्म और नीतिशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश करने पर आत्मा के प्रति दृष्टिकोण ही भिन्न हो जाता है। ये दोनों शास्त्र आत्मा के शाश्वत स्वरूप पर टिके हैं। यह केवल नीतिशास्त्र की पूर्वमान्यता नही है बल्कि धर्म की भी है, आशंका का शमन करने के लिए मिलिन्द के अनुत्तरित प्रश्न ही प्रर्याप्त हैं। विभिन्न सन्तों एवं दार्शनिकों ने आत्मा के स्वरूप को उजागर करने का समय-समय पर प्रयत्न किया है और अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। अब हम स्वामी करपात्री जी द्वारा उद्‌भासित सत्य पर दृष्टिपात करते हैं।

करपात्री जी का आत्म-विषयक विवेचन मूलतः वेदान्ती ही है। लेकिन अपनी विलक्षण प्रतिभा के द्वारा उन्होंने इसकी विवेचना बहुत ही सरल एवं तार्किक ढंग से की है। आत्म-विषयक विवेचन का इतना खुलासा अभी तक कोई और नही कर सका है। आत्म-सिद्धान्त की विवेचना उन्होंने आत्म-रक्षा, बोध, आनन्द, स्वतंत्रता, स्वाधीनता आदि तत्वों के आधार पर की है।

संसार का प्रत्येक प्राणी अपनी आत्म-रक्षा के लिए व्यग्र रहता है। अपना अस्तित्व सर्वप्रधान है तथा इसे कोई भी आसानी से नष्ट नहीं करना चाहता। लेकिन यह अस्तित्व देह, इन्द्रिय मन या बुद्धि आदि नहीं है क्योंकि यदि हम गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो यह पायेंगे कि हम इन सबसे हटकर हैं- अपने को हम एक द्रष्टा के रूप में पाते हैं। इतनी सार्वभौम चीज को नास्तिक या अनात्मवादी भी नहीं ठुकरा सकता। वास्तव में अनात्मवादी तो कोई हो ही नहीं सकता। भला अपने ही अस्तित्व को कौन नकार सकता है?" जगत् की अनेकानेक वस्तुओं में चाहे जितना भी संदेह हो, परन्तु मैं हूँ या नहीं, ऐसा

आत्म विषयक संदेह किसी को भी नहीं होता।"(1) हम हर चीज का अभाव मान सकते हैं लेकिन आत्मा का नहीं क्योंकि उसके बिना कोई भी अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। इस तरह से करपात्री जी ने नास्तिकों एवं अनात्मवादियों को करारा जवाब दिया है। करपात्री जी के इस सिद्धान्त को पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट आदि ने भी स्वीकार किया है।

इसी तरह आत्मा का अस्तित्व ज्ञान प्राप्त करने की उत्कंठा से भी होता है। हर व्यक्ति के अन्दर बचपन से ही ज्ञान प्राप्त करने की जिजीविषा होती है। लेकिन यह ज्ञान-पिपासा कभी शान्त नहीं होती। सर्वज्ञता मनुष्य के लिए एक आदर्श ही है।" पूर्ण सर्वज्ञता कहां हो सकती है यह विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सर्व पदार्थ जिस स्वप्रकाश, अखण्ड, विशुद्ध भान (बोध) में कल्पित है, वही सर्वावभासक एवं सर्वज्ञ हो सकता है। क्योंकि प्रकाश या भान अत्यन्त असंग एवं निरवयव और अनन्त है। उसका दृश्य के साथ सिवा आध्यासिक सम्बन्ध के और संयोग समवाय आदि सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। अतः यदि सर्वज्ञ होने की वान्छा है तो सर्वावभासक, सर्वाधिष्ठान, विशुद्ध, अखण्ड बोध होने की ही वान्छा है।... और यह अबाध्य, अखण्ड बोध भी सबका अन्तरात्मा है।"(2)

आनन्द की खोज प्राणिमात्र में सार्वभौम है। सभी शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं का मूल उत्स आनन्द ही है। आनन्द क्रियाशीलता की जननी है। लेकिन भ्रमवश कुछ लोग आनन्द के असली स्वरूप को समझ नहीं पाते और कंचन - कामिनी आदि भौतिक विलासिता को ही आनन्द समझने लगते हैं। लेकिन यह गलत है क्योंकि ये वस्तुएं क्षणिक हैं, इनसे कभी नित्य आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। आनन्द का नित्य स्रोत तो आत्मा ही है। "जो लक्षण आनन्द का, वही अन्तरात्मा का भी है। जैसे सब कुछ आनन्द के लिए प्रिय है, आनन्द और किसी के लिए प्रिय नहीं, ठीक वैसे ही समस्त वस्तु आत्मा के लिए प्रिय होती है, आत्मा किसी दूसरे के लिए प्रिय नहीं होता।(3) अतः अन्तरात्मा ही आनन्द है और वही निरतिशय, निरूपाधिक परम प्रेम का आस्पद है।"(4)

प्राणियों में स्वतंत्रता की सार्वभौम चेतना होती है। इसी सार्वभौम चेतना के कारण ही स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है। दिनों दिन हम हर क्षेत्र में स्वतंत्र चेता होते जा रहे हैं। मानवता के इतिहास में स्वतंत्रता को कुलचने के जितने भी प्रयास किये गये सभी असफल रहे। ऐसे प्रयास भविष्य में भी कभी सफल नहीं हो सकते क्योंकि स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति वास्तव में हमारे आत्मा की अभिव्यक्ति है

और आत्मा को कभी बांधा या कुचला नहीं जा सकता। इसी तरह प्राणिमात्र के अन्दर जो आधिपत्य एवं स्वाधीनता की जन्मजात प्रवृत्ति होती है वह भी हमारी आत्माभिव्यक्ति ही है।

इस तरह हम देखते हैं कि जीवन की हर क्रिया के मूल में आत्मा का अस्तित्व किसी न किसी रूप में उद्‌भासित होता है। करपात्री जी ने आत्मा के अस्तित्व को इतने अकाट्य तर्कों से सिद्ध किया है कि इतना विवादास्पद विषय होते हुए भी इसका प्रतिरोध असम्भव सा लगता है।

'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तक में चार्वाक मत प्राय मार्क्स के मत का खण्डन करने के लिए आत्म स्वरूप पर विचार किया गया है। ज्ञान भौतिक है या अभौतिक ? इस सम्बन्ध में मार्क्स और उनके अनुयायियों ने बहुत विचार किया है। अतः ज्ञान को अभौतिक सिद्ध करके अद्वैत वेदान्त के अनुसार उसे ही आत्मा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। उसी प्रसंग से अहमर्थ के अनात्मत्व का वर्णन आ गया है। वस्तुतः मार्क्स अभिमत आत्मा के निराकरण में तो सभी मस्तिष्क एकमत हैं। नैयायिक, वैशेषिक, पूर्व मीमांसक, सांख्य, योग, उत्तर मीमांसक, द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, द्वैताद्वैती सभी देहात्मवाद के खण्डन में एकमत हैं। यहां तक कि बौद्ध, जैन भी देहात्मवाद का निराकरण करते हैं। वेद, पुराणेतिहास, तंत्र, आगमादि का प्रामाण्य मानने वाले सभी आस्तिक कार्य कारण संघात से भिन्न आत्मा मानते ही हैं। अनेक सम्मान्य ज्ञानी एवं भगवद्‌भक्त आचार्यों ने ज्ञाता अहमर्थ को ही आत्मा माना है और इस सिद्धान्त के अनुसार भी अपरिगणित महापुरूष स्वाभिमत अभ्युदय निःश्रेयस के भागी हुए हैं। अतः 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तक का आपसी खण्डन-मण्डन में सर्वथा अभिप्राय नहीं है। फिर भी कुछ विद्वानों द्वारा अहमर्थ के अनात्मत्व सम्बन्ध में शंकायें उठायी हैं, उसी के लिए यहां पृथक् रूप से आत्म स्वरूप पर कुछ विचार किया जायेगा। वस्तुतः अद्वैती भी ज्ञाता अहमर्थ को आत्मा मानते हैं। सम्पूर्ण लौकिक वैदिक व्यवहार उसी से चलता है। हां, यह भेद अवश्य है कि अद्वैती सोपाधिक ज्ञाता आत्मा को अहं का वाच्यार्थ मानते हैं एवं शुद्ध, नित्य निरतिशय ज्ञान के अर्थ को लक्ष्यार्थ मानते हैं किन्तु अहमर्थ आत्मा उन्हें भी मानना है ही। सोपाधिक ज्ञाता अहं का वाच्यार्थ है और व्यवहार दशा में वही आत्मा है। व्यवहारातीत परमार्थ दशा में उससे भी सूक्ष्म, कूटस्थ, निर्विकार, असंग, अनन्त चित्स्वरूप आत्मा है यह भी उन्हें मान्य है। ये सभी विचार विभिन्न महापुरूषों परमाचार्यों के हैं। अतः उनको समझने विचारने का प्रयत्न करना बुरा नहीं है।(5)

संविद् या आत्मा -

कुछ लोगों का विचार है कि "संवित् या आत्मा" नही है, क्योंकि उसमें अहं बुद्धि नहीं होती, जहां पुरूष को अहं बुद्धि होती है वही प्रत्यक आत्मा होता है, वह अहमर्थ है। जिसमें अहं बुद्धि नहीं होती वह घटादितुल्य पराक् और अनात्मा है।" स्वामी करपात्री जी के अनुसार 'यह ठीक नहीं है क्योंकि अहं मनुष्यः, अहं काणः इत्यादि रूप से देहादि में भी अहं बुद्धि होती है, फिर क्या देहादि को आत्मा माना जायेगा? यदि कहा जाय कि विद्वान की जहां अहं बुद्धि होती है वह आत्मा है तो यह भी पक्ष ठीक नही है। देहादि को आत्मा मानने वाले बौद्धादि भी तो विद्वान ही है। यदि यह कहा जाये कि वेदान्त शास्त्रज्ञों की जहां आत्मबुद्धि हो वही प्रत्यगात्मा है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्त सम्प्रदायविदों की तो निर्विकार नित्य संविद् में ही अहं बुद्धि होती है, फिर तो संविद् को प्रत्यगात्मा मानना उचित है। जो लोग कहते हैं कि हम लोग वेदान्तविद हैं परन्तु संविद् में आत्मबुद्धि नही है तो यही कहना होगा कि सम्प्रदाय प्राप्त वेदान्तार्थबोध की शून्यता ही इसका कारण है।(6)

यह शंका भी उठाई जाती है कि वेदान्त में संविद् को आत्मा कही नही कहा गया है पर यह कहना ठीक नहीं है ऐसा स्वामी जी का मत है वे स्पष्ट करते हैं कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मम्' इत्यादि वचन स्पष्ट ही सत्य ज्ञान को ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। ज्ञान और संविद् एक ही वस्तु है 'मनोमयोयं भारूप. तेजोमयो मृतमयः' यहां सर्वतेज या आदि सविद् के ही बोधक शब्द हैं। तेज आदि शब्द लौकिक प्रकाश के वाचक नहीं हैं क्योंकि उसे श्रुतियों में अशब्द, अस्पर्श, अरूप इत्यादि कहा गया है।(7)

"श्रुति, स्मृति, सूत्र आत्मा को ज्ञाता ही कहते हैं ज्ञप्तिरूप नही कहते" इसका उत्तर स्वामी जी देते हुए कहते हैं कि "विचार ये करना चाहिए कि क्या श्रुत्यादि व्यवहार दशा में आत्मा को ज्ञाता कहते हैं या परमार्थ दशा में। व्यवहार दशा में तो आत्मा का ज्ञातृत्व इष्ट ही है। अन्तःकरणा वच्छिन्न चैतन्य प्रमाता व्यवहार पर्यन्त रहता ही है। परमार्थ दशा में ज्ञेय प्रपन्च का अस्तित्व ही नहीं रहता फिर ज्ञातृत्व भी कैसे ठहर सकेगा। जो कहते हैं उस समय भी द्वैत रहता है उनके मत में अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध स्पष्ट है। द्वैत प्रतिपादक श्रुतियों का व्यवहार दशा में समन्वय हो ही जाता है।' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मं' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार विज्ञप्ति रूप ही आत्मा है यह स्पष्ट है। यदि कहा जाय ब्रह्मा भले ज्ञप्ति मात्र हों परन्तु आत्मा वैसा नही है, पर उन्हें यह जानना चाहिए कि आत्मा ही ब्रह्मा है।(8)

आत्मा और अहम् - इस विषय से सम्बन्धित विद्वानों में बड़े मतभेद हैं। कतिपय विद्वानों ने स्वामी करपात्री जी के समक्ष अपनी शंकाए रखी कि "अहं प्रत्यय सिद्ध अस्मदर्थ एव युष्मत् प्रत्यय विषय युष्मदर्थ होता है, अतः 'अहं जानामि' इस सिद्ध ज्ञाता को युष्मदर्थ कहना वैसा ही असंगत है जैसे अपनी माता को बन्ध्या कहना।"(9) स्वामी जी कहते हैं कि यह ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि 'युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचरयोः इत्यादि स्थलों में अस्मद् शब्द लक्षणा से शुद्ध प्रत्यक्तत्व में और युष्मद् शब्द केवल पराक् अनात्मा इदमर्थ में ही प्रयुक्त है। अहं बुद्धि विषय वस्तु से इदं बुद्धि विषय भिन्न होता है, यह सभी जानते हैं। परन्तु अहं बुद्धि विषय क्या है? इदं बुद्धि विषय क्या है? इस विषय में विप्रतिपति होती है। यहां यह विचार करना चाहिए कि देह इदं बुद्धि का विषय है या अहं बुद्धि का? यदि पहला पक्ष मानें तो 'स्थूलोडहं' ऐसी प्रतीति न होनी चाहिए। यदि दूसरा पक्ष कहें तो 'ममायं देहः स्थूलः' अर्थात् मेरा यह स्थूल देह है ऐसी प्रतीति न होनी चाहिए। दोनों बुद्धियों का विषय माना जाये यह भी ठीक नहीं क्योंकि दोनों बुद्धियां परस्पर विरूद्ध हैं। अतः देह को दो में से किसी एक बुद्धि का विषय कहना पड़ेगा। इसलिए स्थूलोहं इत्यादि प्रतीति को भ्रम ही मानना उचित है। इसी तरह इन्द्रिय प्राण मन बुद्धि भी इदं प्रत्यय के ही विषय है। इनमें 'अहं काणः पश्यामि, जानामि' इत्यादि प्रतीतियां भ्रान्तिभूत ही है इस तरह 'कृशोहं गच्छामि, पश्यामि' इत्यादि प्रतीतियां भ्रान्तिभूत ही है। इस तरह 'कृशोहं गच्छामि, पश्यामि' इत्यादि अहं प्रत्ययसिद्ध कृश, गन्ता दृष्टा आदि पदार्थ क्या अस्मद् शब्दार्थ है या युष्मद् शब्दार्थ? पहले पक्ष में स्पष्ट ही देहाद्यात्मवाद का प्रसंग होगा। यदि दूसरा पक्ष मान्य होगा तब भी व्याघात ही होगा क्योंकि अहं प्रतीति होने पर भी युष्मदर्थ कहना विरूद्ध ही है। तस्मात् कहना यही कहना ठीक है कि. जैसे रज्जु को सर्प एवं सर्प को रज्जु भ्रान्ति से समझा जाता है वैसे ही अस्मदर्थ को युष्मत् प्रत्यय विषयत्वेन और युष्मदर्थ को अस्मद् प्रत्यय विषयत्वेन भ्रान्ति से ग्रहण किया जाता है। अतः जैसे अहं कृशः यह भ्रान्ति है वैसे ही अहं, ज्ञाता यह भी भ्रान्ति ही है।(10)

स्वामी जी ने अहं शब्द का प्रयोग आत्मा में लक्षण से ही बतलाया है। अतएव अहंकारोपक्षाक्षितं कहा गया है। वैसे आत्म ब्रह्म आदि शब्दों की भी शुद्ध ब्रह्म या आत्मा में लक्षणा से ही प्रवृत्ति होती है। इस तरह यदि अहं शब्द आत्मवाची माना जाय तो भी अहं शब्द का वाच्य आत्मा नहीं हो सकता है। पूर्व के भी सभी कथनों का भी यही सार था कि शुद्ध आत्मा अहं शब्दवाच्य अर्थ नहीं है। अहं का

लक्ष्यार्थ रूप अहमर्थ आत्मा तो हो सकता है परन्तु इससे भी प्रतिवाद पक्ष नही सिद्ध होता है। इसमें जीव ब्रह्म की एकता एवं आत्मा चिन्मात्र रूप अकर्ता अभोक्ता नित्य ब्रह्मस्वरूप है। वस्तु स्वरूप में कोई अन्तर नहीं, नाम मात्र में विवाद का कुछ अर्थ नही होता है। यदि कोई शून्य आदि शब्दों से भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अद्वैत, अखण्डबोध आत्मा को स्वीकार करें तो सिद्धान्त में कोई हानि नहीं होती है।(11)

स्वामी जी आत्मा को कर्ता, भोक्ता, सुखी, दु:खी नाना, अनेकानर्थपरिप्लुत इत्यादि बताने या जानने वाले के विषय में कहते हैं कि वे भ्रम के वशीभूत होने के कारण ऐसा कहते हैं और उनके भ्रम को दूर करने के लिए स्फटिक और जवाकुसुम का उदाहरण देते हैं कि 'जैसे स्फटिक के स्वच्छ होते हुए भी जवाकुसुम के सन्निधान से (जवाकुसुम की रक्तता स्फटिक में उपसंगक्रान्त होने के कारण) रक्तः स्फटिकः, स्फटिक रक्त है यह प्रतीति होती है, पर वस्तुतः स्फटिक रक्त नही है, वैसे ही देह इन्द्रियों आदि कार्य कारण के संघात् के सन्निधान से आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की प्रतीति होती है, वस्तुतः आत्मा अकर्ता, अभोक्ता, असुखी, अदुःखी, नित्य, एकरस, शुद्ध-बुद्ध, मुक्त एवं सत्य स्वभाव है।(12)

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

1. स्वामी करपात्री जी, सर्वसिद्धान्त समन्वय, केदारघाट काशी, 1985, पृष्ठ - 35
2. वही, पृष्ठ - 36
3. वृहदारण्यक उपनिषद
4. स्वामी करपात्री जी, सर्वसिद्धान्त समन्वय, केदारघाट - काशी, 1985, पृष्ठ - 37
5. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, अहमर्थ और परमार्थसार, बड़का राजपुर - आरा, प्रथम संस्करण, 1962, पृष्ठ - 1-2
6. वही, पृष्ठ - 4
7. वही, पृष्ठ - 3
8. वही, पृष्ठ - 6
9. वही, पृष्ठ - 6
10. वही, पृष्ठ - 7
11. वही, पृष्ठ - 13
12. शर्मा कृष्ण प्रसांद, अभिनव शंकर स्वामी करपात्री जी धर्मसंघ, प्रकाशन स्वामी पाड़ा मेरठ, 1988, पृष्ठ - 226

सप्तम अध्याय

श्री विद्या प्रचार में स्वामी जी योगदान और उनके द्वारा श्री विद्या मंत्र भाष्य का विवेचन

धर्मसम्राट स्वामी श्री करपात्री जी महाराज को अभिनव शंकराचार्य कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी। आपके अपार वैदुष्य के साथ सहजता, निरभिमानता, कठोर साधना, त्याग, वैराग्य, दृढ़ निष्ठा आदि सद्‌गुण आपके वैलक्षण्य को को सुतरां स्पष्ट करते थे। यतीन्द्र प्रमुख स्वामी जी महाराज के अपूर्व प्रभाव से सभी प्रभावित थे। यहां तक कि उनके विपक्षी भी उनकी प्रशंसा करते देखे सुने जाते थे। सनातन धर्म की धुरी थे वे, वेद शास्त्रों के प्रबल समर्थक तो थे ही किन्तु वेदशास्त्रानुमोदित प्रत्येक ग्रन्थ को वे प्रमाण मानते थे। श्री आचार्य चरण का कहना था कि वेद से लेकर हनुमान चालीसा तक हमारे प्रमाण ग्रन्थ हैं। कलियुग में धर्मयुग का प्रवर्तन करने वाले आचार्य करपात्री स्वामी भगवान शंकराचार्य ही पुनः अवतरित हुए हों ऐसा प्रतीत होता है।

"श्री शंकराचार्य नवावतारं विद्वद्वरेण्यन्च यतीन्द्रमुख्यम्।
कलौ युगे धर्मयुग प्रवर्तक वन्दे सदा श्री करपात्रिणं गुरूम्।।

आपके विराट व्यक्तित्व, विशाल ज्ञानराशि, जीवन की विविधताओं की थाह पाना अत्यत्न दुष्कर था। स्वामी जी गम्भीर सूक्ष्म गहन ज्ञान तथा अप्रतिम प्रतिमा आपके अनुपम साहित्य से सहज प्रस्फुटित हुई है। इसमें कोई दो मत नहीं कि आपके अमूल्य ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के जगमगाते हुए रत्न है। निर्गुण ब्रह्म में निष्णात होते हुए भी आप भक्ति सरिता में सदा निमन्जन किया करते थे। आपके प्रवचनों में जहां एक ओर ज्ञान गंगा प्रवाहित होती थी तो दूसरी ओर भगवद्‌भक्ति की अपूर्व मधुरिमा का निर्झरण होता था। इसी के फलस्वरूप पराम्बा में आपकी अपार भक्ति थी।

एतावता भक्तिभावितान्तःकरण पूज्य चरण मातृशक्ति के अनन्योपासकं साधक ही नही सिद्ध थे। जहां एक ओर भगवच्चरणों में आपका छलकता हुआ प्रेम दृष्टिगोचर होता था। वहीं शिवशक्ति के समाराधक पू0 स्वामी जी महाराज सूर्योपासक भी थे। वर्णाश्रम मर्यादा के अनुसार पंचदेवोपासना (गणपति, गौरी, शिव, सूर्य, लक्ष्मीनारायण के मूर्त रूप थे। अतः कट्टर वैदिक सनातन धर्म के अनुपालक के रूप में करपात्री जी का वर्णन करते हुए मुझे गर्व का अनुभव हो रहा है लेकिन आपको शाक्त कहा जाये या शैव, वैष्णव कहा जाये या गाणपत्य अथवा सौर्य कुछ कहा नहीं जा सकता आपका स्वरूप साधना आराधना अकथनीय है।

यह ध्रुव सत्य है कि आचार्य चरणों ने अनुग्रह पूर्वक धर्म, दर्शन, भक्ति, साहित्य, राजनीति एवं विविध विध विषयों पर अपनी अद्भुत लेखनी द्वारा परिष्कृत, परिमार्जित साहित्य देकर आध्यात्मिक जगत में अपना अपूर्व योगदान दिया है किन्तु आश्चर्य तो यह है कि उपासना व तंत्रशास्त्र भी आपसे अछूते नहीं हैं। उपासना की आप सजीव मूर्ति थे। अनुष्ठान जप योग द्वारा आपने स्वयं भगवती पराम्बा श्री विद्या की कठोर साधना करके राजराजेश्वरीमहात्रिपुर सुन्दी ललिताम्बा की कृपा प्राप्त की थी। इसी के फलस्वरूप आपने इस आधुनिक युग में भी इस गुप्त रहस्मयी श्री विद्या का सांगोपांग वर्णन करके श्री विद्या के आराधकों, साधकों का दुष्कर मार्ग अत्यन्त सुकर कर दिया है।

इस विषय से सम्बन्धित स्वामी जी का मत था कि षोडशाक्षरी श्रीविद्या अत्यन्त गोपनीय है शास्त्रानुसार पुत्रदारा धनकादिक प्रियतम वस्तु देनी पड़े तो दे दें यहां तक कि राज्य, या अपना मस्तक (प्राण) तक दे देना चाहिए किन्तु षोडशाक्षरी महाविद्या अनधिकारी को नहीं देनी चाहिए। इस मर्यादा की तथा इस विद्या की रक्षा करते हुए स्वामी करपात्री जी ने श्री विद्या को लुप्तप्राय नहीं होने दिया।

श्री विद्या की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु अपने प्रमुख ग्रन्थों श्री त्रिपुरसुन्दरी वरिवस्या, श्रीविद्यारत्नाकर द्वारा तंत्रशास्त्र जगत् में अभूतपूर्व योगदान दिया है जिसे सदा स्मरण किया जायेगा।

श्रीविद्या का अनादित्व -

जिस प्रकार वेदों का अनादित्व अपौरूषेय सनातनधर्म में परम्परागत श्रुतियों द्वारा मान्य (प्रमाणिक) है ठीक उसी प्रकार वेद सम्बन्धित वेदानुमोदित होने के कारण श्री विद्या का अनादित्व स्वामी जी द्वारा स्वीकृत है। वेदों के ज्ञान भाग उपनिषद इसका साक्ष्य वहन कर रही हैं। जिनमें त्रिपुरोपनिषद, त्रिपुरातापिनी तथा श्री विद्यातारक प्रुमख हैं।

"श्रीविद्या" शब्द श्रीत्रिपुरसुन्दरी के मन्त्र तथा उसके अधिष्ठात्री देवता दोनों से ही सम्बन्धित हैं। श्री शब्द का अर्थ साधारणतया लक्ष्मी ही प्रसिद्ध है किन्तु हारिताय न संहिता, ब्रह्माण्डपुराणोत्तर खण्ड आदि पुराण इतिहासों' की कथाओं पर दृष्टिपात करने पर हम 'श्री' शब्द का मुख्य अर्थ महात्रिपुर सुन्दरी ही पाते हैं। श्री महालक्ष्मी महात्रिपुर सुन्दरी की परम् उपासिका थी जिसके फलस्वरूप

उन्हें अनेक वरदानों की प्राप्ति हुई जिसमें एक वरदान 'श्री' शब्द से ख्याति प्राप्ति का भी था, तबसे श्री शब्द का अर्थ महालक्ष्मी माना जाने लगा। कहने का तात्पर्य है कि श्री शब्द का जो अर्थ महालक्ष्मी माना जाता है वह गौण है। मूलतः तो श्री शब्द महात्रिपुर सुन्दरी की प्रतिपादिका विद्या-मंत्र ही 'श्रीविद्या' है।

"सामान्यतः 'श्री' शब्द श्रेष्ठता का बोधक है। श्रेष्ठ पुरूषों के नामों के पहले 'श्री', 1008 श्री, अनन्त श्री शब्द का प्रयोग किया जाता है। परब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है। ब्रह्मकलाश के रहने की सूचना ही 'श्री' शब्द द्वारा होती है। जिनमें अंशतः ब्रह्म कला प्रकट होती है वे ही 'श्री' शब्दपूर्वक तत्तनामों से व्यवहृत होते हैं, जैसे - श्री विष्णु, श्री शिव, श्री काली, श्री दुर्गा, श्री कृष्ण आदि। सर्वकारणभूता आत्म शक्ति त्रिपुरेश्वरी साक्षात् ब्रह्मस्वरूपिणी होने के कारण केवल 'श्री' शब्द से ही व्यवहृत होती है। 'सा हि श्रीरमृता सताम्' आदि श्रुति भी इसी परब्रह्मस्वरूपिणी विद्या की स्तुति करती है।

शास्त्रों में कहा गया है कि विभिन्न देवताओं की आराधना करने से पशु, पुत्र, धन, धान्य, स्वर्ग आदि फल प्राप्त होते हैं किन्तु श्री विद्या के उपासकों को लौकिक फल तो मिलते ही हैं, तरति शोक मात्मवित्' इस फलश्रुति के अनुसार आत्मज्ञानी को प्राप्त होने वाली शोकोत्तीर्णतारूप फल भी निश्चित रूप से प्राप्त होता है। जैसा कि आथर्वण देव्युपनिषद् में कहा गया है -

"पाशांकुशधनुर्वाणा, य एनां वेद स शोकं तरति, स शोकं तरति।' इस प्रकार श्री विद्या और ब्रह्मविद्या दोनों का फल एक होने से निर्विवाद सिद्ध है कि "श्रीविद्या" ब्रह्मविद्या ही है।(1)

'सर्वं शाक्तमजीजमत्' इस वेद वाक्य के अनुसार समस्त विश्व ही शक्ति से उत्पन्न है। शक्ति के द्वारा ही अनन्त ब्रह्माण्डो का पालन पोषण और संहारादि होता है। ब्रह्मा, शंकर, विष्णु अग्नि, सूर्य, वरूण आदि देव भी उसी शक्ति से सम्पन्न होकर स्व- स्वकार्य करने में सक्षम होते हैं। प्रत्यक्ष रूप से सब कार्यों की कार्यरूपा भगवती ही है। देवी भागवत में कहा गया है -

शक्तिकरोति ब्रह्माण्ड सा वै पालयते अखिलम
इच्छया संहरत्येषा जगदेतच्चाराचरम्।।
न विष्णुर्न हरः शक्रो न ब्रह्म न च पावकः।
न सूर्यो वरूणः शक्तः स्वे-स्वे कार्ये कथनन्च।।

तया युक्ता हि कुर्वन्ति स्वानि कार्याणि ते सुराः।
कारणं सैव कार्येषु प्रत्यक्षणावगम्ये।। (2)

अतः समस्त साधनाओं का मूलभूत शक्ति उपासना का क्रम आदि काल से चला आ रहा है। स्वर्गादिनिवासी देवगण एवं ब्रह्मविद् वरिष्ठ ऋषि महर्षियों ने भी शक्ति उपासना के बल से अनेक लोक कल्याणीकारी विलक्षण कार्य किए हैं। निगम-आगम, स्मृति पुराण आदि भारतीय सस्कृत वाड्मय में शक्ति उपासना की विविध विद्याएं प्रचुर रूप से उपलब्ध है। इनमें सर्वश्रेष्ठ स्थान है श्री विद्या साधना का।

भारतवर्ष की यह परम् रहस्यमयी सर्वोत्कृष्ट साधना प्रणाली मानी जाती है। ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म आदि समस्त साधना प्रणालियों का समुच्चय ही श्री विद्या है। ईश्वर के नि.श्वासभूत होने से वेदों की प्रामाणिकता है तो शिवप्रोक्त होने से आगमशास्त्र - 'तंत्र' की भी प्रमाणिकता है। अतः सूत्र रूप से वेदों में एवं विशद रूप से तंत्र शास्त्रों में श्रीविद्या - साधना के क्रम का विवेचन है। शिव प्रोक्त चौसठ वाममार्गीय तंत्रों में ऐहिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिए विविध साधनाओं का वर्णन है श्री विद्या धर्म, अर्थ काम इन तीन पुरूषार्थों सहित परम् पुरूषार्थ मोक्ष को भी देने वाली है।

श्री विद्या का स्वरूप -

सांसारिक सकल कामनाओं के साधक चतुःषष्टितंत्रों का प्रतिपादन कर देने के बाद पराम्बा भगवती पार्वती ने भूतभावन विश्वनाथ से पूछा - 'भगवन् । इन तंत्रों की साधना से जीव के अधिव्याधि, शोक-सन्ताप, दीनता-हीनता आदि क्लेश तो दूर हो जायेंगे, किन्तु गर्भवास और मरण के असह्य दुःखों की निवृत्ति तो इनसे नहीं होगी। कृपा करके इस दुःख की निवृत्ति या मोक्षरूप परम्पद की प्राप्ति का भी कोई उपाय बताइये। परमकल्याणमयी पुत्रवत्सला पराम्बा के साग्रह अनुरोध पर भगवान शंकर ने इस श्रीविद्या साधना-प्रणाली का प्राकट्य किया। इसीं प्रसंग को आचार्य शंकर भगवत्पाद 'सौन्दर्य लहरी' में इन शब्दों में प्रकट करते हैं -

चतु.षष्टया तन्त्रै सकलमति संधाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धि प्रसव परतंत्रैः पशुपतिः।

पुनस्त्वंन्निर्बन्धादखिल पुरूषार्थैकघटना -

स्वतंत्रं ते तन्त्रं क्षितितिलम वातीतरदिदम्।।(3)

पशुपति भगवान शंकर वाममार्ग के चौसठ तन्त्रों के द्वारा साधकों की जो-जो स्वाभिमत सिद्धि हो उन सबका वर्णन कर शान्त हो गये। फिर भी भागवती । आपके निर्बन्ध अर्थात् आग्रह पर उन्होंने सकल पुरूषार्थों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्रदान करने वाले इन श्री विद्या साधना तंत्र का प्राकट्य किया।(4)

श्रीमत् शंकराचार्य 'सौन्दर्यलहरी' में मंत्र-यत्र आदि साधना प्रणाली का वर्णन करते हुए विद्याओं के ज्ञान से विद्यापतित्व एवं धनाढयता से लक्ष्मी पतित्व को प्राप्त कर ब्रह्मा एवं विष्णु के लिए 'सपत्न' अर्थात् अपरपति - प्रयुक्त असूया का जनक हो जाता है। वह अपने सौन्दर्यशाली शरीर से रतिपति काम को भी तिरस्कृत करता है एवं चिरंजीवी होकर पशुपाशों से मुक्त जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त होकर 'परमानन्द' नामक रस का पान करता है।(5)

बाल त्रिपुरसुन्दरी त्र्यक्षरी, पन्चदशी, षोडशी, महाषोडशी के क्रम से चारों का उत्तरोत्तर महत्व है। ब्रह्मविद्या ही श्रीविद्या है। इसके तीन रूप है - मंन्त्रात्मक, यन्त्रात्मक एवं विग्रहात्मक। पचदशी षोडशी, महाषोडशी ही उनका मन्त्रात्मक रूप ही श्री चक्र है। जिसके आराधन मात्र से सर्वसिद्धिया हस्तगत होती है। श्री चक्र के दर्शन मात्र का अद्भुत फल है फिर पूजन, अर्चन, सम्यक्, आराधन के फल का वर्णन कौन कर सकता है। करोड़ों तीर्थस्नान के फल का प्रदाता मात्र श्री चक्र का पादोदक है-

"तीथस्नान सहस्रकोटि फलदं श्रीचक्रपादोदकम्।"

जिनके दर्शन पादोदक में यह सामर्थ्य है कि वह सद्यः भुक्ति-मुक्ति प्रदान करते हैं अतः सर्वजन कल्याणार्थ स्वामी श्री करपात्री जी ने इसे सुलभ कर दिया तथापि श्री विद्या पद्धति मात्र ग्रन्थैक गम्य नही गुरूमुखात् श्रव्य है। दीक्षित साधकों के आराधनाक्रम ज्ञानार्थ तथा जिज्ञासुओं, ज्ञान पिपासुओं की जिज्ञासा ज्ञानपिपासा शमनार्थ अवश्य ही पूज्य स्वामी करपात्री जी के ग्रन्थ तंत्रशास्त्र की अमूल्य निधि है।

श्रीविद्या की साधना में एक वैशिष्ट्य यह भी दृष्टिगोचर है कि श्री सुन्दरी सेवन तत्पर साधकों को भुक्ति-मुक्ति दोनों ही सुलभ है क्योंकि जिसे मोक्ष प्राप्त है भोग नही तथा जिसे भोग प्राप्त है मोक्ष

नहीं, किन्तु त्रिपुर सुन्दरी के आराधकों को भुक्ति-मुक्ति दोनों हस्तगत हो जाती है।

राजराजेश्वरी महात्रिपुर सुन्दरी पंचप्रेतासन पर विराजती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईश्वर और सदाशिव पंचमहाप्रेत है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और ईश्वर भगवती के महासिहासन के चार पाद है। सदाशिव फलक हैं उन्हीं पर महाकामेश्वर के अंक में महाकामेश्वरी विराजमान रहती है। यह ध्यान क्रम है। भगवती कामेश्वरी की चार भुजाओं में पाश, अंकुश, इक्षुधनु और पंचपुष्प बाणों का जो उनके आयुध है ध्यान किया जाता है, पाश, इच्छाशक्ति, अंकुश ज्ञानशक्ति, बाण और धनुष क्रियाशक्ति स्वरूप है।

स्वामी करपात्री जी की मान्यता है कि अनन्तकोटि ब्राह्माण्डात्मक प्रपंच की अधिष्ठानभूता सच्चिदानन्द रूप भगवती ही सम्पूर्ण विश्व को सत्ता, स्फूर्ति तथा सरसता प्रदान करती है विश्व प्रपंच उन्हीं में उत्पन्न होता है, स्थिव होता है अन्त में उन्हीं में लीन हो जाता है जैसे दर्पण में आकाश मण्डल, मेघमण्डल, सूर्य-चन्द्र मण्डल, नक्षत्रमण्डल, भूधर, सागरादि प्रपन्च प्रतीत होता है, दर्पण को स्पर्श करके देखा जाये तो वास्तव में कुछ भी नही उपलब्ध होता, वैसे ही सदानन्दस्वरूप महाचिति भगवती में सम्पूर्ण विश्व भासित होता है जैसे दर्पण के बिना प्रतिबिम्ब का भान नहीं, दर्पण के उपलम्भ में ही प्रतिबिम्ब का उपलम्भ होता है, वैसे ही अखण्ड नित्य, निर्विकार, महाचिति में ही, उसके अस्तित्व में ही, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयादि विश्व उपलब्ध होता है। भान न होने पर भास्य के उपलम्भ की आशा ही नहीं की जा सकती।

सामान्य रूप से तो यह बात सर्वमान्य है कि प्रमाणाधीन ही किसी भी प्रमेय की सिद्धि है, अतः सम्पूर्ण प्रमेय में प्रमाण कवलित ही उपलब्ध होता है। प्रमाता प्रमाण एवं प्रमेय से अन्योन्य की अपेक्षा रखते हैं। प्रमाण का विषय होने से ही कोई वस्तु प्रमेय हो सकती है। प्रमेय को विषय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति प्रमाण कहला सकती है। प्रमेय विषयक प्रमाण का आश्रय अन्तःकरणावछिन्न चैतन्य ही प्रमाता कहलाता है। प्रमात्राश्रित प्रमेयाकार वृत्ति को ही प्रमाण कहा जाता है परन्तु इन सबकी उत्पत्ति, स्थिति, गति का भासक नित्य बोध आत्मा है। वही साक्षी एव वही ब्रह्म कहलाता है। यद्यपि वह स्त्री, पुमान, अथवा नपुंसक नहीं है, तथापि चिति, भगवती आदि स्त्रीवाचक शब्दों से व्यवहृत होता है। वस्तुतः स्त्री, पुमान् नपुंसक इन सबसे पृथक् होने पर भी तादृक-तादृक शरीर सम्बन्ध से या वस्तु सम्बन्ध से वही अचिन्त्य, अव्यक्त, स्वप्रकाश सच्चिदानन्द स्वरूपा महाचिति भगवती ही आत्मा, पुरूष, ब्रह्म

आदि शब्दों से ही व्यवहृत होती है।

मायाशक्ति का आश्रयण करके वही त्रिपुरसुन्दरी भुवनेश्वरी, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम, गणपति, सूर्य आदि रूप में भी प्रकट होती है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, त्रिशरीर रूप त्रिपुर के भीतर रहने वाली सर्वसाक्षिणी चिति ही त्रिपुरसुन्दरी है। उसी मायाविशिष्ट तत्व के जैसे राम-कृष्णादि अन्यान्य अवतार होते हैं, वैसे ही महालक्ष्मी, महासरस्वती, महागौरी आदि अवतार होते हैं। यद्यपि श्री भगवती नित्य ही है, तथापि देवताओं के कार्य के लिए वह समय-समय पर अनेक रूप में प्रकट होती है। वह जगन्मूर्ति नित्य ही है, उसी से चराचर प्रपन्च व्याप्त है, तथापि उसकी उत्पत्ति अनेक प्रकार से होती है।(6) इस प्रकार श्री त्रिपुर सुन्दरी ही ब्रह्म है क्योंकि उनसे ही प्रकृति पुरूषात्मक जगत् उत्पन्न होता है।(7)

श्रीविद्या के प्राचीन आचार्य -

द्वादश सम्प्रदाय के अनुसार श्री विद्या के बारह प्राचीन उपासक प्रसिद्ध हैं - (1) मनु, (2) चन्द्र, (3) कुबेर, (4) लोपामुद्रा, (5) मन्मथ (कामदेव), (6) अगस्त्य, (7) अग्नि, (8) सूर्य, (9) इन्द्र, (10) स्कन्द (कुमार कार्तिकेय), (11) शिव और (12) क्रोधभट्टारक (दुर्वासा मुनि)।

"मनु:श्चन्द्रः कुबेरश्च लौपामुद्रा च मन्मथः
अगस्तिरग्निः सूर्यश्च इन्द्रः स्कन्दः शिवस्तथा
क्रोधभट्टारको देव्या द्वादशामी उपासकाः।।(8)

स्वामी करपात्री जी ने इस द्वादश सम्प्रदाय का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है।(9) विस्तारभय से मैं उसका विस्तृत विवेचन नहीं कर रही हूँ। जिन्होंने श्रीविद्या के उपरिलिखित आचार्यों की श्रृंखला की कड़ियों को आगे बढ़ाया उसमें भगवानदत्तात्रेय, परशुराम तथा ह्यग्रीव आदि आचार्यों के नाम प्रमुख रूप से प्राप्त होते हैं इन आचार्यों द्वारा इस पद्धति को सरलसुबोध किया। तत्पश्चात् श्रीविद्या सम्प्रदाय के आचार्य आदि शंकराचार्य को यह श्रेय दिया जाता है कि उन्होंनें श्रीविद्या उपासना परम्परा को जीवन्त रखने हेतु अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें प्रपन्चसार, सौन्दर्यलहरी, ललितात्रिशती भाष्य आदि प्रमुख है।

'त्रिपुरा रहस्य' में परशुराम जी को श्री विद्या का उपासक प्रमाणित किया है। त्रिपुरा रहस्य में प्रमाणरूप से उसका उल्लेख किया गया है एवं शंकराचार्य जी ने भी इस ग्रन्थ को प्रमाणित किया है। शंकर भाष्य में विशेषानुग्रह सूत्र के व्याख्यान में जप उपवास आदि से श्रीविद्या की प्राप्ति होती है और विशेषानुग्रह का उदाहरण देते हुए भगवत्पाद ने 'अपि च स्मर्यते इति पूर्वसूत्रे' - 'संवर्त प्रभृतीनं च नग्नचर्यादियोगाद नपेक्षिताश्रम कर्मणामपि महायोगित्व स्मर्यत इतिहासे।। संवर्त महर्षि की कथा इतिहास रूप में यहां बतायी गयी है यह कथा त्रिपुरा रहस्य में ही एक मात्र प्राप्त होती है इसलिए शंकराचार्य ने ग्रन्थ का नाम न लेकर इसके कथानक को उद्धृत कर ग्रन्थ को प्रमाणित किया है।

त्रिपुरारहस्य 'हारितायन सहिता' नाम से भी जानी गयी है इसके प्रणेता परशुराम जी ही हैं। सुमेधा नामक शिष्य जिसका नाम हारितायन भी था उसने आत्यधिक (सास्वतिक) कल्याण के लिए प्रश्न किया उस पर परशुराम जी ने श्री विद्या का क्रमपूर्वक इस पुस्तक में वर्णन किया है। इसका तीन खण्डों में उल्लेख मिलता है -

(1) ज्ञान खण्ड (2) माहात्म्य खण्ड (3) चर्या खण्ड

ज्ञानखण्ड के अन्तर्गत सूक्ष्म उपासना अन्तर्याग का वर्णन है महात्म्य खण्ड में श्री विद्या की उपासना का स्थूल वर्णन है, चर्याखण्ड अभी अप्राप्य है।

आचार्य शंकर भगवत्पाद ने सौन्दर्य लहरी में स्तुति ब्याज से श्रीविद्या साधना का सार सर्वस्व बता दिया है और श्री विद्या के पंचदशाक्षरी मंत्र के एक-एक अक्षर पर बीस नामों वाले ब्रह्माण्डपुराणोक्त 'ललिता त्रिशती' स्तोत्र पर भाष्य लिखकर अपने चारों मठों में श्री विद्या साधना का परिष्कृत क्रम प्रारम्भ कर दिया है। जन्म-जन्मान्तरी पुण्य पुन्ज के उदय होने से यदि किसी को गुरू कृपा से इस साधना का क्रम प्राप्त हो जाये और वह सम्प्रदाय पुरस्सर साधना करे तो कृतकृत्य हो जाता है। उसके समस्त मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, और वह जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है लोक में इस विद्या के सामान्य ज्ञान वाले कुछ साधक तो सुलभ हैं पर विशेष ज्ञाता अत्यन्त दुर्लभ है। कारण, यह अत्यन्त रहस्यमयी गुप्त विद्या है और शस्त्रों ने इसे सर्वथा गुप्त रखने का निर्देश किया है। ब्रह्माण्ड पुराण में लिखा है- "राज्य तो दिया जा सकता है, सिर भी समर्पित किया जा सकता है परन्तु श्रीविद्या का षोडशीक्षरी मन्त्र

कभी नहीं दिया जा सकता।' यह्व पर यह प्रश्न उठन स्वाभाविक है कि फिर ये संसार को कैसे प्राप्त हुआ? इसका समाधान करते हुए 'नित्याषोडशिकार्णव' कहता है कि - "यह विद्या कर्ण परम्परा से भूतल पर आयी।." उपनिषद् वाक्यों का उपबृहण करते हुए 'आत्मपुराण' में भी लिखा है कि "ब्रह्मविद्या अतिखिन्न होकर ब्रहिष्ठ ब्राह्मण के पास गयी और बोली कि 'तुम मुझे वेश्या की तरह सर्वभोग्य मत बनाओ, अपितु कुलवधू की भंति मेरी रक्षा करो। मैं इस लोक और परलोक के लिए तुम्हारा अक्षय कोष हूँ।"

इसके आगे ये किसे नहीं देनी चाहिए और किसे देनी चाहिए, यह भी बताया है - "गुणवानों की निरन्तर निन्दा करना आजर्वशून्यता, इन्द्रियों का दासत्व, नित्य स्त्री प्रसंग और उदण्डता तथा मन, वाणी कर्म से गुरू के प्रति भक्तिहीनता आदि ऐसे दोष जिनमें वर्तमान हों उनसे सदा मेरी रक्षा करना। सावधानी से ऐसा करते रहोगे तो मैं कामधेनु की तरह तुम्हारी सर्वमनोरथों को पूर्ण करने वाली होऊगी। ऐसा न करने पर फलों से रहित लता की तरह मैं बन्ध्या हो जाऊगी।

"षोडशिकार्णव' में भी कहा गया है-

पराये गुरू के शिष्यों को, नास्तिकों को, सुनने की अनिच्छा वालों को एवं अनर्थ बढ़ाने वालों को यह विद्या कभी नहीं देनी चाहिए। यही नहीं यदि लोभ, मोह से ऐसे व्यक्ति को कोई इसका उपदेश देता है तो वह उपदेष्टा गुरू उस शिष्यों के पापों से लिप्त होता है।

उपर्युक्त दोनों से रहित और शम, दम, तितिक्षा आदि गुणों से युक्त साधक को ही श्रीविद्या प्रदान करनी चाहिए ऐसे अधिकारी को भी एक वर्ष तक परीक्षा करके ही श्रीविद्या का उपदेश देना चाहिए।(10)

श्रीविद्या के तीन रूप हैं -

(1) स्थूल, (2) सूक्ष्म, (3) पर

जहां स्थूल रूप श्री चक्रार्चन और सूक्ष्मरूप श्रीविद्या मंत्र है वहीं पर विद्यादेह में श्रीचक्र की भावना विधि है। आचार्य शंकर के मतानुसार चौसठ तन्त्रों की व्याख्या करने के अनन्तर परम्बा के निर्बन्ध से श्रीविद्या का व्याख्यान भगवान सदाशिव ने किया अतः इसको 65वां तंत्र माना गया। आचार्यों ने

वामकेश्वर-तंत्र को जिसमें 'नित्याषोडशिकार्णव' तथा 'योगिनीहृदय' दो चतुरशती है पूणरूपेण विधान करने वाला 65वां (मतान्तर 78वां) तन्त्र माना है।(11) अतः उसी के अनुसार मैं यहां इस विषय पर अपने मत दूंगी।

आदि शंकराचार्य जी ने बाह्य पूजा पद्धति मानसिक आराधना अथवा यों कहें कि महात्रिपुर सुन्दरी राजराजेश्वरी की स्थूल, सूक्ष्म और पर उपासना क्रम को श्री विद्योपासकों के लिए सुलभ कर दिया। तथा विश्व बन्धा पराम्बा के अप्रतिम वैभव को करूणा वात्सल्यादि गुणों को सौन्दर्य में उद्घाटित कर दिया तथापि यह साधना पद्धति कालक्रमानुसार उत्तर भारत में कुछ शिथिल सी हो गयी थी इस मध्य उत्तर भारत में प्रकट अभिनव शंकराचार्य पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने इस साधना परम्परा को उज्जीवित किया। विशेषतः उत्तर भारत पर यह स्वामी जी का उपकार मात्र श्री चरणों का असीम अनुग्रह ही कहा जा सकता है। स्वामी करपात्री जी के कुछ शिष्यों से मैंने भेंट की जिनको स्वामी जी द्वारा दीक्षा प्राप्त हुई है जिनमें प्रमुख शिष्य - शंकराचार्य स्वरूपानन्द जी, श्री पट्टाभिरामशास्त्री, 'पदम् विभूषण', श्री सीताराम जी शास्त्री 'कविराज', श्रीनन्द नन्द शास्त्री जी (भूतपूर्व सांसद सदस्य) प्रभावती राजे, डा0 कु0 सुनीता मित्रा, प्रो0 महाप्रभुलाल गोस्वामी, श्री सन्तशरण वेदान्ती जी, श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारी जी, पं0 दया शंकर पाण्डेय जी तथा डा0 राम संजीवन शुक्ल जी।

दस महाविद्याएं -

भारतीय संस्कृति में वेदों का प्रमुख स्थान है। ज्ञान की राशि वेद लोक कल्याण तथा पारलौकिक कल्याण के साधनभूत है किन्तु युगधर्म प्रधान होने के नाते कलियुग में इसका सामान्य मनुष्यों के लिए सविधि अनुगमन अत्यन्त दुष्कर है इसीलिए आगम द्वारा सहज सरल उपासना-अनुष्ठान पद्धति द्वारा जीव मात्र का कल्याण सम्भव है। भगवान की तथा भगवती की अनेक रूपों में उपासना लोक विदित है। इसमें स्वामी करपात्री जी ने दशमहाविद्याओं - महाकाली, उग्रतारा, षोडषी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगला, मातंगी, कमला का विशेष स्थान माना है। दस महाविद्याओं में भी प्रथम तीन प्रमुख हैं और इन तीनों में षोडषी अर्थात् श्रीविद्या प्रमुखतम है। षोडषी राज राजेश्वरी महात्रिपुर सुन्दरी अत्यन्त सौम्य प्रकृति की अत्यन्त सौम्य सम्पन्न देवी है।

महाकाली -

"दस महाविद्याओं में प्रथम काली है, स्वामी करपात्री जी जो प्रलयकाल से सम्बद्ध अतएव कृष्णवर्णा हैं ऐसा मानते हैं कि वे शव पर आरूढ़ इसीलिए हैं कि शक्ति विहीन विश्व मृत ही है। शत्रु संहारक शक्ति भयावह होती है, इसलिए काली की मूर्ति भयावह है। शत्रु संहार के बाद विजयी योद्धा का अट्ठाहास भीषणता के लिए होता है इसलिए महाकाली हंसती रहती है। निर्बल के आक्रमण को विफल कर उसकी दुर्बलता पर हंसा ही जाता है। इसी तरह शक्ति विहीन निर्बल विश्व का घमण्ड दूर कर भगवती हंसती है। पूर्णवस्तु को 'चतुरस्र' कहा जाहा है, इसीलिए वे अपनी चार भुजाओं से पूर्णतत्व - अपनी पूर्णता प्रकट करती है। स्वय अभय हैं और अपना आश्रय लेने वाले को निर्भय बनाती है, इसीलिए वे 'अभय' मुद्रा धारण किए हुए है। सांसारिक सुख क्षण भंगुर है, परम सुख तो भगवती ही है तथा जीवित और विश्व की आधार वे ही हैं एवं मृत प्राणियों का भी एकमात्र सहारा है, इसीलिए देवी ने मुण्डमाला पहन रखी है। विश्व ही भगवती ब्रह्मरूपिणी का आवरण है। प्रलय में सबके लीन होने पर भगवती नग्न रहती है, इसलिए उनका विग्रह नग्न है। सारे विश्व के शमशान के तरने पर उस तमोमयी का विकास होता है, इसीलिए वे शमशान वासिनी कहलाती हैं।(12)

तारा -

हिरण्य गर्भावस्था में कुछ प्रकाश होता है। प्रलय रूपिणी कालरात्रि में ताराओं के समान सूक्ष्म जगत् के ज्ञान एवं उनके साधन प्रकट होते हैं। उसी हिरण्यगर्भ की शक्ति तारा है। हिरण्यगर्भ पहले क्षुधा से उग्र था। जब उसे अन्न मिला तब शान्त हुआ। उसी हिरण्यगर्भ की शक्ति उग्रतारा है।(13) क्षुधातुर हिरण्यगर्भ के संहारक होने से उसकी यह शक्ति भी संहारिणी है। इनके चारों हाथों में जहरीले सर्प हैं और वे भी सहार के सूचक हैं ये देवी भी शव पर आरूढ़ है और मुण्ड तथा खप्पर लिए हुए है, जो यह सूचित करते हैं कि ये भयानक बनकर खप्पर द्वारा राक्षसादि का रक्तपान करती है। नागों से बंधा जटाजुट देवी की रश्मियों की भयानकता को सूचित करता है।(14)

षोडशी -

प्रशान्त हिरण्यगर्भ या सूर्य शिव हैं और उन्हीं की शक्ति है षोडशी, जबकि हिरण्यगर्भ के दूसरे रूप रूद्र की शक्ति अभी-अभी पीछे 'तारा' रूप में वर्णित है। षोडशी का विग्रह या मूर्ति पचवक्त्र अर्थात् पाच मुखों वाली है। चारों दिशाओं में चार और एक ऊपर की ओर मुख होने से इन्हें 'पंचवक्त्रा' कहा जाता है। ये पांचों मुख तत्पुरूष, सद्योजात, वामदेव, अघोर और ईशान-शिव के इन पांच रूपों के प्रतीक हैं। पूर्वोक्त पांच दिशाओं के रंग क्रमशः हरित, रक्त, धूम्र, नील और पीत होने से ये मुख भी इन्हीं रंगों के हैं। देवी के दस हाथ हैं, जिनमें वे अभय, टंक, शूल, बज्र, पाश, खंग, अंकुश, घण्टा, नाग और अग्नि लिए है।(15) ये बोधरूपा हैं इनमें षोडश कलाये पूर्णरूपेण विकसित हैं, अतएव ये 'षोडशी' कहलाती है।(16)

भुवनेश्वरी -

वृद्धिगत विश्व का अधिष्ठान त्र्यम्बक सदाशिव है, उनकी शक्ति 'भुवनेश्वरी' है। सोमात्मक अमृत से विश्व का पोषण हुआ करता है, इसीलिए भगवती ने अपने किरीट में चन्द्रमा धारण कर रखा है। ये ही भगवती त्रिभुवन का भरण पोषण करती रहती हैं, जिनका संकेत उनके हाथ की मुद्रा करती है। ये उदीयमान सूर्यवत् कान्तिमती, त्रिनेत्रा एवं उन्नत कुच युगला देवी है कृपादृष्टि की सूचना उनके मृदुहास्य से मिलती है। शासनशक्ति के सूचक अंकुश पाश आदि को भी वे धारण करती है।(17)

छिन्नमस्ता -

परिवर्तनशील जगत् का अधिपति चेतन कबन्ध हैं, उसकी शक्ति 'छिन्नमस्ता' है। विश्व की वृद्धि ह्रास (उपचय-अपचय) तो सदैव होता ही रहता है, किन्तु ह्रास की मात्रा कम और विकास की मात्रा अधिक होती है, तभी 'भुवनेश्वरी' का प्राकट्य होता है। इसके विपरीत जब निर्गम अधिक और आगम कम होता है, तब 'छिन्नमस्ता' का प्राधान्य होता है। छिन्नमस्ता भगवती छिन्नशीर्ष (कटा सिर) कर्तरी (कृपाण) एवं खप्पर लिए हुए स्वयं दिगम्बर रहती हैं। कबन्ध शोणित की धारा पीती रहती हैं।

कटे हुए सिर में नागबद्धमणि विराज रहा है, सफेद खुले केशों वाली, नील नयना और हृदय पर उत्पल (कमल) की माला धारण किए हुए ये देवी रक्तासत्त मनोभाव के ऊपर विराजमान रहती हैं।[18]

त्रिपुर भैरवी -

क्षीयमान विश्व का अधिष्ठान दक्षिण मूर्ति कालभैरव है उनकी शक्ति ही 'त्रिपुर भैरवी' है। उनके ध्यान में बताया गया है कि वे उदित हो रहे सहस्त्रों, सूर्यों के समान अरूण कान्ति वाली और क्षौमाम्ब रधारिणी होती हुई मुण्डमाला पहले हैं। रक्त से उनके पयोधर लिप्त है। वे तीन नेत्र एवं हिमाशु-मुकुट धारण किए, हाथ में जपवटी, विद्या, वर एवं अभयमुद्रा धारण किए हुए हैं। ये भगवती मन्द-मन्द हास्य करती रहती हैं।[19]

धूमावती -

विश्व की अमांगल्यपूर्ण अवस्था की अधिष्ठात्री शान्ति 'धूमावती' है। ये विधवा समझी जाती है, अतएव इनके साथ पुरूष का वर्णन नहीं है। यहां पुरूष अव्यक्त है। चैतन्य बोध आदि अत्यन्त तिरोहित होते हैं। इनके ध्यान में यह बताया गया है कि ये भगवती 'विवर्णा, चन्चला, दुष्टा एवं दीर्घ तथा गलित अम्बर (वसन) धारण करने वाली, खुले केशों वाली, विरलदन्त वाली, विधवा रूप में रहने वाली, काक ध्वज वाले रथ पर आरूढ़, लम्बे-लम्बे पयोधरों वाली, हाथ में शूर्प (सूप) लिए हुए, अत्यन्त रूक्ष नेत्रों वाली, कम्पित हस्ता, लम्बी नासिका वाली कुटिल-स्वभावा, कुटिल नेत्रों से वक्ता, क्षुधा पिपासा से पीड़ित, सदैव भयाप्रदा और कलह की निवास भूमि है।[20]

बगला -

व्यष्टि रूप में शत्रुओं को नष्ट करने की इच्छा रखने वाली और समष्टि रूप में परमेश्वर की संहारेच्छा की अधिष्ठात्री शक्ति बगला है। इनके ध्यान में बताया गया है कि 'ये दवी सुधा समुद्र के मध्य स्थित मणि-मय मण्डप में रत्नवेदी पर रत्नमय सिंहासन पर विराजमान हो रही हैं स्वयं पीतवर्ण होती हुई

पीत वर्ण के ही वस्त्र, आभूषण एवं माला धारण किए हुए हैं। इनके एक हाथ में शत्रु की जिव्हा और दूसरे में मुग्दर है।(21)

मातंगी -

'मतंग' शिव का नाम है, उनकी शक्ति 'मातंगी' है। उनके ध्यान में बताया गया है कि "ये श्यामवर्णा हैं। चन्द्रमा को मस्तक पर धारण किए हुए हैं। त्रिनेत्रा, रत्नमय सिंहासन पर विराजमान, नीलकमल के समान कान्तिवाली और राक्षससमूह रूप अरण्य को भस्मसात करने में दावानल के समान हैं। ये देवी चार भुजाओं में पाश, खड्ग, खेटक और अकुश धारण किए हुए है तथा असुरों को मोहित करने वाली एवं भक्तों को अभीष्ट फल देने वाली है।(22)

कमला -

सदाशिव पुरूष की शक्ति कमला हैं। इनके ध्यान में बताया गया है कि ये सुवर्ण तुल्य कान्तिमयी है। हिमालय सदृश श्वेतवर्ण के चार गजों द्वारा शुण्डाओं से गृहीत सुवर्ण कलशों से स्नापित हो रही हैं। ये देवी चार भुजाओं में वर, अभय और कमलद्वय धारण किए हुए तथा किरीट धारण हुए और क्षौम वस्त्र का परिधान किए हुए हैं।(23)

कामेश्वरी ललिताम्ब -

स्वात्मा ही विश्वात्मिका ललिता हैं। विमर्श रक्तवर्ण हैं। उपाधिशून्य स्वात्मा महाकामेश्वर है। उसके अंग में विराजमान सदानन्दरूप उपाधिपूर्ण स्वात्मा ही महाशक्ति कामेश्वरी है। निर्गुण पुरूष रूप शिव कामेश्वरी से युक्त होकर विश्वनिर्माणादि कार्यों में सफल हो सकता है। उसके बिना कूटस्थ देव टस से मस नहीं हो सकता। ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, ईश्वर और सदाशिव जब शक्ति रहित होते हैं, तब उन्हें महाप्रेत कहा जाता है। इनमें प्रथम चार कामेशी के पर्यंक के चार पावों के रूप में कल्पित है। जबकि पांचवां पर्यक का फलक माना गया है निर्विशेष ब्रह्म के आश्रित श्री कामेश्वरी के हाथों में अंकुश, इक्षु (ईख), धनुष और बाण है। राग ही पाश है और द्वेष ही अंकुश। मन ही उनका इक्षु मय धनुष है और शब्दादि

पाच विषय ही पुष्पबाण है। कहीं-कहीं इच्छाशक्ति को पाश, ज्ञान शक्ति को अकुश और क्रियाशक्ति को धनुषबाण बताया गया है। इस प्रकार इन्हीं कामेश्वर-कामेश्वरी के विषय में हम महाकवि कालिदास के ही शब्दों में दोहराते हैं - 'जगत् पितरौ वन्दे।'(24)

कादि-हादि विद्या -

स्वामी करपात्री जी ने कादि-हादि विद्या के भेद से श्री विद्या के दो रूप माने हैं। कामदेवों पासित-काम राजविद्या ही कादि-विद्या है तथा अगस्त्यपत्नी लोपामुद्रा की हादि विद्या है। श्री विद्या के द्वादश उपासकों में इन दो का ही सम्प्रदाय वर्तमान काल में प्रचलित है इसमें भी कामराज विद्या कादि- विद्या का ही विशेष प्रसार स्वामी जी द्वारा किया गया। क्योंकि कादि विद्या का ही प्रमुख मान गया है।

तन्त्रेषु ललिता देव्यास्तेषु मुख्यमिदं मुने।
श्री विद्यैव तु मन्त्राणा तत्र कादिर्यथा परा।।

शक्ति संगम तन्त्र में एक अन्य कहादि विद्या का भी उल्लेख प्राप्त होता है, इसमें कादि को कालीगत, हादि को त्रिपुरागत तथा कहाद्य को तारिणीमत कहा गया है। शंकराचार्य तथा स्वामी करपात्री जी के मतानुसार कादि कामराज तथा हादि लोपामुद्रा के अन्तर्गत ही ये विद्या भी उपासित मानी गयी है।

क वर्ण से (बीज से) प्रारम्भ होने के कारण कादि तथा ह वर्ण से प्रारम्भ होने के कारण हादि विद्या के नाम से प्रसिद्ध है।

त्रिपुरोपनिषद में दोनों विद्याओं का संकेत निम्न श्रुतियों द्वारा किया गया है। सौन्दर्य लहरी का क्रम इससे भिन्न है। सौन्दर्य लहरी में कादि विद्या को मूल विद्या बताकर उससे लोपामुद्रा का निर्माण किया गया है। कादि को श्रुतियों में भी मूल विद्या बताया गया है।(25)

सौन्दर्य लहरी क 32वें श्लोक में सन्यासियों के लिए और 33वें में गृहस्थों के लिए हादि विद्या का उपदेश दिया गया है। गृहस्थों को सृष्टि और स्थिति न्यास तथ सन्यासियों को संहार से पूजन करना चाहिए, यथा 'सृष्टि स्थिति विनाशानां'। अन्य प्रयोगों के सिद्धि की विधि 33वें श्लोक में है। भगवती की

आराधना या उपासना से भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं। भोगासक्त गृहस्थ के लिए श्रीचक्र, पूजन, चस और बहिर अनुष्ठानों से युक्त कादि विद्या है। यह आणवी दीक्षा द्वारा प्राप्त होती है। सकाम अनुष्ठानों से यद्यपि कामनाओं की पूर्ति होती है, किन्तु तांत्रिक या वैदिक उपासना में सिद्धियों का महत्व गौण है मंत्र जप से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है किन्तु इसके पूर्व मल और काय शुद्धि द्वारा कायिक परिष्कार आवश्यक है। कुण्डलिनी जागरण होने पर आत्मशुद्धि स्वयं हो जाती है। कुण्डलिनी जागरण के लिए शक्ति दीक्षा आवश्यक है। कुण्डलिनी-जागरित होने पर मंत्र लय, हठ, राजयोग, प्रमृति योगों का स्वतः विकास होता है। आणवी दीक्षाक्रम में गुरू मंत्र उपदेश करके श्री चक्र पर भगवती की पूजन विधि बताई जाती है। शक्ति दीक्षा गुरू शक्तिपात द्वारा देता है। तीसरी शिक्षा शाम्भवी दीक्षा शिष्य को ब्रह्मात्मैक्य भाव में ले जाकर महावाक्यों के उपदेश द्वारा होता है।

स्वामी जी कहते हैं कि श्री विद्या का 15 अक्षरों का मन्त्र पन्चदशाक्षरी कहा जाता है। 16वां बीज लगा देने से षोडशाक्षरी हो जाती है। यह सोलहवं अक्षर प्राय. गुरूउपदिष्ट होता है। इसके प्रथम पन्चाक्षर वाग्भवकूट, बीज के 6 अक्षरों का कामकला कूट और 4 अक्षरों का अन्तिम कूट होता है जो शक्ति कूट है।(26) इन तीनों कूटों की साधन सम्प्रति खड्गमाला, ललिता, त्रिशति तथा सहस्त्र नाम द्वारा की जाती है। खड्ग माला सहस्त्राक्षरी है। त्रिशक्ति कादि और सहस्त्रनाम हादि विद्या की साधना सम्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में महात्मा खण्ड में पूजा का क्रम तथा उत्तरार्द्ध में फलश्रुति है। भगवान् श्री ह्यग्रीव की उक्ति के अनुसार, 'कीर्तयेन्नाम साहस्रंमिदं मत्प्रीतये सदा, मत्प्रीत्या सकलान कामानल्लमते नात्र संशयः।' अर्थात् आद्य शक्ति की कृपा से ही ब्रह्माण्ड का उत्कर्ष और संचालन होता है इसमें क्या संशय है। (27)

तंत्रशास्त्र-

यद्यपि वेदों के देवी सूक्तादि में शक्ति उपासना का वास्तविक मूल प्राप्त है फिर भी उसका पूर्ण विकास तंत्रशास्त्र के रूप में हुआ है। कालान्तर में इसने बौद्ध एवं जैन दर्शन को भी प्रभावित किया। हिन्दू तंत्र के अन्दर भी यह मात्र शक्ति पूजा और शाक्त हिन्दुओं से ही सम्बद्ध न रहकर सौर, वैष्णव, शैव एवं गाणपत्य तंत्र के रूप में विकसित हुआ। इस प्रकार तंत्र का प्रभाव सम्पूर्ण भारतीय आचार-विचार पर पड़ा एवं पुराणादि में भी इसके महत्व को स्वीकार करते हुए इसकी व्याख्या की गयी और यह वैदिक पौराणिक धर्म में समादृत हो गया। इसने उपासना पद्धति विशेषकर शक्ति पूजा को इस हद तक प्रभावित किया कि आज हम किसी भी पूजा में कई तांत्रिक प्रक्रियाओं को अवश्य पाते हैं।

तंत्र शब्द 'तनु-विस्तारे' (फैलाना) धातु एवं 'ष्ट्रन' प्रत्यय से बना है। जिसका तात्पर्य है कई विषयों (मंत्र, यंत्र आदि) को विस्तृत करना। तंत्र शब्द का प्रयोग अमरकोष में मुख्य विषय - सिद्धान्त अथवा शास्त्र के रूप में हुआ है। आरम्भ में इस शब्द का व्यवहार भी आज जिसे हम तंत्रशास्त्र के रूप में जानते हैं, उस अर्थ में नहीं होता था। जैमिनि के पूर्वमीमांसा सूत्र के शाबरभाष्य पर कुमारिल के एक वार्तिक का नाम है तंत्रवार्तिक। प्राचीन एवं मध्यकाल में लोगों को सर्वतंत्र स्वतंत्र की उपाधि दी जाती थी, जिसका तात्पर्य सभी शास्त्रों का ज्ञाता होता है।(28) ऋग्वेद में तंत्र शब्द का प्रयोग करघा के रूप में किया गया है। (29) पाणिनि ने तंत्र शब्द का प्रयोग करघे से तुरन्त तैयार वस्त्र के अर्थ में किया है।(30) श्रोतसूत्र में इसका प्रयोग विधि के रूप में हुआ है तो सांख्यायन (31) में ऐसे कर्म के रूप में जिससे अन्य कर्मों की उपयोगिता सिद्ध हो जाये। महाभाष्य ने (पाणिनि 4/2/60 पर) सर्वतंत्र शब्द का प्रयोग सिद्धान्त एवं शास्त्र के रूप में किया है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य (1/228), कौटिल्य पन्द्रहवां अधिकरण एवं शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य ने तंत्र का प्रयोग सिद्धान्त, शास्त्रादि के रूप में किया।(32)

कुलार्णवादि तंत्रों या आगमों को अनादि शिव प्रोक्त ही कहा गया है। आधुनिक जॉन वुडरफ आदि पाश्चात्य विद्वान इसीलिए इसका मूल स्थान कैलाश या तिब्बत में मानते हैं आगम = आगतं शिव वक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ। मतः च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।। अर्थात् शिव जी के मुख से निकला

हुआ और पार्वती जी के कानों में पड़ा हुआ और वासुदेव भगवान का जिसमें सम्मत है उसको आगम कहते हैं। आगम ग्रन्थ के तंत्रों को दो भागों में बांट सकते हैं - प्रथम दार्शनिक पक्ष और दूसरा व्यावहारिक पक्ष। तंत्रों की संख्या बहुत अधिक है। कुछ तांत्रिक ग्रन्थ तंत्र को तीन दलों में बांट कर प्रत्येक के 64 भेद बताते हैं।

श्री यन्त्र -

श्री यन्त्र का सरल अर्थ है - श्री का यन्त्र अर्थात् गृह। नियमनार्थक यम् धातु से बना 'यंत्र' शब्द गृह अर्थ को ही प्रकट करता है। क्योंकि गृह में ही सब वस्तुओं का नियंत्रण होता है। श्री विद्या को ढूंढ़ने के लिए उसके गृह 'श्री यन्त्र की ही शरण लेनी होगी। श्री विद्या के परिचय से ज्ञात होगा कि वह उपास्य एवं उपेय दोनों है। उपेय वस्तु को उसके अनुकूल स्थान में ही अन्वेषण करने से सिद्धि होती है, अन्यथा मनुष्य उपहासास्पद बनता है। आदिकवि बाल्मीकि जी ने श्री सीताजी के अन्वेषण में तत्पर श्री हनुमान जी द्वारा कहलाया है - यस्य सत्तवस्य या योनिस्तस्यां तत्परिमार्ग्यते।

अर्थात् जिस प्राणी की जो योनि होती है, वह उसी में ढूंढ़ा जा सकता है। शंकराचार्य ने भी मंत्र को उद्धरित करते हुए 'तव शरणकोणाः परिणताः' इस वाक्य मंत्र के अर्थ में गृहवाचक 'शरण' पद का ही प्रयोग किया है।

इस न्याय से उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत में स्थित श्री नगर नामक स्थानों की भी सार्थकता सिद्ध होती है, क्योंकि इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन नगरों में श्री विद्या के उपासक अधिक संख्या में मिलते थे और अब भी थोड़े बहुत पाये जाते हैं। अस्तु, यह विश्व ही श्री विद्या का गृह है। यहां विश्व शब्द से पिण्डाण्ड एवं ब्रम्हाण्ड दोनों का ग्रहण है। मायाण्ड प्रकृत्यण्ड भी स्थूल सूक्ष्म रूप से इन्हीं के अंतर्गत आ जाता है। भैरवयामलतन्त्र में लिखा है -

चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रम्हाण्डकार मीश्वरि।' - अर्थात् हे ईश्वरि । त्रिपुर सुन्दरी का चक्र ब्रम्हाण्डकार है। भावनोपनिषद में भी लिखा है - "नवचक्रमयो देहः।"

स्वामी करपात्री जी ने श्रीयंत्र को साक्षात् श्री शिव और शिव का विग्रह बतलाया है- 'श्रीचक्र

॥ श्रीयन्त्रम् ॥
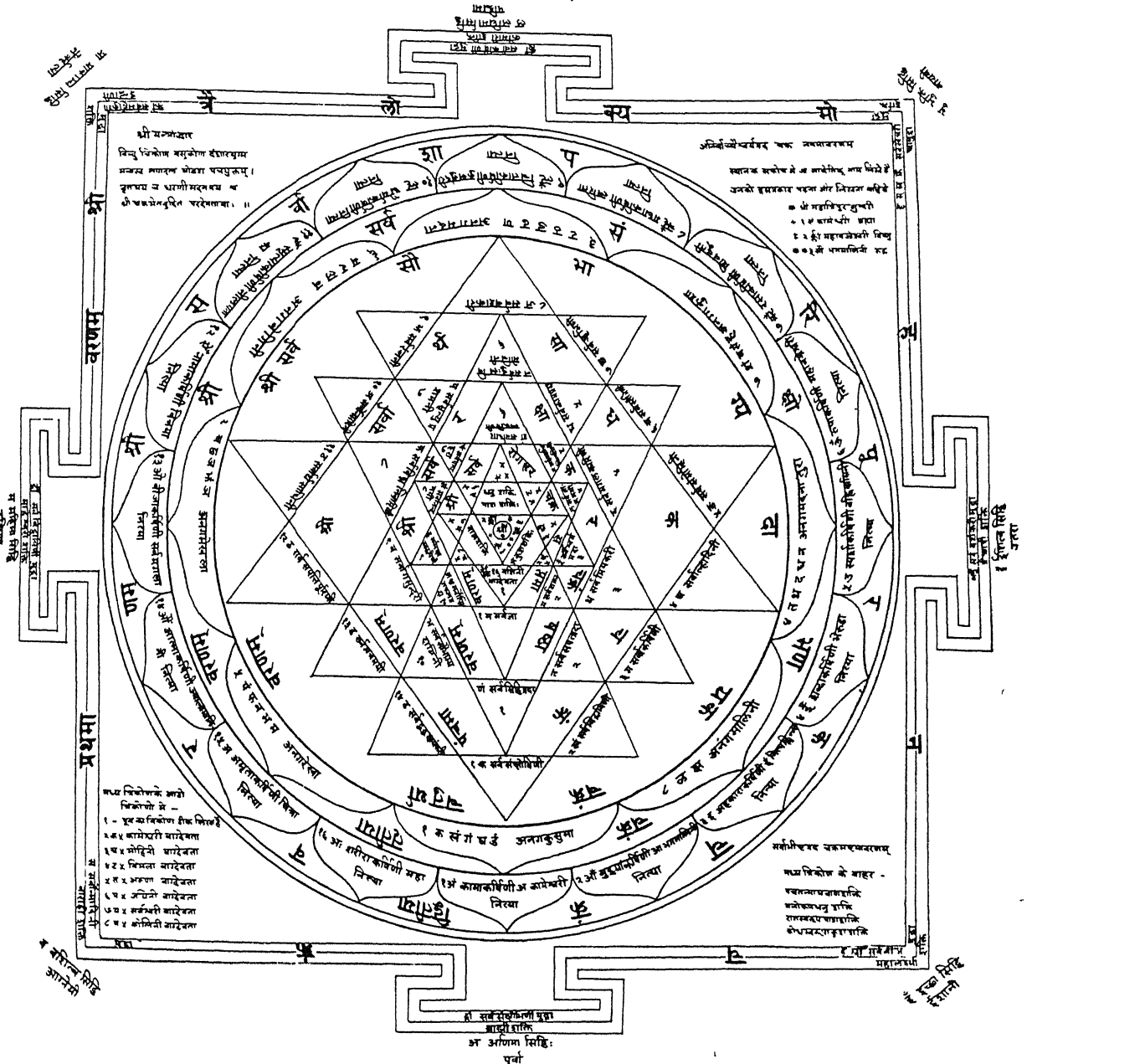
जो शम्भू के बिन्दु स्थान से भिन्न है। वे तीन वृत्तों और तीन रेखाओं सहित 8 और 16 दलों से युक्त हैं। श्री चक्र का निर्माण स्फटिक, सुवर्ण, रज, पंच लौह, और शालिग्राम शिला पर पूजा जाता है। कहीं-कहीं यन्त्र शिवलिंग पर भी उत्कीर्ण पाया जाता है चक्र अमूर्त रूप है। प्रतिमा पूजन में हम नख, शिख, अंग-प्रसंग का पूजन करते हैं। यही कारण है कि सौन्दर्य लहरी, शक्ति महिम्न, वरिवस्या रहस्य आदि में अंग-प्रत्यंग का विशद लालित्यपूर्ण वर्णन है। काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि के ललिता मंदिर प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत के सभी प्रख्यात मंदिरों में यंत्र और विग्रह है। श्रृंगेरी और कान्ची के भगवदपाद है क्योंकि भगवदपाद स्वयं श्री विद्योपासक थे। ये कहना अत्युक्ति न होगा कि आज की उपासना बहुत कुछ उन्हीं की परम्परा में होती है। आजकल इस विद्या के सर्वश्रेष्ठ साधक अनन्त श्री विभूषित स्वामी करपात्री जी स्वीकार किये जाते हैं। इनका श्री विद्या रत्नाकर उपासकों का सर्वश्रेष्ठ मार्गदर्शक है।

श्री यन्त्र में नवचक्र है। कोई-कोई बिन्दु को न गिनकर आठ ही कहते हैं। इन नव चक्रों के विशिष्ट नाम और स्वरूप है। बिन्दु त्रिकोण श्लोक के अनुसार गणना में बिन्दु का त्याग नहीं किया जा सकता। इन नव चक्रों में पहला बाह्य चौकोर जो त्रिरेखावृत्त है, चतुरास्र कहा जाता है। ये तीनो रेखाएं एक के बाद एक है जिनमें चारों दिशाओं के मध्य में चारद्वार है- इसे भू-पुर चक्र कहते हैं। भूपुर से पृथ्वी तत्व का बोध जानना। इन्हीं चतुरद्वारों से मंदिर में प्रवेश होता है। इसके पश्चात् त्रिवलय यानि 3 वृत्त है। चतुष्कोण और वृत्त के बीच का स्थान त्रैलोक्य मोहन चक्र है। तीन रेखाओं के बाद कमल दल-16 दलों का कमल सर्वाशापरिपूरक चक्र है। यह चक्र सभी इच्छाओं और मनोरथों का पूरक है। उसके पश्चात् अष्टदल कमल का वृत्त सर्व संक्षोभण चक्र है। इसके पश्चात् पांच त्रिकोण जिसका कोण नीचे की ओर है इस पर चार त्रिकोण ऊपर की ओर इस विधि से निर्मित 9 त्रिकोणों की संख्या 43 हो जाती है ऊपर के मुख वाले चतुर्दशारकोण को सर्व सौभाग्यदायक चक्र कहा गया है। यह सर्वसौभाग्य का सूचक है। इसके भीतर का 10 त्रिकोण दशार सर्वार्थ साधक चक्र हैं - हर प्रकार की व्याधिरूज रक्षक (सर्वव्याधि प्रशमनी)। इसके भीतर उल्टा हुआ त्रिकोण सर्वसिद्धिप्रद चक्र हैं। अन्तर बिन्दु सर्वानन्दमय चक्र है।

इस प्रकार कामकला से प्रसूत इच्छा मूलक आद्य काम का द्योतक और प्रत्येक चक्र का क्रमिक विकास है। इससे चक्रों के नाम का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। उन्हें पुनः गिना देना अप्रासंगिक न होगा।

(1) त्रैलोक्यमोहन (तीनों लोकों को सम्मोहित करने वाला)

(2) सर्वाशा परिपूरक (समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाला)

(3) सर्वसंक्षोभण

(4) सर्वसौभाग्यदायक

(5) सर्वार्थ साधक

(6) सर्वरक्षाकर

(7) सर्वरोगहर

(8) सर्वसिद्धिप्रद

(9) सर्वानन्दमय

कबीरदास ने सीधी भाषा में 'अष्ट कमल दल चरखा डोले' कहकर इस उपासना की पुष्टि की है यद्यपि उनका निर्गुनिया पंथ है। श्री यंत्र का भी अमूर्त स्वरूप हमने ऊपर कहा है।(35)

श्रीयन्त्र का अर्चन -

जिस परम्परा से साधना करने वाले पारम्परीण गुरू के द्वारा श्रीयन्त्र की दीक्षा प्राप्त हो एवं जो श्री यन्त्रार्चन-पद्धति का यथावत् ज्ञाता हो, वही श्रीयन्त्र के अर्चन का अधिकारी है। इस अर्चना के लिए तंत्रशास्त्रों में वाम और दक्षिण - दो मार्ग बतलाये गये हैं। वाममार्ग की उपासना पुराकाल में सम्प्रदाय विशेष में प्रचलित थी, किन्तु बौद्धकाल में उसका घोर दुरूपयोग हुआ और वह सम्प्रदाय छिन्न-भिन्न होकर अस्त प्राय हो गया। तदनन्तर आद्य शंकराचार्य ने दक्षिण मार्ग का एक परिष्कृत रूप लोकोपकारार्थ प्रस्तुत किया। आज तक अनवरत् रूप से वही परम्परा चली आ रही है।

इस मार्ग का प्रामाणिक ग्रन्थ श्री गौडपादाचार्य विरचित - 'सुमगोदय - स्तुति' है। शंकर भगवत्पाद विरचित सौन्दर्य इसकी अनेक आचार्यों द्वारा की हुई अनेक टीकाएं भी उपलब्ध हैं। इसके सौ श्लोक सौ ग्रन्थों के समान हैं। यह भगवती की साक्षात् वांगमयी मूर्ति ही है। इसी के आधार पर विरचित पद्धतियां दक्षिण और उत्तर भारत से प्रकाशित हुई हैं। इन पद्धतियों के अनिुसार पूजा करने में कम से

कम ढाई घंटे का समय लगता है। इसकी यह विशेषता है कि इतने समय में मन इधर-उधर कहीं नहीं जा पाता। फलतः क्रमशः आणव कार्मिक मायिक मलों की शुद्धि से उपास्यतत्व की उपलब्धि हो जाती है। 'अविद्यया मृत्यं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते', इस श्रुति के अनुसार कर्मकाण्ड द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने पर तत्वज्ञान की स्थिति बनती है। इस प्रकार इस साधना की विशेषता यही है कि इससे भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं।

यह एक परम कल्याणकारी सरल सुगम साधना है 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' के अनुसार ऐसे कल्याणकारी कार्यों में प्रायः विघ्नों की संभावना रहती है, इसलिए इसमें महागणपति की उपासना आवश्यक है।

जैसे राजा से मिलने से पहले मंत्री से मिलना आवश्यक है वैसे ही मातंगी की उपासना भी इसकी अंगभूत हैं। मातंगी पराम्बा, राजराजेश्वरी, ललिता, महात्रिपुरसुन्दरी की मंत्रिणी हैं। इनके 'श्यामला', 'राजमातंगी' आदि नाम हैं। ये भक्त समस्त ऐहिक मनोरथ पूर्ण करती हैं। शिष्टानुग्रह और दुष्ट निग्रह के लिए 'वार्ताली' का उपासना क्रम भी अनुष्ठेय है ये पराम्बा की दण्डनायिका (सेनाध्यक्ष) है। इनके वाराही, वार्ताली, क्रोडमुखी आदि नाम हैं। ये साधक की सब प्रकार से रक्षा करती है। इस प्रकार इसमें गणपति क्रम, श्री क्रम, श्यामला क्रम, वार्तालिक्रम, परा-क्रम, ये पांच क्रम विहित हैं।

प्रातःकाल गणपति क्रम, पूर्वान्ह में श्री क्रम अपरान्ह में श्यामला क्रम रात्रि में, वार्तालीक्रम और उषाकाल में 'पराक्रम' का विधान है। इन पांच क्रमों की सपर्या-पद्धति भी प्रकाशित है। 'श्री विद्यारत्नाकर' में इनके यंत्र-मंत्र, पूजा विधान, जप आदि का सांगोपांग विवरण है। इस छोटे से लेख में इनका विशद विवेचन सम्भव नहीं है। दीक्षाकाल में ही इनका गुरूद्वारा निर्देश होता है। इन क्रमों के प्रभाव से ही यह श्री विद्या साधना भोग मोक्ष प्रदायिनी कही गयी है।

इस प्रकार श्रीयंत्र की पूजा मात्र से ही जीव शिव भाव को प्राप्त हो जाता है। योग एवं वेदान्त आदि ये अत्यन्त क्लिष्ठ और चिरकालसाध्य है। इसके विपरीत तांत्रिक विधि के साधन सरल, सर्वजनोपयोगी तथा शीघ्र ही अनुभूति प्रदान करने वाले हैं।

श्रीयंत्र की पूजा मात्र से आत्मज्ञान कैसे होता है। इसका संक्षिप्त परिचय देना हो तो कहा जायेगा

कि समस्त साधन सारणियों का चरम लक्ष्य है 'मनोनिग्रहं मन की एकाग्रता। यदि उत्तमोत्तम साधन मार्ग भी अपनाया गया, किन्तु मन एकाग्र नहीं हुआ तो सारा प्रयास विफल है। 'मन एवं मनुष्याणी कारणं बन्धमोक्षयोः।' सांसारिक व्यवहार से लेकर निर्गुण ब्रह्मज्ञान तक मन ही कारण है। मनोयोग ही समस्त कार्य कलापों में प्रधान है।

श्री सदाशिव प्रोक्त आगम साधना-सरणि में तो समस्त क्रियायें ही मन को एकाग्र करने के लिए बतायी गयी है - श्रीमद् भागवत् में लिखा है -

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीषुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोकेन च केशवम् ।।

अर्थात् 'जो शीघ्र हृदय ग्रन्थि का भेद न चाहता है, वह तांत्रिक विधि से केशव की आराधना करे।' 'केशव' यह उपलक्षण है, किसी देवता की साधना करे।

'श्री विद्या साधना' तन्त्र शास्त्रों में सर्वोच्च मानी गयी है। इसे भगवती पराम्बा के निर्बन्ध से भगवान विश्वनाथ ने प्रकट किया है। अतः इसमें एक को एकाग्र करने की विशिष्ट क्रियाएं समवेत की गयी है। देखिए - श्री यन्त्र की पूजा में मन को किस प्रकार एकाग्र करने की विलक्षण प्रक्रिया है -

देवो भूत्वा यजेद् देवान् ना देवो देवमर्चयेत्।

देवता बनकर ही देवता का पूजन करने का शास्त्र का आदेश है। इस पूजा में सर्वप्रथम भूतशुद्धि का स्पष्ट विधान है। जिसमें प्राणायाम द्वारा हृदय में स्थित पाप पुरूष का शोषण दहनपूर्वक शाम्भव शरीर का उत्पादन कर पंचदश-संस्कार, प्राण प्रतिष्ठा, मातृकादिन्यासों से मंत्रमय शरीर बनाया जाता है, जिससे देव भाव की उत्पत्ति होती है। तंत्रों में महाषोढ़ न्यासादि का महाफल लिखा है - 'एवं न्यासकृते देवि साक्षात् परशिवो भवेत्'। इस प्रकार स्वथ्य मन, स्वच्छ वस्त्र और सुगन्धित वस्तुओं से सुरभित वातावरण में यह पूजा की जाती है।

श्री यन्त्र की पूजा करने के लिए कलश, सामान्यार्घ्यपात्र, विशेषार्घ्य (श्री पात्र) शुद्धिपात्र, गुरू पात्र, आत्मपात्र आदि पूजा पात्रों का आस्वादन होता है।

सामान्यार्घ्य की उपासना को ही लीजिए तो पहले पत्राधार के लिए एक मण्डल बनाया जाता है उसका मूलमंत्र के षडंग से अर्चन होता है फिर उस पर आधार का स्थापन होता है। उसमें अग्नि मंत्र से अग्नि मण्डल की भावना की जाती है। एवं दस वह्नि कलाओं का पूजन होता है। तदनन्तर आधार पर सामन्यार्घ्य पात्र का स्थापन किया जाता है। फिर उसमें सूर्य मंत्र से सूर्यमण्डल की भावना कर द्वादश सूर्य कलाओं का अर्चन होता है फिर कलाओं का पूजन होता है फिर षडंग, अर्चन किया जाता है। इस प्रकार सामान्यार्घ्य स्थापना करने में इतना क्रिया कलाप है। विशेषार्घ्य स्थापन में इससे भी अधिक प्रपन्च ही इस तरह पात्रों का स्थापन करने की क्रिया में ही मन को इतना समाहित किया जाता है। फिर अन्तर्याग, नवावरण में शताधिक शक्तियों का अर्चन, जिससे तत्तत् शक्तियों का मंत्रोच्चारण, श्री यन्त्र के तत्तत् कोण में स्थित तत्तत् शक्ति का ध्यान, पुष्पाक्षत् निक्षेप एवं श्री पात्रामृत से तर्पण - यह क्रिया एक शक्ति के अर्चन में एक साथ होनी आवश्यक है। इसमें किन्चित भी मन विचलित हुआ तो पूजन क्रम में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। अतः इन क्रियाओं के सम्पादन में साधक का मन बलात् एकाग्र हो जाता है।

इस प्रकार पूजा के अनवरत् प्रयोग से मन का चान्चल्य दूर होकर वह समाहित होने लगता है। मन की यही स्थिति ध्यान एवं समाधि अवस्था की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार इसी जीवन में क्रमशः श्रीयन्त्र की यह पूजा जीव-मुक्तावस्था एवं शिवत्वभाव की प्राप्ति का अनुपमेय अमोघ साधन है जैसा कि कहा है -

स्वमेव महाचक्रसंकेतः परमेश्वरि।
कथितस्त्रिपुरादेव्याः जीवन्मुक्ति प्रवर्तकः।।

श्री विद्या मन्त्र -

श्री विद्या मंत्र श्री यन्त्र की पूजा का अभिन्न अंग है मंत्र के चार रूप हैं - बालात्रिपुर सुन्दरी त्र्यक्षरी, पन्च दशाक्षरी, षोडशी एवं महाषोडषी। फिर इनके अनेक अवान्तर भेद हैं। इनमें कादि और हादि दो मुख्य भेद प्रचलित हैं कादि मंत्र की उपासना परम्परा अत्यन्त विशाल है। आचार्य शंकर ने भी 'त्रिशती' पर भाष्य लिखकर कादि मन्त्र को ही विशेष महत्व दिया है इसे सत्तर करोड़ मंत्रों का सार माना जाता है।

वर्णमाला के पचास अक्षर हैं। इन्हीं पचास अक्षरों से समस्त वेदादि शास्त्र एवं समस्त मंत्र विद्या ओत-प्रोत है इस वर्णमाला का नाम 'मातृका' है। यह समस्त वांगमय एवं विश्व की प्रसवित्री है। 'नित्याषोडशिकार्णव' की मातृका स्तुति में सर्वप्रथम मंगलाचरण के रूप में इसी का उल्लेख है कहा है कि जिसके अक्षर रूप महासूत्र में ये तीनों जगत् - स्थूल, सूक्ष्म, समस्त ब्रम्हाण्ड अनुस्यूत है उस सिद्ध मातृका को हम प्रणाम करते हैं -

यद क्षर महासूत्र प्रोत मेतज्जागलयम्।

ब्रम्हाण्डादि कटाहान्तं तां बन्दे सिद्धमातृकाम।।

भगवान सदाशिव ने मातृका के सार सर्वस्व से अचिन्त्य, अनन्त, अप्रमेय महाप्रभावशाली महामंत्र का प्राकट्य किया है। 'योगिनी हृदय' ने इसे जगत के माता-पिता, शिव-शक्ति के सामरस्य से समुद्भूत माना है -

शिवशक्ति समायोगाज्जनितो मंत्रराजकः

वेद विद्या के मंत्र प्रकट हैं, जबकि श्री विद्या मंत्र गुप्त हैं। श्री विद्या का मंत्र सम्प्रदाय पुरस्पर गुरू परम्परा के द्वारा प्राप्त करने से ही इसके रहस्य का ज्ञान हो सकता है। इस मंत्र के अनेक आकार-प्रकार हैं। इसके छः प्रकार के अर्थ है - भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगमार्थ, कौलिकार्थ, सर्वरहस्यार्थ और महातत्वार्थ। यह सब गुरू परम्परा के द्वारा ही लक्ष्य है। 'योगिनीहृदय' में यही कहा गया है -

मंत्र संकेतकस्तस्या नानाकरो व्यवस्थितः।

नानामन्त्र क्रमेणैव पारम्पर्येण लभ्यते।।

स्वामी करपात्री जी एवं वाह्यपूजा पद्धति मानसिक आराधना -

साधकों को इसका पूर्णक्रम जानने हेतु विभिन्न ग्रन्थों की अपेक्षा रहती थी फिर भी किसी ग्रन्थ में क्रमबद्ध प्रवाहरूपेण ऐसा कोई विधान उपलब्ध न था जो जिज्ञासुओं की जिज्ञासा पूर्ति कर सके किन्तु आचार्य चरण ने श्रीविद्या के समस्त विधि विधानों का सांगोपांग सम्पादन कर 'श्री विद्या रत्नाकर' को

उपासकों के प्रशस्त साधना मार्ग के मार्गदर्शक रूप में प्रदान किया। इस ग्रन्थ में जैसी क्रमबद्धता, पूर्णता व प्रवाह है वह वस्तुतः लोकोत्तर अद्यावधि सम्पूर्ण विधियों से सज्जित श्री विद्या का अन्य ग्रन्थ दृष्टिपद में न था। एकमात्र इसी ग्रन्थ के अवलोकन से श्रीविद्या का स्वरूप, श्रीचक्र श्रीयन्त्र का उपासना क्रम पूर्णतः ज्ञात हो जाता है।

यद्यपि इससे पर्वू, श्री विद्या वरिवस्या, त्रिपुर सुन्दरी वरिवस्या का प्रकाशन हो चुका था किन्तु श्री विद्यारत्नाकर अपने नाम की सार्थकता में पूर्णतः सक्षम है। आचार्य ने श्री विद्यार्णव, कुलार्णव, कल्पसूत्र, तन्त्रराज, नित्योत्सव, त्रिपुरा रहस्यादि अनेक ग्रन्थों के सारतम भाग से इस ग्रन्थ रत्न का निर्माण किया है। श्री विद्यारण्य स्वामी के श्रीविद्यार्णव के अनुसार 'श्री विद्यारत्नाकर' में सबसे उत्तम तथा सर्वहित कारण दीक्षा क्रम का सर्वप्रथम वर्णन करते समय स्वामिपाद ने गुरू-शिष्य लक्षण का सविस्तार विवेचन किया है जिसके बिना उपासना क्रम ही सुदृढ़ नहीं रह सकता। गुरूमुख से प्राप्त मंत्र ही फलप्रद होता है (36) - 'आचार्या द्वैव विद्या साधिष्ठं प्राप्त'। शिष्योचित लक्षणों से युक्त अधिकारी जिज्ञासु (साधक) को ही दीक्षा देनी चाहिए अन्यथा वह निष्फल सिद्ध होगी तथा अनधिकारी शिष्य गुरू के लिए भी दुख रूप ही होगा।(37) गुरूचरणों में दृढ़भक्ति शिष्य के लिये परमावश्यक है, मंत्रसिद्धि का यही केन्द्र बिन्दु है। गुरू शिष्य परम्परा भारतीय संस्कृति की मूल भित्ति है तथा प्रत्येक सम्प्रदाय में सर्वमान्य है।

'नित्योत्सव' अनुसार दीक्षाकाल का विधान करके दीक्षापद्धति को भी सुस्पष्ट कर दिया है। दीक्षा का अर्थ है -

'दीयते ज्ञानम त्यन्तं क्षीयते पापसश्चयः।
यथा दीक्षेति सम्प्रोक्ता परलोक प्रदायिणी।'

क्रमेण शाम्भवी दीक्षा, शाक्ती दीक्षा का पुनश्च दीक्षा की लघुविधि का क्रम प्राप्त है।(38) अग्रपूज्य मंगलकरण विघ्नहरण महागणपति का आराधना क्रम (जो श्रीविद्योपसाना में परमावश्यक है) वर्णित है। तत्पश्चात् चतुरावृत्ति तर्पण, म्यास, ध्यान, गणपति सपर्यापद्धति, योगमंदिर प्रवेश, तत्ववाचंकन, श्री गुरूपादुकागन्त्र की विधि का स्पष्टीकरण है। घंटापूजा, संकल्प, आसनपूजा, दीपपूजा, मातृकान्यास के पश्चात् कलश स्थापन, सामान्यार्ध्य विधि, विशेषार्ध्य विधि के पश्चात् पीठ प्राण प्रतिष्ठा, पीठशक्ति पूजा,

धर्माधिष्टक पूजा, अन्तर्याग का सविस्तार वर्णन है। षोडशोपचार पूजा, चतुरायतनपूजा, महागणपति तर्पण, षडंगपूजा, गुरूमण्डलार्चन, दिव्यौघ, सिद्धौघ मानवौघ के पश्चात् आवरण देवता का ध्यान, प्रथमावरण से पंचमावरण पूजा, षोडशानामार्चन धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, कुलदीप, कर्पूर नीराजन, मंत्र पुष्प द्वारा पुष्पांजलि समर्पण विधान है।

तांत्रिक नित्य होमविधि, बलिदान, गणेशाष्टक द्वारा महागणपति का स्तुतिक्रम है। सुवासिनी पूजा, बटुकपूजा, सामयिक पूजा, तत्वशोधन, पूजा समर्पण, शान्तिस्तव, उल्लेख है। साथ ही श्री गणेश पंचरत्न स्तोत्र, गणपत्यथर्व शीर्षक भी दिये गये हैं।

इस प्रकार नित्यक्रम के पश्चात् पुरश्चरणविधि, श्रीमहागणपति सहस्रनामावलि, श्रीगणेश्वरैक विंशतिनामानि साधकों के हितार्थ वर्णित है।[39]

एतावता महागणपतिक्रम के पश्चात् 'श्रीक्रम' का उपक्रम किया गया है - ब्राह्म मुहुर्त कृत्य, श्री गुरूपादुकापन्चकम्, कुण्डलिनी मंत्र, ध्यान कुण्डलिनी स्तुति, अजपाजपविधि, रश्मिमालामंन्त्राः, प्रातः कृत्य, भूप्रार्थना, दन्तधावन, स्नानविधि, सन्ध्याविधि।(40)

श्री विद्या सपर्या प्रकरण में सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय गुरू स्त्रोत के पश्चात् यागमंदिर प्रवेश, तत्वाचमनम् - जो जब अनुष्ठान के पूर्व तत्वशोधन के लिए अत्यावश्यक है पुनः गुरू पादुकामंत्र, घण्टापूजा, संकल्प, आसनपूजा, देहरक्षा, लघुप्राण प्रतिष्ठा और मन्दिर पूजा का क्रम है। दीपपूजा के अनन्तर भूतशुद्धि, भूतोपसंहार, आत्मप्राण प्रतिष्ठा मातृकान्यासः, ध्यान, अन्तर्मातृका बहिमतृिका, तत्पश्चात् करशुद्धिन्यास, आत्मरक्षान्यास, बालाषडंगन्यास, चतुरासनन्यास, वाग्देवतान्यास, बहिश्चक्रन्यास, अन्तश्चक्रन्यास, कामेश्वर्यादिन्यास, मूलविद्यान्यास।(41)

षोडशी उपासकों के लिए विशेष न्यास का वर्णन किया गया है जिसका क्रम इस प्रकार है- श्रीषोडशाक्षरीन्यास, सम्मोहनन्यास(42) संहारन्यास, सृष्टिन्यास, स्थितिन्यास, लघुषोडान्यास, गणेशन्यास, ग्रहन्यास, नक्षत्रन्यास, योगिनीन्यास, राशिन्यास, पीठन्यास।(43)

तदन्तर श्रीचक्रन्यास, त्रैलोक्य मोहन चक्रन्यास, सर्वशापरि पूरक चक्रन्यासः,सर्वसंक्षोभण चक्रन्यास सर्वसौभाग्यदायक चक्रन्यास, सर्वार्थसाधकचक्रन्यास, सर्वरक्षाकर चक्रन्यास, सर्वरोगहर चक्रन्यास, आयुधन्यासः, सर्वसिद्धि प्रदचक्रन्यासः, सर्वानन्दमय चक्रन्यास, महाषोडान्यास, अंगन्यास के अन्तर्गत महाषोडान्यास, प्रपन्चन्यास अथ भुवनन्यास, मूर्तिन्यास, मन्त्रन्यास, देवतान्यास, मातृकाभैरवन्यास।(45) कुलार्णवतंत्र के अनुसार महाषोढान्यास का फल अत्यन्त अद्भुत रूप में वर्णित है। महाषोढान्यास करने वाला साक्षात् शिवस्वरूप हो जाता है सभी देवता उसको नमस्कार करते हैं। सम्पूर्ण भूत प्राणियों से निर्भय हो जाता है तथा सर्वत्र विजय लाभ यश प्राप्त करता है।(46)

श्री चक्र पूजाक्रम में सर्वप्रथम यात्रासादन किया जाता है। वर्धनी कलशस्थापन, सामान्यार्घ्य विधि, विशेषार्घ्यविधि, शुद्धि संस्कार, बह्निकला, सूर्यकला, सोमकला, ब्रह्मकला, विष्णुकला, रूद्रकला, ईश्वरकला सदाशिवकला इन विधियों के सम्पादन(47) विसर्जन पर्यन्त शंख और विशेषार्घ्य पात्र को स्थिर रखना चाहिए। पुनश्च अन्तर्याग, ध्यान चतुः षष्ट्युपचारपूजा (64 प्रकार की) चतुरायतन पूजा, गणपति पूजा, सूर्य

पूजा, विष्णुपूजा, शिवपूजा, लयांग पूजा, षडंगाचर्नम्, नित्यदेवीयजनम्, गुरू मण्डलार्चनम[48] तत्पश्चात् श्रीचक्र की आवरण पूजा प्रारम्भ होती है। प्रथमावरण, द्वितीयावरण, तृतीयावरण, तुरीयावरण, पंचमावरण, षष्ठावरण, सप्तमावरण, अष्टमावरण, नवमावरण [49] अर्चन करने के बाद पंचपन्चिका पूजा, पन्चकोशाम्बा, पन्चकल्पलता, पन्चकामदुघा, पन्चरत्नाम्बा, षडदर्शन विद्या, षडाधार पूजा, आम्नाय समष्टि पूजा पद्धति क्रम प्राप्त है।[50] दण्डनाथा नाम, मंत्रिणीनाम, ललितानाम तथा यथावकाश सहस्त्रनामावली के द्वारा श्रृंगार नायिका श्रीदेवी का पूजन करना चाहिए। मंत्र पुष्पांजलि समर्पण करके कामकलाध्यान, होम बलिदान विधि के प्रदक्षिणा के पश्चात् पुष्पांजलि स्त्रोत से भगवती ललिता महात्रिपुर सुन्दरी को पुष्पांजलि समर्पित करनी चाहिए।[51]

श्री विद्योपासकों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण स्त्रोत यथास्थान प्रस्तुत करके आचार्य चरणों में सोने में सुगन्ध की उक्ति को चरितार्थ कर दिया है इस क्रम में कल्याण वृष्टि स्त्रोत, सर्वसिद्धिकृत स्तोत्र मननीय है।[52] सुवासिनी पूजन तत्वशोधन, देवतोद्वासन, श्री दक्षिणामूर्ति सम्प्रदायानुसार श्रीचक्र में त्रिवृत्तार्चन की विधि दर्शनीय है।[53]

श्री चक्र स्वरूप श्री चक्रमहिमा, जपविधि जपोत्तरांग मंत्र इस प्रकार जप विधिपूर्ण होती है।[54]

कादि विद्या के पूर्वोक्त क्रम के पश्चात् अब हादि विद्या के न्यास, ध्यान आदि प्रारम्भ होते हैं।

'हादि विद्यान्यास, ध्यान', श्री महाषोडशी महिमा, श्री सुन्दरी भेद तत्पश्चात् होम प्रकरण का शुभारम्भ होता है[55] श्यामादि का उपासना काल कृत्वर्थ नियम, श्रीचक्र प्रतिष्ठापन विधि मुद्राप्रकरण के अंतर्गत श्री गुरूवन्दन मुद्रा अर्ध्यस्थापनमुद्रा, की अर्चन की मुद्रायें सड्क्षोमिष्यादिमुद्रा, न्यासमुद्रा, जपमुद्राओं के पश्चात् नैमित्तिक प्रकरण के अंतर्गत नैमितिकार्चन विधि नित्यक्रम से नैमित्तक में पन्च पर्व में विशेषार्च्या का विधान, निवेदन में पक्ष भेद, दमनविधि, चैत्र पूर्णिमाकृत्य, वैशारवकृत्य, ज्यैष्ठकृत्य, आषाढ़कृत्य, पवित्रा रोपणविधि, भाद्रपद कृत्य, आश्वयुजकृत्य, कार्तिक कृत्य, मार्ग शीर्ष कृत्य, पौषकृत्य, माघकृत्य, फाल्गुन कृत्य विधियों का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है।[56]

श्री श्यामला (मातंगी) अर्चाक्रम में यागमंदिर प्रवेश प्राणायाम षडंगादि न्यास पंचक, मंदिरार्चन, यन्त्रोद्वार, चक्रदेवी पूजा दिव्यौध, आवरणार्चन, गुरूपाद पूजा, बलिदान, श्रीमातंगीश्वरीमंत्रजप, मातंगी स्तुति,

श्रीश्याम लादण्डक, सुवासिनी पूजादिशेषकृत्यम्, श्यामोपसकनियम, पुरश्चरण विधान, जपकाल, पुरश्चरणांग होम, पुरश्चरणांर्ग तर्पणम, पुरश्चणांग भोजन, होम प्रत्याम्नायोजप, सिद्धिपर्यन्त पुरश्चणस्य अभ्यास, पुरश्चचरण प्रत्याम्नाय विधियों का दिग्दर्शन कराकर कूर्मचक्र लक्ष तथा मालासंस्कार अक्षरमालासंस्कारा नपेक्ष, रूद्धाक्ष माला संस्कार, मालान्तर संस्कार, देवताभेद से सूत्रभेद, माला संस्कार काल, मालाभेद सेफल भेद, सूत्र जीर्णतादौ प्रायश्चित, जपभेद आदि विविध विधियों के वर्णन के पश्चात् होम में वह्नि स्थिति पर विचार किया गया है। कुण्ड स्थण्डल परिमाण, होमे इति कर्तव्यता विशेषा काम्यहोम्पद्धका का मान और फल, पुरश्चकाल में विहित और निष्द्धि कर्म भोज्य, अभोज्य, और भोजन पर्याय को स्पष्ट किया गया है।(57)

श्री वार्ताली (वाराही) क्रम के अंतर्गत श्रीदण्डिनीक्रम यागमंदिर प्रवेश, प्राणायाम, द्वितारीन्यास, करषडंगन्यास, अर्घ्यशोधनम्, सप्तार्णमंत्रप्रपन्चकन्यास, अष्टखण्डन्यास, मातृकास्थानेषु मूल पद न्यास, तत्वाष्टकन्यास, यंत्रप्राण प्रतिष्ठा, पीठ पूजा मूर्ति कल्पनम्, देवीध्यान, देव्या षोडशोपचार पूजा, देवीतर्पणम्, ओघत्रयय जन, आवरणार्चन, पूजा बलिदानादि, मंत्रजप, वाराही स्त्रोत, वृन्दाराधन, गुरूसन्तोषण, शक्ति बटुकपूजा, हविप्रतिपत्ति, मंत्रसाधन, आते हैं।(58)

पराक्रम के अन्तर्गत कल्यकृत्य और आह्निक, यागमंदिर प्रवेश प्राणायाम, अंगन्यास, चिदग्नौ सर्वतत्वविलापन, अर्घ्यशोधन, तत्वकदम्बस्यहत्य-द्मस्थान, पराचक्रनिर्माणम्, चक्रदेवी पूजा, देव्याम् अखिलतत्व होम भावनम् गुर्वोधत्रपयजन, बलिदान, परामनुज, परास्तुति हविशेषस्वीकरण, मंत्रसाधन ये विधियां आती हैं।(59)

परिशिष्ट भाग में श्री विद्या मंत्र का भाष्य किया गया है जो अपने में अद्भुत है। इसमें पूज्य श्री आचार्य चरण के प्रौढ़ पाण्डित्य गहन तत्वज्ञान और रहस्यज्ञता के दर्शन होते हैं। वान्छा कल्पलता और पूर्णाभिषेक विद्या न के पश्चात् श्री महात्रिपुर सुन्दरी मानस पूजा स्त्रोत देकर साधकों के लिए मानस पूजा पद्धति और ध्यान का दिग्दर्शन कराया गया है। श्री विद्या के सर्वस्वभूत षडाम्नायमंत्र, पूर्वाम्नाय, गुरूमण्डल, देवता, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमम्नाय, उत्तराम्नाय का वर्णन प्राप्त है। पंचदशीपक्ष में चतुराम्नाय तथा षोडशी पक्ष में षडाम्नाय का वर्णन है ऊर्ध्वाम्नाय, गुरूमण्डल, अनुत्राम्नाय, गुरूमण्डल तथा खड्गमालामंत्र का विवेचन है। त्रिपुरारहस्योक्त श्री ललिता लक्षार्चन तथा श्री सूक्त मूलपाठ एवंम्च त्रिपुरारहस्योक्त ज्ञान

कालिका स्त्रोत उपासकों को आनन्द प्रद है।(60) भगवान शंकराचार्य की सम्पूर्ण सौन्दर्य लहरी भी आचार्य श्री ने इसी में निबद्ध कर दी है, जिसके साधक जिज्ञासुओं को एकत्र ही सम्पूर्ण सामग्री उपलब्ध हो जाती है।(61) इतना ही नहीं तंत्रराजोक्त नित्याकवच श्री ललिता सहस्त्र नामावली, श्री ललिताष्टोतरशत नामावली, ललितात्रिशतीस्ते।त्ररत्नामावलि, से सभी श्री विद्योपासको को एकत्र प्राप्त हो जाते हैं।(62)

प्रयोग विधिसमेत भावनोपनिषद श्री महासुन्दरी हृदय तथा श्री ललिताचतुष्पट्‌युपचार मानस पूजा साधकों के हितार्थ श्री विद्या रत्नाकर में सहज ही प्राप्य है।(63) एतावता (इस प्रकार) श्री विद्यारत्नाकर श्री विद्या का पूर्णग्रन्थ है, इसमें किंचित भी सन्देह नहीं है।

भगवान शंकराचार्य ग्रन्थों के पश्चात् श्री विद्योपासना की पूर्ण विधि से समलकृत यही ग्रन्थ प्रतीत होता है।

एतावता आद्य जगद्‌गुरू भगवान् शंकराचार्य के पश्चात् श्री विद्या सम्प्रदाय का आचार्यत्व स्वामी श्री करपात्री जी महाराज को प्राप्त है क्योंकि आपने आधुनिक युग में भी श्री विद्या की प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु मात्र शाब्दिक ही नहीं कायिक क्रियान्वित रूप से अपूर्व योगदान किया है। स्वामी करपात्री जी सहज पूर्णकाम निष्काम होने पर भी आपने स्वयं कठोर साधना द्वारा श्रीविद्या की आराधना की है। विषयभोग प्रधान इस आधुनिक युग के तपोमूर्ति यतिचक्र चूड़ामणि आचार्य श्री ने मात्र लोक कल्याणार्थ श्रीविद्या की उपासना पद्धति को पुनः प्रतिष्ठापित किया है। आपके ये ग्रन्थ रत्न 'गागर में सागर' भर देने वाली उक्ति को प्रमाणित कर रहे हैं।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. खिस्ते श्री नारायण शास्त्री, कल्याण शक्ति उपासना अंक पृष्ठ 113

2. मं0 सीताराम शास्त्री, कल्याण, शक्ति उपासना अंक 31-32, पृष्ठ 240

3. सौन्दर्यलहरी, 31

4. मं0 सीताराम शास्त्री, कल्याध-शक्ति उपासना अंक 31-32 पृष्ठ 241

5. सरस्वतत्या लक्ष्म्या विधिहरि सपत्नो विहरते,
   रतेः, पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येणवपुषा।
   चिरं जीवन्नेव क्षपित पशु पाशव्यतिकरः,
   परानन्दाभिरव्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान्।।

   - सौन्दर्य लहरी - 101

6. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री) भक्ति सुधा, श्रीराधाकृष्णन धानुका संस्थान, कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 86-87

7. वही, पृष्ठ 87

8. खिस्ते श्री नारायण शास्त्री, कल्याण - शक्ति उपासना अंक, पृष्ठ 117

9. स्वामी करपात्री जी, श्री विद्यारत्नाकरः, श्रीविद्या साधना पीठ वाराणसी, 1986, पृष्ठ-212

10. श्री सीताराम शास्त्री, कल्याण, शक्ति उपासना अंग 241-242

11. वही, पृष्ठ 241

12. शवारूढ़ां महाभीमां घोरदष्ट्रां हसन्मुखीम्।
    चतुर्भजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम्।
    मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जितहवां दिगम्बराम्।

एवं सच्चिन्तयेत् काली श्मशानालयवासिनीम्।।

- स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी) - भक्ति सुधा श्रीराधा कृष्ण धानुका प्रकाशन-कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 129

13. प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रि ध्नशवहृद्घोराट्टाहासापरा
खड्गेन्दीवर कत्रिखर्पर भुजा हुंकारबीजोद्भवा।
खर्वानील विशाल पिंगंलजटाजूटैक नागैर्युत
जाड्यं न्यस्य कपालकर्त गगता हन्त्युग्रतारास्वयम्।।

- वही पृष्ठ 129

14. प्रकृतिः पुरूषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति।
तदन्तस्त्वेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे।।

- वही, पृष्ठ 129

15. मुक्तापीतपयोद मुक्ति कज पावर्णैर्मुखैः पंचभि
स्त्र्यक्षैरन्चितमीशमिन्दु मुकुटं पूर्णेन्दुकोटि प्रभम्।
शूलं टंक कृपाण वज्रदहनान् नागेन्द्रयाशाड्कुशान्।
पाशं भीतिहरं दधानममिता वागम्योज्वालागं भजे।।

- वही, पृष्ठ 130

16. बालार्क मण्डला भासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।
पाशांकु शशरांश्चापं धारयन्ती शिवां भजे।।

वही, पृष्ठ - 130

17. उद्यद्दि न द्युति मिन्दुकरीटां तुंगकुचां नयनत्रय युक्ताम्।
स्मेरमुखी वरदांकु शपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्।।

- वही, पृष्ठ 131

18. प्रत्यालीढपदां सदैव दधती छिन्नं शिरः कत्रिकाम्,
दिग्वस्त्रां स्वकबन्धशोणित सुधाधारां पिबन्ती मुदाम्।
नागाबद्धशिरोमणिं त्रिनयां हृद्युत्पलालङ्कृतां,
रत्यासक्तमनोभवो परिद्गृढ़ां ध्यायेज्जवासन्निभाम्।।
दक्षेचातिसिता विमुक्त चिकुरां कत्री तथा खर्परं,
हस्ताम्यां दधतीं रजोगुणभुवा नाम्नाऽपि सावर्णिनाम्।
देव्याश्छिन्नकबन्धतः पतदसृग्धारां पिबन्ती मुदा,
नागाबद्ध शिरोमणि र्मुनुविदा ध्येया सदा सा सुरैः।।
प्रत्यालीढपदा कबन्धविगलद्रक्तं पिबन्ती मुदा,
सैषा या प्रलये समस्तभुवनं भोक्तुं क्षमा तामसी।।

- वही, पृष्ठ 131

19. उद्यद्भानुसहस्र कान्तिमरूणक्षौमां शिरोमालिकां
रक्तालिप्त पयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं
देवीं बद्धहिमांशु रत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम्।।

- वही, पृष्ठ 132

20. "विवर्णा चन्चला दुष्टा दीर्घा च मलिनाम्बरा।
विमुक्तकुन्तला वै सा विधवा विरलद्विजा।।
काकध्वजरथारूढ़ा विलम्बित पयोधरा।
शूर्पहस्तातिरूक्षाक्षा धूतहस्ता वरानना।।
प्रवृद्धघोणा तु भृशं कुटिला कुटिलेक्षणा।
क्षुत्पिपासार्दिता नित्यं भयदा कलहास्पदा।।"

- वही, पृष्ठ 132

21. "मध्ये सुधाब्धिमणिमण्डप रत्नवेदी सिंहासनोपरिगतां परिपीतवर्णाम्।
पीताम्बराभरणमाल्य विभूषिांगी देवी नमामि धृतमुद्गरबैरिजिव्हाम।।"
वही, पृष्ठ 133

22. श्यामां शुभ्राशुमालां त्रिनयन कमलां रत्नसिंहासनस्थां
भक्ता भीष्ट प्रदात्री सुरनिकरक रासेव्य कन्जागिंघ्रयुग्माम्।
नीलाम्भोजांशुकान्तिं निशिचर निकरारण्यदावाग्निरूपां
पाशं खड्गं चतुर्भिर्वर कमलकरैः खैटकान्चांकुशन्च
मातंगी माहवन्तीमभिमत फलदां मोदिनी चिन्तयामि।।"
वही, पृष्ठ 133

23. कान्तया कान्चनसन्निभां हिमगिरी प्रख्यैश्च तुर्भिर्गजैः
हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मया मृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
विभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्जवलां
क्षौमाबद्धिनितम्बवलितां वन्दे अरविन्द स्थिताम्।।
वही, पृष्ठ 133

24. कल्याण शक्ति उपासना अंक, पृष्ठ 268-270

25. कामोयोनिः कमला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वामिः मिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकलामायया च पुरूच्येषा विश्वमाता दि विद्या
-अर्थर्ववेद-

26. श्रीमद्वाग्भव कूटैकस्वरूपमुख पंकजा
कण्ठाधः कटिपर्य्यन्त मध्य कूट स्वरूपिणी।
-ललिता सहस्रनाम ।। 34 ।।

शक्तिकूटैकतापन्न कट्योऽधोभाग धारिणी।
मूल मंत्रात्मिका मूलकूट त्रय कलेवरा।।
-ललितासहस्रनाम ।। 35 ।।

कुलामृतैकरसिका कुलसंकेत पालिनी

-ललिता सहस्रनाम - ।। 36 ।।

27. पाण्डेय श्रीशचन्द्र, सम्मार्ग-तंत्र विशेषांक पृष्ठ - 40

29. झा विनयानन्द, कल्याण शक्ति उपासना अंक 344

29. इमे ये नावागिन परश्चरिन्त न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरस्तिन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः।।

ऋग्वेद (10/71/9)

30. पाठ 5/2/70

31. सांख्यायन 1/16/6

32. झा विनयानन्द, कल्याण शक्ति उपासना अंक 345

33. डबराल ललिता प्रसाद, शक्ति अंक पृष्ठ 593-594

34. चतुर्भिः श्रीकण्ठेः शिवयुवतिभिः पन्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भज्ञेर्नवमिरपि मूलप्रकृतिभिः।।
त्रयश्चत्वारिशद वसुदलरस्त त्रिवलयः
त्रिरेखाभिः सार्ध तव चरणकोणा परिणतः।।

- सौन्दर्य लहरी- ।।

35. पाण्डेय श्रीशचन्द्र, सन्मार्ग तन्त्रविशेषांक, पृष्ठ 35-36

36. ज्ञात्वा गुरुमुखान्नित्यं सम्प्रदाय मतन्द्रितः।
प्रप्यहं स्मरणं कुर्यान्मन्त्रवीर्यस्य सिद्धये।।

- स्वामी करपात्री जी, श्री विद्या रत्नाकर :, श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी, 1986 पृष्ठ-2

37. अस्तिको दृढभक्तिश्च गुरौ मन्त्रे चदैवते।
एवम्विधो भवेच्छिष्य इतरो दुःखकृद्गुरौ।।

- वही, पृष्ठ 5

38. श्री विद्या रत्नाकर पृष्ठ - 6-10
39. वही 11-73
40. 74-96
41. 96-112
42. 113
43. 114-125
44. 125-132
45. 132-142
46. 143
47. 143-155
48. 155-167
49. 168-178
50. 179-183
51. 183-188
52. 189-194
53. 194-200
54. 200-209
55. 209-223
56. 223-237
57. 237-275

58. 277-280

59. 281-287

60. 288-447

61. 449-477

62. 477-497

63. 497-512

अष्टम अध्याय

स्वामी करपात्री जी की विशिष्ट अवदानों का निष्कर्षात्मक अनुलेख

करपात्री जी के विशिष्ट अवदानों का निष्कर्षात्मक अनुलेख

प्रस्तुत पंक्तियों में स्वामी जी के विशिष्ट अवदानों का संक्षिप्त मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

'अवदान' से जहां हमारा तात्पर्य है कि 'जो कर्म प्रशस्त हो और पूरा हो गया है'। शब्दकल्पद्रुम में अवदान शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है -

'ये कर्म प्रवृत्तितते सकले प्रशंसा करे सेई समाप्तकर्म्म'(1)

बीसवी शताब्दी में जिन महापुरूषों ने विशुद्ध भारतीय संस्कृति के आधार पर राष्ट्र के नवजागरण का प्रयास किया उनमें स्वामी जी प्रमुख हैं। उनके समस्त पहलुओं पर विचार करने पर हम उन्हें मात्र एक वर्ग विशेष में नही रख पाते। जहां वे महान-त्यागी तपोनिष्ठ सन्यासी हैं, वहीं दूसरी ओर महान समाज सुधारक, महान राजनीतिज्ञ भी हैं। प्रायः राजनेता भोगवादी होते हैं और सन्यासी भोगवाद का विरोधी। किसी एक व्यक्ति में एक साथ इतने गुण मिलना असंभव तो नहीं वरन् दुष्कर अवश्य है। आइये हम उनके उन क्षेत्रों पर दृष्टिपात करें जिसके लिए उस महषी मनस्वी ने जन्म लिया।

अभिनव शंकराचार्य के रूप में -

यद्यपि स्वामी करपात्री जी सन्यासी थे फिर भी ह्रसोन्मुख सनातन धर्म के पुनरूद्धार के लिए उन्होंने अपनी अन्तिम श्वांस तक प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने अनेकशः भारत का भ्रमण किया और साधारण शैली में लोगों को सनातन धर्म के प्रति जागरूक किया।

बीसवी शताब्दी में वेद विद्या और भारतीय संस्कृति की संस्थापना में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। चार्वाक, बौद्ध, जैन इत्यादि अवैदिक (नास्तिक) सम्प्रदायों के प्रतिवाद का यही कार्य भगवान् शंकराचार्य द्वारा भी किया गया था।

भगवान शंकराचार्य के समय में केवल वैदिक और अवैदिक सम्प्रदायों का भेद था परन्तु करपात्री जी के काल में इन मतभेदों के साथ-साथ सनातन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में भी मतभेद उत्पन्न हो

गया। इस प्रकार करपात्री जी के समय में समस्यायें अत्यन्त जटिल हो गयी। इसीलिए स्वामी जी ने सर्वप्रथम सनातन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया किन्तु इसमें उन्हें बहुत अधिक सफलता नही मिली। अतएव इसे छोड़कर पीठों की स्थापना, वहां पर कर्तव्यनिष्ठा आचार्यों की नियुक्ति तथा वैदिक मर्यादा के पोषक मंदिरों की स्थापना की। आर्य समाज संस्था के साथ भी मिलकर वेदार्थ निर्णय में सन्नब्द्ध रहे। और सनातन वेदार्थ पक्ष को शिखर पर पहुंचाया।

स्वामी जी के समय में भारतवर्ष सम्पूर्ण विश्व की मान्यताओं के साथ सम्बद्ध था। भारतीय राजनीति पाश्चात्य प्रभाव ग्रस्त थी। इन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्वामी जी ने रामराज्य परिषद की स्थापना की। भारत की अखण्डता के समर्थन में तथा दूसरे समय में गोरक्षा आन्दोलनादि कार्यों में कारागार भी गये। वैदिक व्यवस्था का वास्तविक संघर्ष मार्क्सवाद से है, यह मानकर स्वामी जी ने मार्क्सवाद के खण्डन का अनेकशः प्रयास किया।

अपनी वृद्धावस्था में स्वामी करपात्री जी ने वेद विद्या के संरक्षण के लिए महान कठिन परिश्रम किया। उनका ये दृढ़ विश्वास था कि धर्म के मूल वेद और तद्मूलक स्मृति, पुराण, इतिहास, दर्शन प्रमृति शास्त्रों को बाहर करके देखें तो उसकी अन्य देशों से क्या विलक्षणता होगी ये विचारणीय प्रश्न हो जायेगा। क्योंकि वेद भारत माता के प्राण हैं और उनके न रहने से ये देश निष्प्राण हो जायेगा। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अन्य देश भले ही अधिक समुन्नत हों किन्तु अध्यात्म विद्या के क्षेत्र में भारत ही अग्रणी है इसलिए अध्यात्म विद्या के मूलभूत वेदों के जितने भी भाष्य एवं मीमांसायें की गई हैं उनको पुष्ट करते हुए और विरोधी लोगों के द्वारा की गई उनकी मनचाही व्याख्याओं का तर्कसंगत ढंग से खण्डन करते हुए किसी असाधारण वेदभाष्य की आवश्यकता को जानकार स्वामी जी स्वयं उस कार्य की पूर्ति के लिए 'वेदार्थपारिजात' नागक ग्रन्थ के लेखन में संलग्न हो गये।

एक बार स्वामी जी से पूछा गया कि जाति के सम्बन्ध में शास्त्रों में दो प्रकार की व्यवस्था है, जन्मना और कर्मणा। तो इसमें कैसे निर्णय करें ? स्वामी जी ने उत्तर दिया कि जाति के सम्बन्ध में तीन मत हैं - सिंह से उत्पन्न सिंह के कार्य को करने वाला मुख्य सिंह, सिंह से उत्पन्न - श्रृणाल का आचरण करने वाला तथा जन्म से तो मनुष्य किन्तु कर्म से सिंह। जन्म और कर्म दोनों से जो सिंह है वही प्रधान है और द्वितीय दोनों गौण। अतः केवल प्रथम ही मानने योग्य है। उनकी इस

पद्धति से येन-केन प्रकारेण वर्ण-व्यवस्था का ही प्रचलन आज भी है।

एक बार स्वामी जी ने काशी में प्रवचन करते हुए कहा कि कुछ लोगों को यह भ्रम होता है कि आर्य मध्य एशिया से भारत आये और यहां आकर कौल भिल्ल आदि को जीतकर भारत को अपने कब्जे में कर लिया। इसके बाद यवनों ने आकर उन्हें भी जीता और राज्य करने लगे। इसके बाद गौरूण्डा आये और उन्होंने दोनों को जीता और राजा हो गये। इस तरह भारत देश के मूल निवासी न आप लोग हैं न यवन और न ही गौरूण्ड अपितु यह एक धर्मशाला है अतः हिन्दु, मुस्लिम और ईसाई सबका अधिकार है जैसे हिन्दुस्तान, वैसे ही पाकिस्तान और इंग्लिशतान। गोरों की ये कूटनीति इतिहास विषयक शिक्षा में प्रविष्ट हो गई। इस अंश का शीघ्र ही परिष्कार होना चाहिए। यही आर्यों की आर्य निवास भूमि है इसलिए ये आयावर्त्त कही गयी है।

भागवत् के प्रवचन के समय श्री स्वामी जी साक्षात् शुकदेव के रूप में प्रतीत होते थे। विशिष्ट से विशिष्ट विद्वान, साधारण से साधारण जनता सभी उनके श्री मुख से भागवत् सुनकर और उनका पान करके आत्मविभोर हो जाते थे। उनका स्मरण आज भी लोगों को रोमाचित कर देता है।

निष्कर्ष यह है कि आद्य शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा और अद्वैत दर्शन के साथ-साथ वर्णाश्रम व्यवस्था का भी प्रतिपादन किया। उन्होंने किसी नये दर्शन की स्थापना नहीं की। ऐसी ही उस समय की मांग थी,' परन्तु स्वामी जी के समय धर्मदर्शन, सस्कृत, राजनीति, कर्मकाण्ड वेद की अपौरूषेयता इत्यादि विविध विषयों में तर्कयुक्त प्रचार हुआ। विवाह, संस्कार, सम्पत्ति सिद्धान्त, मंदिर प्रवेश से लेकर जन-संसद की व्यवस्था तक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और विभिन्न राजनीतिक दर्शनों का तर्कपूर्ण खण्डन करके उसके विकल्प के रूप में भारतीय व्यवस्थाओं के सांगोपांग रूप को व्यवस्थापित किया।

इस प्रकार का स्तुत्य और बड़ा कार्य भारतीय चिन्तन धारा के पोषक किसी भी भाष्यकार के द्वारा नहीं किया गया परन्तु सामन्जस्य की दृष्टि से कहा जा सकता है कि भगवान शंकराचार्य का जो कार्य अधूरा रह गया था उसे स्वामी करपात्री जी ने बीसवी शताब्दी में पूर्ण करने का प्रयास किया।

सन्यासी के रूप में -

संसार में संतों को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। देवता और मनुष्य, राजा और प्रजा सभी ने सच्चे

सन्तों को अपने से बढ़कर माना है। वास्तव में भगवत्प्राप्त पुरूष को संत अथवा संयासी की संज्ञा दी गयी है। 'सत्' पदार्थ केवल परमात्मा है और परमात्मा के यथार्थ तत्व को जो जान गया है और उपलब्ध कर चुका है, वह सन्त या संयासी है, गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं - 'उस ज्ञान को तू समझ', श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास जाकर उनको भलीभांति दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलता पूर्वक प्रश्न करने से परमात्मतत्व को भलीभांति जानने वाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्वज्ञान का उपदेश करेंगे।[2] वही श्रुति कहती है कि, 'उठो, जागो और महान पुरूषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छूरे की धार दुस्तर और तीक्ष्ण होती है, तत्वज्ञानी लोग उस पथ को भी वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं।'[3] तुलसीदास जी कहते हैं -

मोरे मन प्रभु बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।।

राम सिंधु धन सज्जन धीरा। चन्दन तरू हरि सन्त समीरा।।

स्वामी करपात्री जी ब्रह्मविद् वरिष्ठ उच्चकोटि के सत्युगी महात्मा थे। उनकी विद्वता और वग्मिता से सभी परिचित हो चुके हैं। प्रायः वीतराग महात्मा लोग जीवन से दूर रहते हैं - 'प्राये देवमुनयः सर्वविमुक्ति हेतोः मौनं चरन्ति विजने न परार्थ कामाः।' किन्तु उपर्युक्त उक्ति से भिन्न स्वामी जी धर्मरक्षार्थ समाज को निरन्तर प्रेरणा देते रहे। उनका कथन था कि 'शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी कुछ वर्णित है, अतएव प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों मार्ग का दर्शन वर्णन है, जहां निवृत्ति मार्ग का वर्णन है वहां देह-इन्द्रिय, मन-बुद्धि सबकी चेष्टाओं का अत्यन्त निरोध तक कहा गया है। जिस समय पन्चज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि चेष्टाशून्य हो जाते हैं वही परागति है - वहां शुभाशुभ, सत्य-असत्य, धर्माधर्म सभी का त्याग अभीष्ट होता है।... अतिनिर्विण्णमुमुक्षुओं जिज्ञासाओं को भी संसार से अत्यन्त मुंह मोड़कर आत्म जिज्ञासा में लग जाना पड़ता है।[4]

आज के उल्वण, विषाक्त एवं विपरीत वातावरण में 'सर्वभूत हितेरताः', 'सर्वजन सुखाय', 'सर्वजन हिसाय', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदात्त भावना से भावित होकर इस देश की कोटि-कोटि जनता को स्व-स्व अधिकारानुसार जप, पाठ, पूजा, यज्ञादि, शुभकर्मों से प्रवृत्त कराते हुए परमात्मा की शरणागति प्राप्त करने के विशुद्ध वैदिक संकल्प से ही यज्ञ कार्यों के अनुष्ठान करने के प्रेरित करने का पूरा श्रेय स्वामी करपात्री जी को ही है।

स्वामी जी के इस व्यक्तित्व को देश के ही नही वरन् विदेशीजनों ने भी स्वीकार किया है। परमहंस स्वामी श्री योगानन्द जी के अमेरिकन शिष्य 'मिस्टर राइट' की डायरी के कुछ अंश देखने से उनके माहात्म्य में संदेह उठ ही नही सकता -

भौतिक विश्व के प्रति अनासक्त व्यक्ति के सुखी जीवन की कल्पना कीजिए। वस्त्र समस्या से मुक्त, भोजन के लिए विविध व्यन्जनों की इच्छा से मुक्त, एक-एक दिन के अन्तर से रांधा गया भोजन ग्रहण करने के नियम का पालक, हाथ में भिक्षा पात्र तक नहीं, धन की झंझट तक नहीं, रूपये-पैसे के स्पर्श से दूर, परिग्रह वृत्ति से दूर, ईश्वर से सदैव प्रगाढ़ विश्वास, यातायात की चिन्ता नहीं वे किसी वाहन पर नहीं चढ़ते, किन्तु निरन्तर पवित्र नदियों के किनारे-किनारे पर्यटन करते रहते हैं, आसक्ति से दूर रहने के लिए वे किसी भी स्थान पर एक सप्ताह से अधिक नहीं रूकते। और कैसा विनम्र भाव है उनका। वेदों के असाधारण ज्ञाता। उनके चरण तलों में बैठते समय मेरे मन में एक भव्यता की भावना जागृत हो उठी। ऐसा प्रतीत हुआ कि उनका यह दर्शन वास्तविक और प्राचीन भारत को देखने की मेरी इच्छा का प्रत्युत्तर है, क्योंकि वे आध्यात्मिक महापुरूषों की इस भूमि के सच्चे प्रतिनिधि हैं।'(5)

कहा गया है कि "सर्वज्ञत्व उपाधि सहित परमेश्वर और अल्पज्ञत्व उपाधि सहित जीव- ये दोनों उपाधि रहित अखण्ड ज्योति आत्मा में जिसको अभिन्न रूप से प्रतीत होते हैं और उसी ज्योति स्वरूप आत्मा में जो समस्त बाह्य कल्पनाओं का परित्याग करने वाला है वही वास्तव में सन्यासी है, परमार्थ उपासक है। माया, माया के कार्यभूत शुभ-अशुभ कर्म और अनेक काल जालादि प्रपंचों को एक आत्म स्वरूप में ही परिनिष्ठित होकर दण्डित करने वाला ही त्रिदण्डी है और विषयवासनाओं में अनुरक्त चित्त को संयमित कर स्ववश में करने वाला ही दण्डधारी - दण्डी सन्यासी है।"(6)

स्वामी करपात्री जी को एक सन्यासी के रूप में प्रतिष्ठापित करने से मेरा तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन काल में कठिन सन्यास व्रत का पालन किया वह अनुकरणीय है क्योंकि वे सदैव सनातन धर्म की मर्यादा का अनुसरण करते थे। अपनी विद्वता, तपस्या एवं शास्त्राज्ञता की सार्थकता उन्होंने विश्वकल्याण, परमात्मा की उपासना तथा आत्मचिन्तन में सिद्ध की।

धर्म संरक्षक के रूप में -

आज के इस सांसारिक वातावरण में यहां के कार्यकलापों पर निगाह डाले तो धर्मविहीनता के

अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नही पड़ता। कौन सा मार्ग अपनायें या कौन सा छोड़ दें, एवं वास्तविक सज्जनता क्या है, और असज्जनता क्या, ये पवित्र हैं भी अथवा नही ? इन सबका ज्ञान दुष्कर ही नही असम्भव नजर आता है। पाखण्डता एवं गुरूडम का सांप इतने भयानक रूप से अपना फल फैलाये हुए हैं कि आगे की राह क्या है यह जान पाना बड़ा कठिन हो गया है इन सबके बावजूद हमारा भारत देश धर्मप्राण देश है जिसमें सच्चे साधुओं का आत्यन्तिक अभाव असम्भव है जिनके अथक प्रयास के कारण सत्य सनातन धर्म का संरक्षण होता रहा है और होता रहेगा।

आदि गुरू श्री शंकराचार्य के काल में नास्तिकवाद तथा वेद अमान्य है ऐसे मतों को स्वीकार करने वालों की संख्या का बोलबाला था लेकिन आज की स्थिति उससे भी बदतर तथा कष्टप्रद हो रही है, जिसमें समाज में भौतिकवाद एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने वालों का प्रतिशत अधिक है। कहने का आशय यह है कि शंकराचार्य के सामने की स्थिति से आज की स्थिति अधिक असह्य हो रही है जिससे कि वह व्यक्ति जो कि सच्चा साधु है उसे अधिक समस्याओं से जूझना पड़ेगा। तभी वह इस अधार्मिक एवं उल्वण वातावरण में धर्म एवं वैदिक मर्यादाओं को अक्षुण्ण रखने का प्रयास कर सकता है।

जन-जन तक 'वैदिक मर्यादा का अनुसरण करो' एवं 'धार्मिक वातावरण बनाओ' ऐसे उपदेशों का व्यापक प्रचार-प्रसार करने में अपने सम्पूर्ण जीवन को समर्पित करके जिस व्यक्ति ने अथक प्रयास किया वह महापुरूष स्वामी करपात्री जी थे।

धर्मप्राण स्वामी करपात्री जी ने जहां परमार्थ 'ब्रह्मं सत्यं जगद् मिथ्यां' की दृष्टि को अपने जीवन में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठापित किया था किन्तु वही वे व्यवहार धर्म को प्रमाण मानते थे। वे व्यवहारिक स्थिति में धर्मानुकूल आचरण को बढ़ावा देते थे। उनके अनुसार परमार्थ की जिस अवस्था में व्यवहार समाप्त प्राय सा हो जाता है वही व्यवहार परमार्थ के रूप में परिणत् हो जाता है।

आचार्य रजनीश की पुस्तक 'संभोग से समाधि' के अन्तर्गत अशास्त्रीय सिद्धान्त का खण्डन कर अपनी पुस्तक 'क्या संभोग से समाधि तक?' लिखकर यह सिद्ध किया कि यह मार्ग शास्त्र विरूद्ध है।

भौतिकवाद का अनुसरण करने वाली मान्यताओं को स्वामी जी ने सूक्ष्मता से परखा तथा उनकी निःसारता को प्रतिपादित किया। धर्म संक्षण के लिए प्रदत्त नारों, 'गोहत्या बन्द हों', 'भारत अखण्ड

हो', 'मदिरों की मर्यादा सुरक्षित रहे', 'धर्म में हस्तक्षेप न हो' तथा 'शासन विधान शास्त्री हो' के साथ धर्म प्रतिपादन के लिए धर्मवीरों के लिए सूत्रों को भी संजोया -

(1) "विधान परिषद तथा शासन परिषद के अध्यक्ष तथा जहां-जहां संघर्ष चलाना इष्ट हो वहां के अध्यक्ष को सूचना देकर सभा करके या शोभा यात्रा निकाल कर प्रतिरोध तोड़कर धर्म के प्रतिष्ठाथन के लिए अभियान चलाया जाये।

(2) संकीर्तन, अनुष्ठान तथा अनशन करके संघर्ष चलाया जाये।

(3) अहिंसा मार्ग से ही विरोध किया जाये।

(4) विधान परिषद, शासन परिषद, असेम्बली, वायसराय भवन तथा अन्यायन्य सरकारी विभागों के भी समक्ष सघर्ष चल सकता है।

(5) मथुरा आदि भिन्न-भिन्न तीर्थ स्थानों के म्यूनिसिपल बोर्ड, कलेक्टर आदि के भवनों पर भी धर्मयुद्ध छेडा जा सकता है।

(6) व्याख्यानों सभाओं द्वारा भी न्याय और अन्याय का विवरण करके आन्दोलन चलाया जाये।

(7) जप-तप, पूजा-पाठ आदि हृदय दुर्गा-पाठ आदि का विस्तार होना चाहिए।

(8) विधान विशेषज्ञों की राय से न्याय पाने का प्रयत्न होता रहे।

(9) किसान, मजदूर तथा गरीब लोगों के साथ राजाओं, जमीदारों तथा धनिकों का भी सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

(10) पत्र-पत्रिकाओं, नोटिसों व्याख्यानों द्वारा सर्वत्र न्याय की वस्तु स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए।"[7]

कुछ लोगों की यह धारणा होती है कि धर्म तो सनातन एवं नित्य है तो उसकी रक्षा का प्रश्न ही क्यों कर उठता है इसके साथ ही कुछ लोग ये भी प्रश्न उठाते हैं कि कलियुग में तो धर्म का ह्रास होना ग्रन्थों में वर्णित है तब तो हमारे सभी प्रयास व्यर्थ सिद्ध होंगे। या कुछ लोग ऐसा कहते भी सुने जाते हैं कि धर्म तो ईश्वरकृत है इसमें मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। अगर ईश्वर चाहेगा तो राष्ट्र

धर्मविहीन ही रहेगा उसमें व्यक्ति मात्र के प्रयास से कोई लाभ नही होगा। स्वामी जी के अनुसार कुत्ता तक एक पशु होने के उपरान्त भी कही भी बैठता है तो वह स्थान जब साफ कर लेता है तभी बैठता है तो क्या मानव एक बुद्धिशील प्राणी होने पर भी प्रयास नहीं करेगा? ये प्रयास सभी वैसे ही होंगे जैसे व्यक्ति गर्मी की ऋतु में शीतलता प्राप्ति का प्रयास करता है तो शीतऋतु में गर्मी प्राप्त का। उसके लिए साधन कृत्रिम होते हैं, किन्तु अभीष्ट की कुछ अश तक तो प्राप्ति होती ही है। साधन का प्रसग आने पर कुछेक ऐसे व्यक्तियों की शंका निवारण भी करनी पड़ती है जो कि आस्तिकता एव प्राचीनवाद से प्रभावित दिखते हैं। वे कहते हैं धर्म संरक्षण को ध्येय बनाने पर धर्म प्रचार, गोष्ठियों अथवा धार्मिक संस्थानों का निर्माण इत्यादि साधन उपयुक्त नही है क्योंकि जहा प्रचार में बहिर्मुखता का आभास होता है वहीं उपदेशक में अहंकार की प्रबलता का। क्योंकि उपदेशक दूसरों को अज्ञानी समझ कर ही उपदेश देगा जिसमें अहंकार की भावना का समावेश स्वाभाविक है। इसके विपरीत धर्म के अन्तर्गत अहंकार की भावना का अत्यन्ताभाव है। अब यदि अन्तर्मुखता की बात करें तो धर्म साधन के रूप में हमारे सामने आता है अन्तर्मुखता का। इससे किसी व्यक्तिगत लाभ का कोई प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। स्वामी जी सदैव शास्त्रों को प्रमाण मानते थे और उसी के अनुकूल अपने विचार सबके सामने रखते थे। उन्होंने कहा कि शास्त्रों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्ग पाये गये हैं और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी का उल्लेख है अतः इस तरह की शंकायें निराधार हैं।

अनादिकाल में कथा एवं प्रवचन के द्वारा धर्म एवं ईश्वर विषयक प्रचार किये जाते रहे हैं। राजसूय एव अश्वमेघ यज्ञों को तो हमें ख्याति एवं जन-धन साध्य मानना ही पड़ेगा। तब धर्म प्रचार को न माना जाये ऐसा क्यों? कुछेक प्रश्न ऐसे भी सामने आते हैं कि भाषण देना है और वह भी खड़े होकर तो इसका शास्त्रों में कहां उल्लेख है अथवा भाषण देने के बाद ताली बजाना ऐसा भी नहीं देखा गया। इन सभी का प्रचलन आधुनिक काल में ही देखा गया, लेकिन ऐसा नहीं है। राजा पृथु ने अपना भाषण खड़े होकर ही किया था।(8) तालियां हर्षोल्लास का प्रतीक थी। भागवत् में लिखा है कि आद्यासुर नामक राक्षस के मुख में प्रविष्ट होते हुए ग्वाल बाल बहुत प्रसन्न थे और तालियां बजा रहे थे।(9) अतः अन्त में हम कह सकते हैं कि आध्यात्म एवं धर्म के परतत्र लौकिकता एव भौतिकता को ठीक उसी प्रकार प्रयोग कर लेना अधिक उपयुक्त होगा जिस प्रकार चेतन आत्मा के परतंत्र अचेतन देह इत्यादि। ऐसा न

करने से हमारी धर्म एवं संस्कृति अपनी लीक से हट कर धूमिल पड़ जायेंगे अतएव हमें अपना पूरा प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए स्वामी करपात्री जी का मत था कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सुधारे तो ये देश स्वय सुधर जायेगा।

सनातन धर्म के आलोचकों के खण्डनकर्ता -

जब इस धर्मप्राण देश में नास्तिकवाद अपनी चरम सीमा पर था। धर्म के नाम पर उथल-पुथल मची हुई थी। धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म माना जा रहा था। सनातन वैदिक धर्म एव यज्ञ-यागादि कर्म उपेक्षित होते प्रतीत हो रहे थे। लोग वेदशास्त्रों के प्रतिकूल अपनी व्यवस्थायें देने लगे थे। वर्णाश्रम व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी ऐसे दुर्दान्त समय में जब सनातन धर्म पर झझावात आया हुआ था, स्वामी करपात्री जी सनातन धर्म के दिव्य भास्कर के रूप में उदित हुए। मनसा वाचा तथा कर्मणा प्रत्येक विधा से आपकी क्रिया सनातन धर्म के उद्धार के लिए ही थी। वैदिक सनातन धर्म के प्रचार-प्रसारार्थ आपने सम्पूर्ण भारत में पद यात्रा की। इसी पद यात्रा के समय ही स्वामी जी ने राजस्थान में विक्रमाब्द 1999 में अखिल भारतीय श्री निम्बकाचार्य पीठ की भी यात्रा की। स्वामी जी इस सदर्भ में अद्भुत जागरूकता का परिचय देते हुए शास्त्रानुसार समकालीन समस्याओं का बड़ी ही गम्भीरतापूर्वक समाधान ढूंढ़ते थे। वैदिक मान्यताओं के प्रति इतना ज्ञान, निष्ठा एवं उसकी व्यावहारिक परिणाति का स्वामी जी में जो अद्भुत सामन्जस्य मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

स्वामी जी वेदों से लेकर हनुमान चालीसा तक के धार्मिक ग्रन्थों को प्रमाण मानते थे। शास्त्रीय मान्यताओं सबंधित संघर्ष स्वामी जी को काफी समय तक एवं कई लोगों से करना था उनमें मुख्य राहुल सांकृत्यायन, चतुरसेन शास्त्री, डा0 काणे, भगवान् रजनीश, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, डा0 अम्बेडकर थे। ये सभी विद्वान शास्त्र विरोधियों के रूप में स्वामी जी के समक्ष आये जिनकी आलोचना स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में की। यद्यपि भगवान राम स्वामी जी के इष्टदेव थे। तथापि वे किसी भी भगवान का अनादर या अपशब्द सुन नहीं सकते थे। स्वामी जी ने 'रामकथा' नामक पुस्तक के लेखक एवं डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त करने वाले बेल्जियम निवासी फादर कामिल बुल्के की उक्त पुस्तक के खण्डन में महाग्रन्थ 'रामायण मीमांसा' की रचना कर डाली। यद्यपि फादर बुल्के ने अपनी पुस्तक में रामकथा राम के आदर्शों और उनके

चरित्र का समुचित वर्णन किया, किन्तु पुस्तक के प्रारम्भ में ही उन्होंने राम को अथवा राम के जीवन और उनके कथानक को काल्पनिक सिद्ध करने का प्रयास किया। 'राम की ऐतिहासिकता का कोई प्रमाण नही है ऐसी फादर बुल्के की मान्यता थी। स्वामी जी इतनी बड़ी बात को कैसे सुनते व स्वीकारते। राम की ऐतिहासिकता को सिद्ध करने के प्रयास में ही उन्होंने 'रामायण मीमांसा' जैसे महाग्रन्थ का निर्माण किया और अपने उद्देश्य को पूरा किया। ऐसा उन्होंने केवल ईसाई प्रचारक फादर बुल्के का ही खण्डन नही किया वरन् राम की ऐतिहासिकता के संदर्भ में स्वामी जी ने अन्य विद्वानों से भी टक्कर ली। रामायण मीमांसा के ही अन्तर्गत, पुरातत्व के सुविख्यात विद्वान डा0 हसमुख धी, सांकलिया का यह कथन कि 'अयोध्या में खुदाई के पश्चात् पुरातत्व सम्बन्धित ऐसे कोई प्रमाण प्राप्त नही हुए हैं जिससे यह सिद्ध किया जा सके, कि राम ऐतिहासिक पुरूष थे, का खण्डन किया है। स्वामी जी ने डा0 सकालिया को प्रयाग कुम्भ के समय धर्मसघ शिविर पर अपनी बात सिद्ध करने के लिए आमंत्रित किया और कहा कि उन्हें पुरातात्विक प्रमाणों का सहारा लेकर ही राम की ऐतिहासिकता को सिद्ध करके बतायेंगे। किन्तु डा0 सांकलिया ने स्वामी जी का सामना करने में अपने को असमर्थ पाया और वे अनुपस्थित रहे। तभी स्वामी जी ने इनके प्रसग को भी रामायण मीमांसा में उठाया और राम की ऐतिहासिकता सिद्ध की।

'राम की ऐतिहासिकता' पर आक्षेप करने वालों पर यही पूर्ण विराम नही लग गया था। 'मानस मुक्तावली' के रचयिता पं0 राम किकर उपाध्याय जी जैसे विद्वान ने भी अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही "यदि राम ऐतिहासिक पुरूष हैं..." लिखकर स्वामी जी के सामने पुनः प्रश्न चिन्ह लगा दिया। स्वामी जी शान्त बैठने वालों में से नही थे। उन्होंने उनके पक्ष की तीव्र आलोचना की और राम की ऐतिहासिकता के प्रमाण प्रस्तुत किये।

अशास्त्रीय पुस्तकों और कथनों की लम्बी श्रृंखला में भगवान रजनीश की 'सभोग से समाधि' जैसी पुस्तक स्वामी जी की नजरों से कैसे बच सकती थी। उन्होंने इस पुस्तक का खण्डन अपनी 'क्या संभोग से समाधि?' नाम पुस्तक में शास्त्रीय विधि से किया। और कहाकि सुख शान्ति की चाह करने वाला व्यक्ति शास्त्रों का अनुसरण करता रहे तो उसके कल्याण में कोई सन्देह नही है। आचार्य रजनीश की इस पुस्तक से जनता दिग्भ्रमित हो रही है। सेक्स के प्रति स्वतंत्रता समाज में बुराइयों को बढ़ावा देने के और कर भी क्या सकती है? इस संकट का निवारण स्वामी जी ने अपनी पुस्तक में किया है।

पाश्चात्य विचारक मार्क्स के तथा उनके अनुयायियों का आधुनिक युग में इतना प्रभाव छाया है कि उनके ऊपर उंगली उठाना भी लोहे के चने चबाना साबित होता। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे पुरूषार्थों को भुलाकर जब आज का व्यक्ति पाश्चात्य सभ्यता की तरफ दौड़ लगा रहा है ऐसे दुर्दान्त समय में स्वामी का "मार्क्सवाद और रामराज्य" जैसा बहुमूल्य ग्रन्थ आधुनिक विचारकों के ऊपर बज्राघात के रूप में साबित हुआ। इस ग्रन्थ में मार्क्स के 'दासकैपिटल' नामक ग्रन्थ का तथा सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, हेगेल, कान्ट आदि पाश्चात्य दार्शनिक विचारकों का अपने अकाट्य तर्कों से स्वामी जी खण्डन करते हैं। मार्क्सवाद और रामराज्य में ही चार्ल्स डार्विन के प्रसिद्ध विकासवाद की आलोचना करते हुए उसकी अनुपयोगिता सिद्ध की है।

वेदों पर आक्षेपकर्ता उनके अनुसरणकर्ता भारतीय विद्वानों की कमी नहीं है। आर्य समाज के संस्थापक तथा रॉथ, मैक्डोनल तथा मैक्समूलर जैसे पाश्चात्य विद्वानों से प्रभावित स्वामी दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में प्रकट मत का खण्डन स्वामी जी अपने महाग्रन्थ 'वेदार्थ पारिजात' में करते है। गहन अध्ययन व मनन के साथ उन सभी वेद विरूद्ध विचारों का खण्डन स्वामी जी ने 'वेदार्थ पारिजात' नामक महाग्रन्थ का प्रणयन करके किया जो कि आज के जनसामान्य के लिए अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुआ।

राजनीतिज्ञ रूप में -

शास्त्रेष्व गाधधिषणस्य च राजनीतौ
कस्तस्य यः प्रतिभटो भवितुं समर्थः
मताः स्वतंत्र गतयोपि गजा अकस्मात्
श्रुत्धा स्खलन्ति खलु केसरिणो निनादम्(10)

'सम्पूर्ण शास्त्रों और राजनीति में भी जिनका अगाध गंभीर ज्ञान है, उनका प्रतिद्वन्द्वी बनने की किसकी सामर्थ्य है। मस्ती में झूलते हुए चले आने वाले मनोन्मत हाथी, सिंह की दहाड़ सुनते ही डगमगा जाते हैं।' बीसवी सदी में जिन महापुरूषों ने भारतीय राजनीति को आध्यात्म की दिशा प्रदान की उनमें

स्वामी जी प्रमुख थे।

स्वामी जी मात्र वेदों एवं शास्त्रों के ही ज्ञाता नही थे वरन् राजनीति के क्षेत्र में भी उनका अद्भुत ज्ञान था। देश हितार्थ उन्होंने राजनीति में प्रवेश भी किया। स्वामी जी द्वारा स्थापित धर्मसघ एवं रामराज्य परिषद का उद्देश्य भारत में वेदों का ईश्वर राज्य, रामायण का रामराज्य तथा महाभारत का धर्मराज्य स्थापित करना था। धर्मसंघ को स्थापित करने का उद्देश्य भारतीय राजनीति विवेचन एवं निर्धारण किया जाता था तथा रामराज्य परिषद के माध्यम से उसे कार्यरूप में परिणित करने का प्रयास था। इन संगठनों का दुर्भाग्यवश कोई देशव्यापी प्रभाव न पड़ने के बाद भी स्वामी जी को इससे कोई चिन्ता नहीं थी। वे कर्म में विश्वास करते थे। स्वामी जी को हेगेल, कान्ट, हाब्स तथा मार्क्स इत्यादि पश्चात्य विद्वानों के राजनैतिक ग्रन्थों का स्वामी जी को कितना ज्ञान था इसका ज्वलंत उदाहरण स्वामी जी द्वारा रचित ग्रन्थ 'मार्क्सवाद एवं रामराज्य' है। वे सदैव वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से कार्य एव भाषण करते थे। उनका कथन था कि 'एक दीनदार ईमानदार मुसलमान, बेदीन, बेईमान हिन्दू से अच्छा है।' ये सम्भाषण उनकी उदार राजनैतिक विचारधारा का उदाहरण है उनकी इस भावना का आदर मुसलमानों एवं ईसाइयों द्वारा नही किया गया। क्योंकि इनके संगठन में अन्य धर्म के लोग न के बराबर थे।

स्वामी जी की कृतियां उनके राजनैतिक उच्चादर्शो का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। स्वामी करपात्री जी धर्म और राजनीति को गांधी जी की भाति एक मानते थे उनके अनुसार धर्म और नीति में पति-पत्नी का सम्बन्ध अर्थात् अनिवार्य या तादात्म्य सम्बन्ध होता है और दोनों की प्राथमिकता में धर्म पारलौकिकता प्रधान है और नीति लौकिकता। अद्वैत विद्वान स्वामी करपात्री जी ने प्राचीन भारतीय राजनैतिक आदर्शों के मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया।

समाज सुधारक के रूप में -

यदि प्रकृति को निर्मात्री मान लिया जाये तो उसकी सर्वोत्कृष्ट कृति मानव ही होगी। मानव समाज से है और समाज मानव से। मात्र मानव ही ऐसा प्राणी है, जो अपना दुःख दूसरे में बाट सकता है अथवा दूसरों के दुःख-सुख में भागीदार भी बन सकता है अर्थात् मानव सहयोग कर भी सकता है और सहयोग प्राप्त भी कर सकता है। दूसरों पर उपकार करना मानव प्राणी का धर्म है। निस्वार्थ भावना से

समाज की सेवा करना ही समाज सेवा कहलायेगी। इस सेवा के पीछे यश, धन की कामना अथवा किसी अन्य फल की चाह नही होनी चाहिए। जबकि आज इसका अर्थ ही बदल गया है। यहां ,'समाज' को राजनैतिक नेता तथा समाज सेवकों ने अपने स्वार्थ का मोहरा बना रखा है। समाज सुधारक, सामाजिक नेता तथा समाज सेवक समाज कल्याण के नाम पर जो भी कार्य करते हैं उनमें अधिकतम कार्यों के पीछे गन्दी राजनीति का जाल बिछा रहता है, किन्तु इन सबसे परे हट कर स्वदेश का ही नही वरन् 'विश्व का कल्याण हो' ऐसा घोष निनाद करने वाले स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती जी ने जो वस्त्र के नाम पर मात्र कौपीन धारण करते, करों को पात्र का स्थान देते अर्थात् हाथों में लेकर ही भोजन करते, भूमि जिनकी शय्या है जिनको कोई निजी स्वार्थ नही है, अपना जीवन समाज अथवा इस देश की सेवा में लगा दिया। यद्यपि वे सन्यासी थे और सन्यासी को इस समाज से अथवा संसार से विरक्ति होनी चाहिए किन्तु स्वामी जी ने विश्व कल्याण भावना से कार्य किया। उनका मार्ग सांसरिक न होकर पारमार्थिक था उसके उपरान्त भी देश हित को लक्ष्य बनाकर अधार्मिक बिलों का विरोध, हिन्दू कोड का विरोध, गोहत्या विरोध, धर्मविहीन राजनीति का विरोध, धर्मविहीन शिक्षा का विरोध किया। उनका विरोध उनके समकालीन समाज सेवकों द्वारा प्रबल रूप से किया गया। विरोधी की विचारधारा थी कि 'एक सन्यासी को समाज सेवा से क्या अभिप्राय अथवा राजनीति से क्या मतलब उसको तो अन्तर्मुखी होना चाहिए और बाह्य प्रवृत्तियों से सन्यासियों को दूर रहना चाहिए...।" हम जानते हैं कि स्वामी जी शास्त्रों को प्रमाण मानते थे उसी को आधार बनाते हुए उन्होंने उत्तर दिया कि "शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी कुछ वर्णित है, अतएव प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों मार्ग शास्त्रों में वर्णित है। जहां निवृत्ति मार्ग का वर्णन है वहां देह-इन्द्रिय, मन, बुद्धि-सबकी चेष्टाओं का अत्यन्त विरोध तक कहा गया है। जिस समय पंचज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि चेष्टाशून्य हो जाते हैं वही परागति है - वहा शुभाशुभ, सत्य-असत्य, धर्माधर्म सभी का त्याग अभीष्ट होता है। अतिनिर्विण्णमुमुक्षुओं, जिज्ञासुओं को भी संसार से अत्यन्त मुह मोड़कर आत्म जिज्ञासा में लग जाना पड़ता है... फिर भी ऐसा भी पक्ष है कि जो कृपण दुःखी प्राणियों को छोड़कर मुक्ति भी नही चाहते... ."नैनान्विहाय कृपणान्विमुमुक्षु एको नान्यत्वदस्य शरण भ्रमतोनुपश्यते।." तत्ववित् भी लोक संगग्रहार्थ विविध कर्मों को करते हैं। जैसे बहिर्मुख दशा में भोजन, पान, आदि में प्रवृत्ति होती ही है। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने वाला तत्ववित् युक्त और कृत्स्न कर्मकृत ही माना गया है - अतः तत्वज्ञ

महात्मा को बर्हिमुख दशा में लोक समाज के कल्याण कार्य में निर्लेप भाव से रत रहना शास्त्रानुकूल है।(11)

जो लोग कुत्ते की पूंछ का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि ये संसार कुत्ते की पूंछ के समान ही टेढ़ा है इसे कितना भी सुधारा जाये ये ज्यों का त्यों रहेगा तथापि ऋषियों, तपस्वियों या अवतारों ने अपने-अपने काल में कल्याणार्थ काम किया ही है जिसमें वे सफल भी हुए हैं। इस विषय में स्वामी जी लिखते हैं - "पूर्ण समर्थ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान वह परमेश्वर मुख्य रूप से संसार को सन्मार्गगामी बनाने का जिम्मेदार है, जिसका यह संसार है। फिर भी, जब श्वान भी जहा बैठता है, वहां लांगूल से स्थान पवित्र करके बैठता है तब कोई धार्मिक भक्त या ज्ञानी (निवृत्तिमार्गी, सन्यासी, महात्मा) जहां रहेगा, उस स्थान, देश तथा वातावरण को शुद्ध राखना चाहेगा ही। समष्टि व्यक्ति परस्पर एक दूसरे से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। समष्टि का प्रभाव व्यष्टि पर और व्यष्टि का प्रभाव समष्टि पर पड़ता ही है। पवित्र वातावरण एव पवित्र देश, ग्राम आदि में रहने से साधना में बड़ी सुविधायें मिलती हैं। अपवित्र वातावरण वाले अपवित्र देश, ग्राम आदि में रहने से अनेक असुवधियें होती है। मद्यपायी, वेश्यागामी, नास्तिक पुरूषों वं कुलटा स्त्रियों के सन्निधान में रहने से उच्चकोटि के व्यक्तियों पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। सन्त भगवत परायण, परोपकार निष्ठ, ब्रह्मात्मनिष्ठ प्राणियों के समागम से अपकृष्ट व्यक्तियों पर भी सत्प्रभाव पड़ता है।"

स्वामी जी कहते हैं कि 'इस दृष्टि से कर्तव्य पालन पर दृष्टि रखकर कार्य करना आवश्यक है। जगत् को भगवत् स्वरूप समझकर सेवा बुद्धि से या जगत् को भगवत्संतान एवं कुपथ्याभिमुख रूग्ण समझकर या सन्निपातग्रस्त समझकर उसके सम्मान-अपमान का ध्यान न कर समाज की सेवा करना उचित है। जैसे पशु के विपरीताचरण का ध्यान न कर किंवा सन्निपातग्रस्त रोगी के विपरीताचरण, सम्मान-अपमान का ध्यान न कर चिकित्सक चिकित्सा करता है, वैसे ही जनता की समाज की सेवा का भाव होना चाहिए। तत्ववित् के सामने शिष्यों के शतशः प्रश्न होने पर भी ज्ञान, अज्ञान, सशय, विपर्यय के भावों को जानता हुआ और समाधान करता हुआ भी वहां जिस प्रकार अहंकार-ममकार से लिप्त नही होता, प्रत्युत नाट्य एवं सिनेमा का दृश्य समझकर सर्वप्रपंचातीत रहता है, उसी तरह की स्थिति तत्ववित् (सन्यासी) लोक संगही धर्म संस्थापक की होती है। इसी उदात भावना से सन्यासी को भी समाज सेवा में

अग्रसर होना अपेक्षित ही है। स्वामी जी का स्पष्ट मत है कि 'समाज की बागडोर अयोग्यो, नास्तिकों के हाथ में छोड़ देने से समाज का पतन ही होगा जो अन्ततोगत्वा सर्वनाश का कारण बनेगा।"(12)

समाज को स्वामी जी विराट पुरूष का स्थूल रूप मानते हैं। उसका स्वत्व सावयव है। समाज ईश्वरीय है और जातिया प्रवर्तन गुणधर्म के अनुसार जन्मना है, कर्मणा उनका उत्कर्ष एव अपकर्ष होता है। सभी जातियों के अधिकार एव कर्तव्य शास्त्रों से निर्दिष्ट हैं। व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपनी शक्ति प्रथक्कता में यदि उसके विपरीत मत स्थापित करते हैं तो वह निन्द्य हैं।

भारतीय समाज का वर्तमान स्वरूप एवं स्वामी जी के तद्विषयक विचार -

करपात्री जी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के पोषक हैं। आधुनिक मान्यता है कि "समाज व्यक्तियों और परिवारों का समूह है।" समाज की व्यवस्था में आने वाला कोई भी परिवर्तन व्यक्तियों और परिवारों पर प्रभाव डाले बिना नही रह सकता।" "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" अरस्तू का यह कथन सर्वविदित है। मनुष्य अपने स्वभाव और आवश्यकता के वशीभूत होकर समाज में रहता है। परिवार, स्त्री-पुरूष का सम्बन्ध समाज का केन्द्र है। अतएव इस अर्थ प्रधान युग में परिवार की समस्त इकाई किसी भी परिवर्तन से प्रभावित होती रहती है।

स्वामी जी सयुक्त परिवार के प्रबल समर्थक हैं। आधुनिक समाज मे नारियों की स्थिति को तथा कथित आधुनिकतावादी लोग सन्तोषजनक एवं अच्छी मानते हैं किन्तु स्वामी जी का कथन था कि पुरातन काल में नारियों का जो सम्मान था उनका शताश भी अब नही है। महाराज मनु का कथन है - "जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं" स्वामी जी के विचार से इतना सम्मान आधुनिक समाज में नारियों को नही मिल सकता।

करपात्री जी का कथन है कि समाज में निर्बाध रूप से गति प्रवाह के लिए सभी को यथायोग्य सम्मान मिलना चाहिए। किन्तु सत्य शाश्वत् और चिरन्तन मान्यताओं को परिधि में ही। वे रामराज्य कालीन सामाजिक व्यवस्था को उत्तम मानते हैं।

सामाजिक संघर्ष एवं शान्ति विषयक विचार -

सामाजिक सघर्ष से मुक्ति एवं शान्ति की प्राप्ति सभी का लक्ष्य है। मूल विवाद है इसे प्राप्त

करने का साधन। भौतिकवादियों की मान्यता है कि आध्यात्मिकता ने अथवा धार्मिक मान्यताओं ने समाज को गलत दिशा दी है तथा शोषण मूलक समाज को संरक्षण प्रदान किया है जबकि अन्यों का कथन है कि सामाजिक संघर्ष का कारण भौतिक है तथा उसका निदान भी भौतिक साधनों द्वारा ही संभव है। इन सबसे परे करपात्री जी की मान्यता है कि सामाजिक सघर्ष का मूल कारण भौतिक है किन्तु इस संघर्ष का निदान विशुद्ध रूप से आध्यात्मिकता में है।

समाज का विराट स्वरूप राष्ट्र होता है। परस्पर द्वेषभाव के कारण अथवा असमानता शोषण आदि स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों के कारण जब सामाजिक संघर्ष प्रारम्भ होता है तो यह व्यापक स्तर तक राष्ट्रव्यापी हो जाता है। करपात्री जी ने शान्ति के जो उपाय बताये एवं सुझाये हैं सभी वेदशास्त्र प्रतिपादित हैं। चूंकि व्यक्ति, परिवार, प्रदेश एवं राष्ट्र की प्रथम इकाई है अतएव यदि वह सामाजिक संघर्ष का परित्याग कर सामाजिक शान्ति की दिशा में कार्य करे तो कोई कारण नही कि समाज एव राष्ट्र में शान्ति स्थापित न हो सके। इस दृष्टि से विश्व शान्ति के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति फिर कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र में सम्मिलित होना परमावश्यक है और इस स्थिति के विकास पर ही स्थायी शान्ति सम्भव है।

अद्भुत शास्त्रार्थी के रूप में -

सामान्यतः देखा गया है कि व्यक्ति लेखन क्षमता का धनी है उसको हम अच्छा वक्ता नही पाते हैं अथवा शास्त्रों का ज्ञाता है तो अच्छा प्रवचनकर्ता नही है या फिर शास्त्रार्थ में दक्ष है तो उसकी लेखन क्षमता उतनी आकर्षक नही है। यद्यपि ये सभी गुण किसी एक व्यक्ति में मिलना दुर्लभ है लेकिन हम देखते हैं स्वामी करपात्री जी की लेखनी जो प्रभाव छोड़ती है उनके प्रवचन भी इससे कम प्रभावशाली नहीं होते थे। उनके पाण्डित्य का प्रमाण उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ प्रस्तुत करते हैं। स्वामी जी ने छोटी सी पुस्तक में भी शास्त्रों के सार के मोती बिखेर दिये हैं। ये उनकी लेखन क्षमता की दक्षता का प्रमाण है। मुझे उनके व्याख्यान सुनने का सुअवसर नहीं मिल सका किन्तु मैंने उनसे सम्बन्धित जिस व्यक्ति से भी सम्पर्क किया सभी ने एकमत से स्वीकार किया कि वेद शास्त्रादि चतुर्दश विद्या उनकी वाणी पर नृत्य करती सी दिखाई पड़ती थी। शास्त्रार्थ करते समय उनकी जिव्हा पर यों प्रतीत. होता था मानो साक्षात् सरस्वती जी विरामान हो गयी हैं -

"श्रीमान हरिहरानन्दो यस्य संज्ञा सरस्वती -
यदानने पद्मसनेनरीनृत्यत् सरस्वती।" (13)

स्वामी जी के कुछ शास्त्रार्थों का संक्षिप्त यथातथ्य विवरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं -

सन् 1932 में हरिद्वार में अर्द्धकुम्भ का समय था। ऋषिकेष की कोयल घाटी में स्वामी करपात्री जी तथा पं0 मदनमोहन मालवीय जी का शास्त्रार्थ हुआ था। प्रस्तुत शास्त्रार्थ को हम 1008 श्री स्वामी सिद्धेश्वराश्रम (दण्डी स्वामी), उड़िया बाबा का आश्रम दावानल कुण्ड, वृन्दावन के 'अभिनव शंकर' के लेख से उद्धृत कर रहे हैं - "वहां उपस्थित महानुभावों में गीता प्रेस के भक्त सेठ जयदयाल गोयनका तथा खुर्जा के सेठ गौरी शंकर गोयनका भी थे। उस समय स्वतंत्रता आन्दोलन का जमाना था। अछूतोद्धार की हवा चल रही थी। मालवीय जी ने यह सामयिक प्रश्न उठा दिया कि "प्रणवयुक्त वेद मंत्रों में शूद्र चाण्डाल का भी अधिकार है उन्हें इसका उपदेश दिया जा सकता है।" स्वामी करपात्री जी ने इस पर कहाकि "शास्त्रों में इसका निषेध है। शूद्र को सामने बैठाकर, सामने रखकर वेद मंत्र नहीं कह सकते, इधर-उधर बैठकर सुन सकता है।" इस पर पर्याप्त शास्त्रार्थ हुआ और पक्ष विपक्ष में मालवीय जी और करपात्री जी ने प्रबलतम शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित किए। इस बीच सायंकाल हो गया। मालवीय जी के साथ आये उनके नौकर ने उन्हें घड़ी दिखाई कि चलो समय हो गया है। मालवीय जी ने उससे कहाकि अब चलना कैसा? अब तो चाहे तीन दिन हो जायें शास्त्रार्थ निर्णय होने पर ही जायेंगे - बीच में चलना कैसा? उपस्थित समुदाय में सन्त, महात्मा, विद्वान, गृहस्थ, स्त्री-पुरूष सब ही थे। उन्हें अपने - अपने स्थानों पर पहुंचने की जल्दी थी। उनमें से कुछ खड़े हुए और कहने लगे कि "महाराज आप क्या कहते हैं। आप तो दिग्गज हैं जो बिजारों की भांति लड़ते रहो हमें तो जाना है। फिर निश्चय हुआ कि कोई मध्यस्थ होने चाहिए जो निर्णय करे। करपात्री जी से पूछा कि कौन मध्यस्थ बनाया जाये? तो इस पर उन्होंने कहाकि मेरी तरफ से कोई भी मध्यस्थ हो सकता है उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। कितनी उदारता, आम्तविश्वास एवं शास्त्रनिष्ठा थी उनमें। कितनी महानता थी उनकी। श्री गौरी शंकर गोयनका खुर्जा वाले को मध्यस्थ बनाया गया। उन्होंने खड़े होकर कहाकि मैंने व्याकरण मध्यमा तक पढ़ी है, शास्त्रों का भी अवलोकन किया है उसके अनुसार करपात्री जी शास्त्रों का जो पक्ष रख रहे हैं वह ठीक है। फिर मालवीय जी की ओर से भी जयदयाल गोयनका जी को कहा गया निर्णय देने के लिए। वे खड़े हुए

उन्होंने कहाकि एक प्रकार से म्हारी बुद्धि के बीच के मांह ऐसी बात आवे है कि सुना भी सकते हैं और नही भी और वह तुरन्त बैठ गये। लोगों ने कहाकि यह नही चलेगा कि दोनों के भले बने रहो। उन्हें फिर स्पष्ट निर्णय देने के लिए खड़ा किया गया तो जयदयाल जी ने कहा कि शास्त्रों में ऐसा आता है कि नहीं सुना सकते। इस पर मालवीय जी ने रोककर कहा कि स्वामी जी आपका कथन शास्त्रानुसार सही है- परन्तु समय ऐसा आयेगा कि आने वाले समय में बात हमारी माननी पड़ेगी इस पर करपात्री जी ने कहाकि हमारा आपका आज शास्त्रार्थ है आने वाले समय के मानने न मानने की बात ही नहीं थी।(14) इस पर कहते हैं कि मालवीय जी के मुख से यही शब्द निकले थे - "स्वामी जी आपके मुख से संस्कृत वांगमयी उत्तर मीमांसा पूर्व मीमासा की वह गंगा यमुना सी प्रवाहित हो रही थी कि मैं तो हक्का-बक्का ठगा सा उसमें अवगाहन कर रहा था - उसकी अलौकिकता का आनन्दानुभव अनुपम है। मुझे कुछ कहना ही नही है।" (15) गौरी शंकर गोयनका द्वारा इस शास्त्रार्थ की पुस्तक 'माननीय प्रश्नोत्तर' भी प्रकाशित की है।

दूसरा अवसर स्वामी सिद्धेश्वराश्रम जी को अलीगढ जनपद के अमनोई गाव में मिला। उनके अनुसार सारा गाव आर्य समाजियों का है। वहां के राजा शंकरपाल सिह थे। आर्य समाजियों ने कहा कि शास्त्रार्थ होगा सनातन धर्म से - विषय रखा गया कि जाति कर्म से हो। उड़िया बाबा भी वहां उपस्थित थे। उन्होंने कहा ठीक है शास्त्रार्थ प्रारम्भ करो। दोनों पक्ष के लोग बैठे। आर्य समाजियों ने अपना पक्ष रखते हुए वेद का यह श्लोक बोला और बार-बार इसी श्लोक को बोले और कहाकि ब्राह्मण भगवान के मुख से उत्पन्न हुए हैं, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य पेट से और शूद्र पैरों के समान है। इसी को वे बार-बार कहते रहे। तब करपात्री जी ने कहाकि हम ऐसा नही मानते। जिस मंत्र का अर्थ अक्षरों में से ही निकला कि जाति जनग से है या कर्म से है। वही ठीक है। करपात्री जी ने पूछा कि संस्कार पद्धति आपकी और हमारी एक ही है या अलग-अलग? आर्य समाजी ने कहा कि सस्कार पद्धति तो एक ही है। इस पर करपात्री जी ने कहा कि जब यज्ञोपवीत होता है तो मन्त्र बोला जाता है:" अष्ट वर्षं ब्राह्मणं उपनयेत:", दोनों पद्धतियों में यही अर्थ है कि ब्राह्मण का अष्ट वर्ष में जनेऊ होना चाहिए यह नही कहा कि ब्राह्मण के लड़के का जनेऊ अष्टम वर्ष होना चाहिए। उन्होंने कहा कि वह तो ब्राह्मण ही है अष्ट वर्ष का। अत: अष्टवर्ष ब्राह्मण उपनयेत:" कहाकि आठ वर्ष के ब्राह्मण का अथवा आठ वर्ष में ब्राह्मण

का जनेऊ होना चाहिए। इस पर जन्म से ही ब्राह्मणादि जाति होना सिद्ध हो गया। आर्य समाजी बन्धुओं ने स्वीकार किया और कहाकि हम तो समझते थे कि आर्य समाज में ही पण्डित है परन्तु अब हम मान गये कि सनातन धर्म में भी बड़े-बड़े विद्वान हैं जो शास्त्रार्थ को ठीक-ठीक ढंग से कर सकते हैं।."(16)

साप्ताहिक "सिद्धान्त" काशी में एक अद्भुत शास्त्रार्थ प्रकाशित हुआ। पूज्य श्री स्वामी रामदेव जी महाराज ने पक्ष रखा कि सन्यास आश्रम त्याग का आश्रम है, संग्रह का नहीं। भगवान कृष्ण द्वैपायन कह रहे हैं कि "मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्य", क्रियाओं से उपरति ही मोक्ष का मूल है। भगवती श्रुति कहती है - न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्व मान्युः' - त्याग से अमृतत्व की प्राप्ति होतो है। अतः सन्यास आश्रम के बाद फिर मठों का संग्रह, लक्ष्मी का सग्रह उचित नहीं है आदि आदि। इस पर स्वामी जी का कथन था 'सन्यास आश्रम त्याग का है, इसमें कोई दो राय नहीं है, किन्तु साधारण सन्यासी और आचार्य दीक्षा सम्पन्न सन्यासी में महान अन्तर है। अग्नि पुराणादि में समयाचार दीक्षा से आचार्य दीक्षा कही गयी है। उसका निपुणता से उत्पादन वीरमित्रोदय आदि निबन्ध ग्रन्थों में किया गया है। महर्षि जैमिनि ने भी अपनी मीमांसा के पहले पाठ में श्रुतियों का प्रामाण्य निर्धारित कर 'धर्मस्य शब्द मूलत्वाद शब्द मनपेक्ष्यस्यात्' - इस सूत्र से श्रुतियों में, जिनका मूल नहीं मिलता, उनका अप्रामाण्य है ऐसा पूर्वपक्ष करके -

'अपि वा कर्तृ सामान्यात् प्रमाणमनुमानं
स्यात् विरोधेत्वनपेक्ष स्यात् असति हयनुमानं

आदि सूत्रों द्वारा भले ही श्रुति में मूल न मिलता हो, किन्तु कोई विरोधिनी श्रुति न हो तो ऐसी भी स्मृतियों का प्रामाण्य माना है। अतः आचार्य दीक्षा सम्पन्न सन्यासी के लिए मठादि सग्रह शास्त्रानुभव है, शास्त्र निषिद्ध नहीं। (17)

एक अन्य शास्त्रार्थ के अन्तर्गत 4/5 जुलाई सन् 1965 को हरिद्वार के पास गंगा घाट पर श्री मन्माधव सम्प्रदाचार्य भण्डारकेरी - मठाधीश्वर श्री विद्यामान्य तीर्थ स्वामी जी महाराज कर्नाटक से पधारे तो उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त मत को आसुर मत बताकर अद्वैत सिद्धान्त में दृढ़ श्रद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिए आवाहन किया - अपने नोटिस में उन्होंने -

"असत्यम प्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्पर सम्भूतं किमन्यत्काम हेतुकम्।।"

भगवद्गीता के श्लोक का उद्वरण देकर उसका प्रतिपाद्य अद्वैतमत बताया, तथा घोषित किया गया था कि यदि उन्हें कोई हरा देगा तो उसे 5000/- सत्कार स्वरूप दिया जायेगा। श्री स्वामी जी ने चुनौती स्वीकार की। शास्त्रार्थ का समय स्थल सब निर्णीत हो गया। दोनों पक्षों की ओर से शास्त्रार्थ की शर्तें तय हुईं और मध्यस्थ चुने गये महामण्डलेश्वर श्री भागवतानन्द जी। शर्तनामें पर वादी पक्ष के रूप में श्री स्वामी करपात्री जी के प्रतिवादी पक्ष की ओर से श्री भगवतानन्द जी के हस्ताक्षर हुए और शास्त्रार्थ देववाणी संस्कृत में प्रारम्भ हुआ। प्रथम दिन रविवार 4 जुलाई 1965 को रात्रि 9 बजे तक बड़ा सुन्दर, रोचक, पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रामाणिक रूप से उभयवादी प्रतिवादी ने अपने-अपने पक्ष उपस्थित कर अपने-अपने समर्थन में तर्क प्रस्तुत किए। दूसरे दिन 5 जुलाई को 6 बजे सायं पुनः सभा आरम्भ हुई - प्रतिवादी महोदय का पक्ष दुर्बल पड़ने लगा - एक स्थान पर आपने अपने ही आचर्य श्रीमत् मध्वाचार्य द्वारा श्री मद् भगवत् गीता के भाष्य के विरूद्ध बोलने वाला पराजित होगा - इस पर उभय पक्ष एवं मध्यस्थ तीनों के हस्ताक्षर थे। अतः जब पुनः तर्क उपस्थित करने पर भी उन्होंने अपने ही आचार्य की उक्ति के विरोध में अभिमत प्रगट किया तो मध्यस्थ ने उन्हें पराजित घोषित किया और प्रतिवादी श्री विद्यामान्य तीर्थ जी बीच में से उठकर चले गये और करपात्री जी सर्वसम्मति से विजयी घोषित किए गए।"(18)

उक्त शास्त्रार्थों के कुछ प्रसंगों के माध्यम से हम इतना तो सिद्ध कर सकते हैं कि आज के उल्वण तथा विषाक्त वातावरण में सनातन धर्मी जगत् में शास्त्रीय मर्यादाओं के संरक्षक के रूप में स्वामी करपात्री जी का योगदान अद्वितीय है।

सर्वधर्म समन्वय कर्ता के रूप में -

आज जब समय इक्कीसवीं शताब्दी की तरफ दस्तक दे रहा है, विज्ञान ने देशगत दूरियों को समाप्त कर दिया है, समाज एक इकाई के रूप में हमारे समक्ष उभरा है तो इससे सम्बन्धित धर्म सभ्यता एवं संस्कृति के प्रश्न उठना तो स्वाभाविक हैं। यहां 'विश्वधर्म की सैद्धान्तिकता ने एक प्रश्न चिन्ह सा खड़ा कर दिया है। सामान्यतः यही देखा गया है कि सभी धर्मों में चाहे वे वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई,

इस्लाम, पारसी कोई भी हो, उनमें बहुत अन्तर है। 'समन्वय' का आशय हम एकता से निकालते हैं किन्तु व्यवहारों में एकता लाना तो दूर परमत का खण्डन करके स्वसिद्धान्त को श्रेष्ठ सिद्ध करने में एक स्पर्धा सी हो गयी है जिनके कारण साम्प्रदायिक तनाव बढ़ता सा जा रहा है एवं दूर करने के प्रयास भी धर्मविचारकों ने विश्व स्तर पर ही किया है। जहां ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म 'विश्वधर्म' की चर्चा करते हैं वहीं वेदों से लेकर महात्मा गांधी तथा राधाकृष्णन के समय तक धर्म समन्वय के विचार स्थापित करने का प्रयास भी दृष्टगत है। उसी श्रंखला में स्वामी करपात्री जी का भी नाम जुड़ गया है। सभी ने ईश्वर एक है इसी का प्रचार किया। इस संदर्भ में निकोलस का कथन (सन् 1453) 3 देखें - "विभिन्न धर्मों में ईश्वर विभिन्न मार्गों द्वारा खोजा जाता है, और विभिन्न नाम से पुकारा जाता है और उसे (ईश्वर ने) विभिन्न जातियों और युगों में विभिन्न ईशदूतों और धर्मगुरूओं को भेजा है।[19]

इसका समर्थन कुरान में भी मिलता है - "धर्मगुरू प्रत्येक जाति में भेजे जाते हैं ताकि वे उनकी ही भाषा में उन्हें सिखायें जिससे अर्थ के सम्बन्ध में कोई संशय नही रह पाये।[20]

इसी श्रृंखला में फरे एवं हॉकिंग भी पाश्चात्य धर्म विचारक हुए हैं। भारत में इस दृष्टिकोण से देखने पर गीता को सर्वप्रथम रखा जा सकता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं - "हे अर्जुन, जो श्रद्धा से दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं वे भी मुझे ही अविधिपूर्वक पूजते हैं।"[21]

सर्वपल्ली राधाकृष्णन जैसे धर्मविचारक इस मत का मण्डन करते हुए कहते हैं - "कोई एक नाम पर और कोई दूसरे नाम पर ध्यान लगाता है। उनमें से कौन सा उत्तम है? सभी अतीत, अमर, देहहीन ब्रह्म के प्रमुख द्योतक हैं। ये नाम ध्यान, योग्य और स्तुत्य हैं, लेकिन अन्त में त्याज्य है, क्योंकि इनके द्वारा उच्चतर से उच्चतर स्तर प्राप्त किया जाता है, लेकिन जब अन्तिम लक्ष्य प्राप्त होता है तो एक अद्वैत पुरूष को ही पाया जाता है।[22] सभी धर्मों की महानता को गांधी जी ने भी स्वीकार किया है।

स्वामी करपात्री जी स्वधर्मों द्वारा जो व्यवहार निर्धारित किया गया है उसका सच्ची लगन एवं ईमानदारी से पालन धर्मों की एकता का आधार मानते हैं। धर्म परिवर्तन न करके धर्मपालन का सिद्धान्त अधिक श्रेयस्कर और मानवीय होगा। अर्थात् स्वामी जी के अनुसार अपने-अपने धर्मों का यथानुदेश धारण

एवं पालन ही सभी धर्मों का समन्वय होगा। उनका मत है यद्यपि यह तो सर्वज्ञात है कि वैदिक, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों में परस्पर बहुत भेद हैं तथापि जो लोग एकता की दुहाई देते फिरते हैं उसी एकता के विस्तार को ध्येय मानते हुए सभी धर्मों को एक कहते हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि दया और सत्य को सभी धर्मों ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है और वही सभी धर्मों का सार है, मूल है। जिस प्रकार एक रूपया, सौ पैसे अथवा सोलह आने ये सब भिन्न-भिन्न नाम होते हुए भी एक ही मूल्य को दर्शाते हैं। ठीक उसी प्रकार धर्म मूल एक है किन्तु सबके नाम भिन्न - राम कृष्ण, ईसामसीह, मुहम्मद, शकराचार्य, बुद्ध इन सभी के धर्म के मूल में दया से भिन्न कुछ नहीं था। अठारह पुराणों में भी परोपकार को पुण्य बताया गया है। और बुद्ध भी अहिंसा और महाकरूणा पर बल देते हैं। अहिंसा और महाकरूणा को अपनाने सम्बन्धित एक सुधारक की वार्ता उन्होंने बताई कि "एक हिन्दू 'सुधारक' से एक ईसाई ने पूछा कि आप ईसा मसीह को ईश्वर का पुत्र मानते हैं? सुधारक ने जवाब दिया - 'हूँ' किन्तु ईसा मसीह ईश्वर के योग्य पुत्रों में से अवश्य थे इसलिए मैं राम, कृष्ण, मुहम्मद, ईसा सभी का समान आदर करता हूँ। गीता, बाइबिल, कुरान मेरे लिए समान सम्मानीय हैं। ईसाई ने पुनः पूछा कि जब इन तीनों में विरोध दिखता है तब आप किसे मानेंगे ? इस पर सुधारक ने कहाकि 'उस समय मैं अहिंसा और सत्य की कसौटी पर निर्णय करता हूँ। अहिंसा और सत्य विरूद्ध सिद्धान्त को त्याग कर उसके अनुकूल सिद्धान्त ग्रहण करता हूँ। और फिर भी यदि कहीं सन्देह की स्थिति आती है तो वहां अन्तरात्मा की स्वीकृति का ही मेरे लिए प्रामाण्य है।[(23)]

यद्यपि यह शत-प्रतिशत सत्य है कि साम्प्रदायिक मतों और वैमत्यों के कारण विघटन और वैमनस्यता बढ़ती जा रही है किन्तु एकता और समानता की भावना को सभी में जाग्रत करने का कार्य भी तो हम को ही करना है। एक धर्म को सभी स्वीकार भी नहीं करेंगे जब ऐसी समस्या हमारे सामने आती है तो उसका समाधान यही है कि अहिंसा सत्यादि, सार्वदेशिक धर्मों का समान रूपेण पालन करते हुए अपने-अपने धर्म का आदर करें तथा एकता बनाये रखने का प्रयास करें।

श्री विद्या के प्रवर्तक आचार्य के रूप में -

ब्रह्म विद्या सच्चिदानन्द स्वरूपिणी श्री विद्या का आविर्भाव भगवान शंकर के मुख से हुआ। इस

विद्या की मंत्रतात्मक, यंत्रात्मक और विग्रहात्मक तीन रूपों में आराधना की जाती है। मंत्र का स्वरूप पंचदशी, षोडशी और महाषोडशी है। इस मंत्र के बारे में कहा गया है कि जितना फल कई हजार अश्वमेघ यज्ञों के करने से प्राप्त होता है उससे कही अधिक फल इस मंत्र के एक बार उच्चारण मात्र से मिल जाता है। इस रहस्यमयी विद्या को गुप्त रखने का उपदेश दिया गया है। गुप्त रखने से हमारा तात्पर्य नितान्त गुप्त नहीं है, सुपात्र को ही विद्या दान किया जाये, ऐसा है।

ईसी प्रकार मंत्रात्मक रूप का भी वर्णन मिलता है। इसकी श्री यंत्र के रूप में साधना की जाती है। श्री यंत्र की महिमा का वर्णन करते हुए शास्त्रों में लिखा है कि 'विधिवत् एक सौ अश्वमेघ यज्ञ का फल श्रीयत्र के दर्शन मात्र से मिल जाता है।

'विग्रहात्मक' रूप राज राजेश्वरी ललिता महात्रिपुर सुन्दरी है। इसका वर्णन 'सौन्दर्य लहरी' में अत्यन्त ही मनोहर रूप में किया गया है। सौन्दर्य लहरी के सौ श्लोकों में से इकतालीस श्लोकों में तो यंत्रात्मक और मंत्रात्मक रूप का वर्णन है, बाकी श्लोकों में नख शिख का अति ललित वर्णन है। पद्मपुराण में इसके पूजन का फल लिखा है कि - हजारो अश्वमेघ और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ ललिता पूजन के लाभांश के समान भी नहीं है। जो श्री ललिता महात्रिपुर सुन्दरी का पूजन करता है वही वास्तविक दाता, मुनि, याज्ञिक, तपस्वी, तीर्थ सेवी है। इस प्रकार इस श्री विद्या साधना का सर्वाधिक महत्व शास्त्र प्रतिपादित करते हैं।

भूमण्डल पर श्री विद्या का प्रसार-प्रचार करने में भगवान परशुराम मूलभूत माने जाते हैं। कालान्तर में शंकराचार्य ने इस विद्या का पूर्ण प्रचार किया। इसी श्रृखला में करपात्री जी ने वर्तमान में इस विद्या को आगे बढ़ाने में अपना पूर्ण योगदान दिया। 'श्री विद्या रत्नाकर' तथा 'श्री विद्या वरिवस्या' जैसे ग्रन्थों में उन्होंने श्रीविद्या का ही विवेचन किया है। 'श्री विद्या रत्नाकर' में उन्होंने श्री विद्या के शास्त्रीय पक्ष को बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। उत्तर भारत में इस प्रकार का ग्रन्थ हजारों वर्षों से उपलब्ध नहीं है। अस्तु हम सम्पूर्ण देश के 'श्री विद्या के सम्प्रदाव प्रवर्तक आचार्य स्वामी करपात्री कहें तो अतिशयोक्ति न होगी।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

1. स्यार राजा - राधाकान्त, 'शब्दकल्पद्रुम, देव बहादुरेण पृष्ठ - 124

2. तद्विद्धि प्राणि पातेन परिप्रश्नेन सेवया
   उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।

   भगवद् गीता 4/34

3. उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
   क्षुरस्य धारा निशितां दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

   कठोपनिषद 1/3/14

4. शर्मा कृष्ण प्रसाद, करपात्री एक अध्ययन, धर्मसंघ प्रकाशन मेरठ, 1982, पृष्ठ 143

5. वही, पृष्ठ 193

6. महन्त अवैद्यनाथ, सन्मार्ग, करपात्र अभिनन्दन अंक, 1976, पृष्ठ-6

7. शर्मा कृष्ण प्रसाद, करपात्री एक अध्ययन, धर्मसंघ प्रकाशन, मेरठ, 1982, पृष्ठ-117

8. तस्मिनर्हस्तु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः ।
   उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडूराडिव
   ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव।"

   - श्रीमद् भागवत् 4/21/4-19

9. वीक्ष्योद्धसन्तः करतानैर्ययुः - भागवत् 10/12/24

10. शर्मा कृष्ण प्रसाद, अभिनव शंकर करपात्री जी महाराज, धर्मसंघ प्रकाशन स्वामी पाड़ा मेरठ, 1988 पृष्ठ - 364

11. शर्मा कृष्ण प्रसद, करपात्री एक अध्ययन धर्मसंघ प्रकाशन, मेरठ, 1982, पृष्ठ 143

12. वही, पृष्ठ 144

13. शर्मा कृष्ण प्रसाद, अभिनव शंकर श्री करपात्री जी महाराज धर्मसंघ प्रकाशन स्वामी पाड़ा, मेरठ, 1988, पृष्ठ 363

14. वही, 348-349

15. शर्माकृष्ण प्रसाद, करपात्री एक अध्ययन, धर्मसंघ प्रकाशन, मेरठ, 1882, पृष्ठ 130

16. शर्मा कृष्ण प्रसाद, अभिनव शंकर श्री करपात्री जी महाराज, धर्मसंघ प्रकाशन स्वामी पाड़ा मेरठ, 1988, पृष्ठ 349-350

17. शर्मा कृष्ण प्रसद, करपात्री एक अध्ययन, धर्मसंघ प्रकाशन - मेरठ, 1982, पृष्ठ 132

18. वही, पृष्ठ - 133

19. *Friedrich Heiler, How can christion and non cristion religions co-operate, Hibbert Journal, Vol. 52, 1953-1954, Page-109*

20. *Das Bhagwan, The essential unity of all religions, Page-56.*

21. येप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।

- श्रीमद् भगवत् गीता 9/23

22. *S. Radhakrishanan, Fragments of a confession in the Philosophy of sarvapalli Radhakrishanan Edited by P. Schilpp, Page-78.*

23. त्रिपाठी हरिहरनाथ, सन्मार्ग, करपात्र- चिन्तन विशेषांक पृष्ठ 39

स्वामी करपात्री जी द्वारा प्रणीत सहायक ग्रन्थ

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	प्रकाशन	वर्ष
श्री हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री जी महाराज	वेदार्थ पारिजात	श्रीराधा कृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता	1983
" "	वेद स्वरूप विमर्शः	भक्ति सुधा साहित्य परिषद कलकत्ता	1969
" "	वेद प्रामाण्य मीमांसा	धर्मसंघ शिक्षामण्डल दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1961
" "	श्री विद्या रत्नाकर	श्री विद्या साधनापीठम् वाराणसी	1973
" "	भक्ति रसार्णवः	भक्ति सुधा साहित्य परिषद कलकत्ता	1968
" "	विचार पीयूष	धर्मसंघ शिक्षामण्डल, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1975
" "	भक्ति सुधा	राधा कृष्ण धानुका प्रकाशन कलकत्ता	1980
" "	रामायण मीमांसा	श्री काशी विश्वनाथ कर्णघण्टा वाराणसी	1976
" "	पूंजीवाद, समाजवाद और रामराज्य	सन्तशरण वेदान्ती, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1976
" "	राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिन्दू धर्म	भदैनी, वाराणसी	1970

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	प्रकाशन	वर्ष
श्री हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री जी महाराज	मार्क्सवाद और रामराज्य	गीता प्रेस, गोरखपुर	1958
" "	अहमर्थ और परमार्थसार	बड़का राजपुर, आरा	1962
" "	भागवत सुधा	राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, कलकत्ता	1984
" "	श्री राधा सुधा	श्री राधा कृष्ण प्रकाशन संस्थान, वृन्दावन	1984
" "	संघर्ष और शान्ति	श्री सन्तशरण वेदान्ती धर्मसघ दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1949
" "	बदलती दुनियां	श्री वेदान्ती स्वामी धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1988
" "	गीता जयन्ती और भीष्मोत्क्रान्ति	राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान वृन्दान	1970
" "	राहुल की भ्रान्ति	धर्मसंघ शिक्षामण्डल दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1971
" "	संकीर्तन मीमांसा और वर्णाश्रम मर्यादा	धर्मसंघ दुर्गाकुण्ड वाराणसी	1937
" "	गायत्री तत्व एवं श्री भगवती तत्व	श्रीराधा कृष्ण धानुका प्रकाशन, कलकत्ता	1980
" "	वेद का स्वरूप और प्रामाण्य	धर्मसंघ शिक्षामण्डल दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1949

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	प्रकाशन	वर्ष
श्री हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री जी महाराज	वेदान्त रससार	केदारघाट, वाराणसी	1985
" "	कालमीमांसा	धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1978
" "	पिवत भागवतं रसमालयम्	धर्मसंघ प्रकाशन 384, स्वामी पाडा, मेरठ-2	1983
" "	गायः एक समग्र चिंतन	दिल्ली	1946
" "	श्री भगवतत्व	मूलचन्द्र चोपड़ा, सत्ती चबूतरा, वाराणसी	1969
" "	धर्म और राजनीति	दुर्गाकुण्ड वाराणसी	1993
" "	शंकर सिद्धान्तों पर किये गये आक्षेपों का समाधान	रामघाट काशी	1960
" "	गम्भीर विचार की आवश्यकता	अखिल भारतीय रामराज्य परिषद निगम बोधघाट दिल्ली।	1972
" "	'विदेश यात्रा' : शास्त्रीय पक्ष	श्री सन्तशरण वेदान्ती दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1968
" "	श्री विद्या वरिवस्या	अखिल भारतीय धर्मसंघ वाराणसी	1971
" "	धर्गकृयोपयोगि-तिथ्यादिनिर्णयः कुम्भपर्व - निर्णयश्च	सन्तशरण वेदान्ती दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1962
" "	क्या संभोग से समाधि?	सन्त शरण वेदान्ती दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	1972

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	प्रकाशन	वर्ष
श्री हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री जी महाराज	चार्तुवर्ण्य- संस्कृति विमर्शः	गोवर्धन मठ, पुरी उड़ीसा	1963
" "	वाजसनेयी माध्यन्दिनी शुक्ल यजुर्वेद संहिता भाष्य	श्री राधा कृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, वृन्दावन	1970
" "	जाति, राष्ट्र और संस्कृति	वाराणसी	1963
" "	गाय का गौरव	भक्ति सुधा साहित्य परिषद कलकत्ता	1978

स्वामी करपात्री जी पर प्रणीत सहायक ग्रन्थ

1.	उपाध्याय, आचार्य बलदेव	काशी की पाण्डित्य परम्परा	विद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी	1983
2.	शर्मा कृष्ण प्रसाद	अभिनव शंकर स्वामी करपात्री जी	धर्मसंघ प्रकाशन मेरठ	1988
3.	शर्मा कृष्ण प्रसाद	करपात्री : एक अध्ययन	धर्मसंघ प्रकाशन, मेरठ	1982
4.	शर्मा, रघुनाथ	अहमर्थ विवेक समीक्षा	धर्मसंघ शाखा, भोजपुर	1974
5.	पाण्डेय रेवतीरमण	समग्र योग	सुरेशोन्मेष प्रकाशन, वाराणसी	1985
6.	मिश्र कौशल किशोर,	प्रज्ञाः मार्क्स और स्वामी जी	वाराणसी	1985
7.	स्वामी सदानन्द सरस्वती,	वेदान्त प्रश्नोत्तरी	वेदान्ती स्वामी धर्मसंघ वाराणसी	1981
8.	श्रीमती झुनझुनवाला पद्मावती,	भ्रमरगीत	श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारी धर्मसंघ शिक्षा मंडल दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।	1986

अन्य सहायक ग्रन्थ

अन्न भट्ट	तर्क संग्रह	वाराणसी	1961
जैमिनि	मीमांसा दर्शन		
महर्षिमनु	मनुस्मृति	बम्बई निर्णयसागर प्रेस संस्करण बम्बई	1929
भट्ट उलूक	उलूक भट्ट की टीका	बम्बई	1941
कालिदास	रघुवंश महाकाव्य	वाराणसी	1938
आचार्य भर्तृहरि	वाक्य पदीय	वाराणसी	1976
पाण्डेय रामचन्द्र	संस्कृत साहित्येतिहासः	मुजफ्फरपुर	1968
विश्वनाथ पन्चानन	न्याय सिद्धान्त मुक्तावली	वाराणसी	1975
गोस्वामी तुलसीदास	रामचरित मानस	गोरखपुर	1985
भट्टोजी दीक्षित	वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी	वाराणसी	1969
पतंजलि	व्याकरण महाभाष्य पस्पशाहिनक	वाराणसी	1988
शुक्ल सूर्य नारायण	वाक्यपदीय भावी प्रदीप टीका	वाराणसी	1975
अपौरूषेय वाक्य	शुक्ल यजुर्वेद संहिता	वाराणसी	1978
महर्षि पाणिनि	पाणिनि अष्टाध्यायी	वाराणसी	1981
डा० शर्मा गणेशदत्त	ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व	विमल प्रकाशन गाजियाबाद	1977
सायण माधव	सर्वदर्शन संग्रह	भण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना	1951
	अवेस्ता (तारापुर)	कलकत्ता यूनीवर्सिटी, मिशन, प्रेस	1922
भट्टो जी दीक्षित	अमरकोष	निर्णय सागर प्रेस संस्करण	1929
डा० लारेन्स मिल्स (सम्पादक)	अवेस्ता	लिपिजिग	1910

डा0 राधा कृष्णन	ईशोपनिषद	म्योरहेड लाइब्रेरी रस्किन हाउस, लन्दन	1953
सातवलेकर	ऋग्वेद संहिता	स्वाध्याय मंडल, पारडी सूरत	1957
मैक्समूलर	ऋग्वेद सायण भाष्य	लन्दन ओक्सफोर्ड	1892
	वैदिक इनडिसेसस	वैदिक संशोधन तिलक मंदिर, पूना-2	
मैकडोनल एवं कीथ	वैदिक इन्डैक्स (अंजेजी संस्करण)	लन्दन	1912
	वैदिक इन्डैक्स (हिन्दी संस्करण)	चौखाम्बा संस्कृत सीरीज ग्रन्थमाला	1962
डा0 राधा कृष्णन	ऐतरेय उपनिषद	म्योर हेड लाइब्रेरी रस्किन हाउस, लन्दन	1953
डा0 काणे	कात्यायन स्मृति	बम्बई	1933
डा0 राधाकृष्णन	केन उपनिषद कौशीतकि ब्राह्मण उपनिषद	म्योर हेड लाइब्रेरी रस्किन हाउस, लन्दन	1953
	कूर्म पुराण	विवोलिथिका इण्डिका कलकत्ता	1890
लक्ष्मीधर	कृत्यकल्पतरू	बड़ौदा ओरियेन्टल, इन्स्टीच्यूट	1940
डा0 राधा कृष्णन	छान्दोग्य उपनिषद	म्योर हेड लाइब्रेरी, रस्किन हाउस, लन्दन	1953

	तैत्तिरीय ब्राह्मण सायण भाष्य सहित	गवर्नमेंट ओरियेन्टल सीरीज मैसूर	1921
डा0 राधा कृष्णन	तैत्तिरीयोपनिषद	म्योर हेड लाइब्रेरी रस्किन हाउस, लाइब्रेरी, लन्दन	1953
यास्क	निरूक्त	चौखाम्बा विद्याभवन, वाराणसी - 1	1966
मिश्र केशव	न्यायप्रदीप	वाराणसी	1901
पतंजलि	पतंजलि योगसूत्र व्यास भाष्य सहित	भारत साधु समाज पब्लिेशन नई दिल्ली।	1948
	वृहदारण्यक उपनिषद शंकर भाष्य सहित	वाणीविलास संस्कृत पुस्कालय वाराणसी	1944
डा0 राधा कृष्णन	वृहदारण्यक उपानिषद	म्योर हेड लाइब्रेरी रस्किन हाउस लन्दन।	1953
	ब्रह्म पुराण	आनन्दाश्रुम प्रेस, पूना	
आर0 शामा शास्त्री	बोधायन गृहय सूत्र	ओरियेन्टल लाइब्रेरी सीरीज मैसूर	1920
डा0 रघुवीर	भारद्वाज श्रोत सूत्र	लाहौर	1935
	भगवद् गीता शंकर भाष्य सहित	गीता प्रेस, गोरखपुर	1931
डा0 राधा कृष्णन	मुण्डकोपनिषद	म्योर हेड लाइब्रेरी रस्किन, हाउस, लन्दन	1953
व्यासचार्य	महाभारत	निर्णय सागर प्रेस बम्बई	1906,

			1907, 1909, 1911
झा गंगानाथ	मनुस्मृति	कलकत्ता	1920
श्री वेंकटेश्वर	मार्कण्डेय पुराण	बम्बई	
	मत्स्य पुराण	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई	1910
	नृसिंह पुराण	बम्बई	1911
	आदि पुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1951
	सामवेदीय सामविधान ब्राह्मण, सायण भाष्य सहित,	सत्ययंत्र कलकत्ता	1895
	शतपथ ब्राह्मण (मूल)	वैदिक यंत्रालय अजमेर	1929
	यजुर्वेद संहिता	वैदिक यंत्रालय अजमेर	1929
	श्वेताश्वतर उपनिषद	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना	
	याज्ञवल्क्य स्मृति	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	1909
	वायुपुराण	वेंकटरेश्वर प्रेस, बम्बई	1895
श्रीवास्तव सन्त नारायण (अनुवादक)	वेदान्तसार	पीयूष प्रकाशन इलाहाबाद	1968
देव रामचन्द्र	हिन्दी सगुण भक्ति काव्य के दार्शनिक स्त्रोत	लोक भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद	1988
डा0 अवस्थी विश्वम्भर दयाल	वैदिक साहित्य, संस्कृति	सरस्वती प्रकाशन	1983

	और दर्शन	इलाहाबाद।	
डा0 शर्मा गणेश दत्त	ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व	विमल प्रकाशन, गाजियाबाद	1977
लोंगाक्षि भाष्कर	अर्थ संग्रह	पूना	1932
सातवलेकर दामोदर	ईश्वर का साक्षात्कार	औंध जिला - सतारा	1946
भट्ट सोमेश्वर	न्याय सुधा	चौखम्बा बनारस	1909
मिश्र पार्थसारथि	न्याय रत्नमाला	बड़ौदा	1937
मिश्र वाचस्पति	न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका	लाजरस कम्पनी, बनारस	1898
शर्मा श्रीराम	न्याय दर्शन	संस्कृत संस्थान, बरेली	
आचार्य नरेन्द्र देव	बौद्धधर्म दर्शन	पटना -3	1956
मिश्र उमेश	भारतीय दर्शन	लखनऊ	1957
रामानुज	वेदान्तसार	वृन्दावन	1962

Author	Title	Publisher	Year
Chaubey, B.B.,	Treatment of Nature in Rgveda	Vedic Sahitya Sadan, Hoshiyarpur	1970
Das, A.C.	Rgvedic India, 2nd Ed	Calcutta	1927
Das gupta, S.N.	A History of Indian Philosophy	Cambridge University, Press	1963
Ghate, V.S.	Lectures on the Rgveda	Chaukhamba Sanskrit Series	
Keith, A.B.	Religion and Philosophy of the Veda and Upanishad, Vol-2	Harvard Oriental Series	1925
Deussen, Poul	System of Vedanta	Chicago	1912
Macdonell, A.A.	A History of Sanskrit Literature,	Delhi	1962
Macdonell, A.A.	Vedic Mythology	Oxford University Press	1897
Macdonell, A.A.	Vedic Reader for Students,	Oxford University Press	1917
Max Muller	India, What can it Teach us,	Longmans from & Co. London	1899
Max Muller	The Six System of Indian Philosophy	Oxford University press	1910
Narhari, H.G.	Message of the theory of Karma	"	1950

Radha Krishanan	Indian Philosophy	George Allen and Union Ltd. London	
Tilak, B.G.	Arctic Home in the Vedas	Poona	1925
Wintemitz, M.	A History of Indian Literature Vol. - 1	Calcutta	1927
Wallis, H.W.,	Cos mology of the Rgveda.	London	1887
Ragozin, Z.A.	Vedic India	Munshi Ram Manohar Lal Delhi	1961
Parsi Well	The land of the Vede	London	1854
Pusalkar, A.D.	Studies in the Epic and Puranas	Indian Vidhya Bhawan, Bombay	1955
Barth, A.	Religions of India	London	1882
Bloom field, M.M.,	Religions of the Vedas	New York & London	1908
Meij, G.H.	Religion & Society	Great Rusell Street, London	1953
Levi, Albert, William	Humanism and Politics Studeis in the Relationship of Power and values in the Western Tradition		1969

Lichtheim George	From Marx to Hegel	New York	1971
Aldous Huxley	Ends and Means	Bhartiya Vidhya Bhawan, Bombey.	1969
Keith, A.B.,	Sankhya System,	Calcutta	1938
Majumdar, A.K.,	Bhakti Renaissence	Bhartiya Vidhya Bhawan, Bombey.	1963
Moheendra Nath Sirkar	The system of Vedant Thought & Culture	University of Calcutta	1925
Sankara Narayana, P.	What is Advaita ?	Bhartiya Vidhya Bhawan, Bombey.	1970
Srinivasa IYengar, C.R.	The life and Teachings of Sri Ramanujacharya	Madras	1909
Wilson, H.H.	Essays on the Religion of the Hindus Vol. I		1862
Zochner, R.C.	The Bhagavad Gita with a Commentary basede on the Original Sources	OXford	1935

पत्र-पत्रिकायें

आलोचना

कल्याण -

भक्ति अंक

देवता अंक

शक्ति विशेषांक

योग विशेषांक

सिद्धान्त, वर्ष 2, वर्ष 7, अंक 26, वर्ष 2, वर्ष 13 अंक 42, वर्ष 8, अंक 2, अंक 10, वर्ष 12, वर्ष 6, अंक 30, वर्ष 13 आदि।

डा0 हरिहरनाथ त्रिपाठी, सन्मार्ग "करपात्र चिन्तन" विशेषांक, तन्त्र विशेषांक, आमग विशेषांक

राष्ट्रधर्म

सारस्वती सुषमा

भारती, वाराणसी - 5

सिद्धभारती

गाण्डीवम् - स्वामी करपात्र विशेषांक, सम्पादक मण्डल ब्रजवल्लभ द्विवेदी, गोपाल शास्त्री दर्शन केशरी, राधेश्याम धर द्विवेदी जानकी प्रसाद द्विवेदी, जगन्नाथ शास्त्री राजनाथ त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी 7 फरवरी, 1983

प्रज्ञा 'कार्ल मार्क्स स्मृति अंक, अंक 30 (भाग - 2), (भाग -1), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वर्ष 1985

Bhartiya Vidhya, Bhartiya Vidhya Bhawan, Bombay Bulletin of the Deccan College Research Institute, Poona.

Gurukul Patrika (Vedanka - 18)

Vishwa Jyoti (Vedanka) Vedic Sudha Sansthan, Hosiarpur.

Vishveshraranand Indalogical Journal, Vishveraranand Institute of Sanskrit and Indological Studies, Panjab University, Hosiarpur.

कोष एवं ग्रन्थ सूची

अमर कोष

हलायुध कोष

डा0 सूर्यकान्त, वैदिक कोष

शब्द कल्पद्रुम

वैदिक पदानुक्रम कोष (संहिता भाग) विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियापुर।

Ency clopaedia of Religion and Elhics, Ed. James Hastings Edinburgh.

Williamsm Monuir, A Sanskrit - English Dictionary, Oxford, 1899.

Dandekar, R.N., Vedic Bibliography, 1st Vol. Karnatak Publishing House, 1946

Macdonell. A.A. and Keith, A.B. Vedic Index of Names and Subjects, 2 Vols. Motilal Banarasidass, Varanasi, 1958.

Apte, V.S. Sanskrit - English Dictionary, Motilal Banarasidass, Varanasi

Dandekar, R.N. Vedic Bibliography, 2nd Vol. University of Poona, 1961.